A Study Of Social Mobility In Ancient India

[In Hindi]

A Thesis submitted for the D.Phil. Degree

By
Km. BHARATI DIKSHIT

SUPERVISOR
Dr. B. N. S. Yadava

DEPARTMENT OF ANCIENT HISTORY
CULTURE AND ARCHAEOLOGY

UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD
1978

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्राक्कथन

कुछ विद्वानों के अनुसार 'एक हिन्दू के लिये भौतिक जीवन की दृष्टि से सामाजिक गतिशीलता असम्भव तथा अनैतिक थी'[1]। यह विचार अब बहुत हद तक बदल रहा है[2]। इधर हाल में विश्व-सन्दर्भ में तथा भारतीय सन्दर्भ में सामाजिक गतिशीलता के विषय में लोगों की रुचि उत्पन्न हुई। फलस्वरूप सामाजिक गतिशीलता के विषय को ले कर कुछ पुस्तकें तथा लेख प्रकाश में आये। इनमें प्रमुख हैं सोरोकिन द्वारा रचित सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी तथा ए० पी० एम० कास्सन तथा सी० एल० बोम्स द्वारा सम्पादित सोशल मोबिलिटी। उपर्युक्त दोनों पुस्तकें विश्व-सन्दर्भ के व्यापक दायरे को ध्यान में रख कर लिखी गयी हैं।

भारतीय सन्दर्भ में रोमिला थापर का लेख 'सोशल मोबिलिटी विद स्पेशल रिफरेन्स टु इलीट ग्रुप्स', कमल राय की पुस्तक द रूरल अर्बन इकानमी एण्ड सोशल चेन्जेज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया और लेख 'सोशल मोबिलिटी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया' तथा शिवेश भट्टाचार्य का लेख 'सोशल मोबिलिटी इन ऐंश्येण्ट एण्ड अर्ली मिडीवल इण्डिया' विशेष उल्लेखनीय हैं। भारतीय परिप्रेक्ष्य से ही सम्बन्धित जेम्स सिल्वरबर्ग द्वारा सम्पादित सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, ऐन इण्टर डिसिप्लिनरी सिम्पोज़ियम प्रकाशित हुई है; परन्तु इसमें मध्यकाल तथा आधुनिक काल से सम्बन्धित सामग्री का संकलन किया गया है।

---

१ बर्नार्ड बार्बर, सोशल स्ट्रैटीफ़िकेशन, पृ० ३४२।

२ बर्नार्ड बार्बर, 'सोशल मोबिलिटी इन हिन्दू इण्डिया', सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, सम्पादक, जेम्स सिल्वरबर्ग, पृ० १९।

सामाजिक गतिशीलता के विषय में अभी तक जो अध्ययन हुआ है वह सामाजिक गतिशीलता की एक सीमित अवधारणा को लेकर हुआ है । सोरोकिन ने व्यक्ति अथवा समुदाय के, एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में स्थानान्तरण अथवा परिवर्तन को सामाजिक गतिशीलता का नाम दिया[1]। सामाजिक गतिशीलता की यह परिभाषा संकुचित प्रतीत होती है । इस सन्दर्भ में विचार करते हुए एस० एम० मिलर ने ठीक ही लिखा है कि सामाजिक गतिशीलता की यह परिभाषा पूर्ण नहीं है । उनके अनुसार किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक स्तर (Stratum) की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति में आने वाला कोई भी महत्त्वपूर्ण संचलन सामाजिक गतिशीलता है[2]। यहाँ व्यक्ति और समुदाय के अतिरिक्त परिवारों का भी संचलन अभिप्रेत है । व्यापक सन्दर्भ में यही विचार अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में सामाजिक गतिशीलता की उपर्युक्त व्यापक अवधारणा को ध्यान में रख कर प्राचीन भारतीय सन्दर्भ में उपलब्ध सामग्री का संकलन एवं आलोचनात्मक विश्लेषण किया गया है । मेयर के अनुसार इस विषय में अभी तक जो प्रयास हुए हैं उनकी कमी यह रही है कि

----

१ पी० ए० सोरोकिन, सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी, पृ० १३३ ।

२ एस० एम० मिलर, "द कन्सेप्ट एण्ड मेजरमेण्ट ऑव सोशल मोबिलिटी", सोशल मोबिलिटी, सम्पादक ए० पी० एम० कॉक्सन तथा सी० एल० जोन्स, पृ० २१-२२ ।

३ इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑव द सोशल साइन्सेज़-१९६८, वाल्यूम १३-१४, पृ० ४२९ ।

उनमें पहले सामाजिक ढांचे का सम्यक् विश्लेषण नहीं किया गया है,[1] अत: ये प्रयास बहुत अधिक परिपक्व नहीं हो पाये हैं। सामाजिक संरचना के विकास एवं सामाजिक स्तरीकरण को जाने बिना सामाजिक गतिशीलता को जानने का प्रयास अपूर्ण होगा, इसलिये प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में सामाजिक संरचना के विकास एवं सामाजिक स्तरीकरण के रूप को निर्धारित करने का भी प्रयास किया गया है।

इस शोधप्रबन्ध में सामाजिक संरचना के विकास एवं सामाजिक स्तरीकरण के सन्दर्भ में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन ऋग्वैदिक काल से लेकर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक किया गया है। तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी में प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास के एक चरण के अन्त की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है और ऐसी समाजार्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियां मिलने लगती हैं जो एक दूसरे चरण का सूत्रपात करती हैं।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में साहित्यिक, पुरातात्विक तथा नृविज्ञान के साक्ष्यों का यथाशक्ति उपयोग करने की चेष्टा की गयी है। साहित्यिक ग्रन्थों के सन्दर्भ में विद्वानों द्वारा निर्धारित तिथि को मान्यता दी गयी है। जहां कहीं विवाद का प्रश्न उठा है, उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर उस तिथि को ग्रहण किया गया है जो वास्तविकता के अधिक निकट है।

विभागाध्यक्ष प्रो० बी० आर० शर्मा के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूं जिनकी सक्रिय सहायता एवं शुभकामना ने मुझे कठिन समस्याओं के मध्य भी निरन्तर कार्यरत रहने की क्षमता प्रदान की है।

---

१ के० बी० मेयर एण्ड डब्ल्यू० बुकर, 'प्रोग्रेस इन सोशल मोबिलिटी रिसर्च,' सोशल मोबिलिटी, सम्पादक, ए०पी०एम० कोक्सन तथा सी० एल० जोन्स, पृ० १७६।

इस शोधप्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे अपने निर्देशक डा० बी० एन० एस० यादव से जो सहायता मिली है उसके लिये मैं उनकी ऋणी रहूंगी ।

प्रो० के० एस० नैगी ने समय-समय पर मुझे अपना बहुमूल्य परामर्श दिया है, एतदर्थ मैं उनकी अनुगृहीत हूं ।

विभाग के सभी गुरुजनों की आत्मीयता और सहज स्नेह को प्राप्त करने का गौरव मुझे मिला है । श्री रामकृष्ण द्विवेदी एवं डा० ओम प्रकाश की मैं विशेष रूप से आभारी हूं । डा० उदयनारायण राय, डा० सिद्धेश्वरी नारायण राय, श्री विद्याधर मिश्र, डा० शिवेश भट्टाचार्य, डा० राधाकान्त वर्मा, डा० उदय प्रकाश अरोड़ा, श्री आर० पी० त्रिपाठी एवं श्री ज्ञानेन्द्र कुमार राय के सहयोग के लिए मैं हृदय से आभार प्रकट करती हूं ।

डा० बी० डी० पाण्डेय, डा० आर० एस० शर्मा, डा० रोमिला थापर, डा० लल्लन जी गोपाल, प्रो० के० डी० बाजपेयी, डा० बी० एन० पुरी, श्री एन० सुब्रह्मण्यम् तथा डा० विवेकानन्द झा के बहुमूल्य सुझावों के प्रति मैं हृदय से आभारी हूं ।

डा० महावीर प्रसाद लोढ़ा ने वैदिक काल के साक्ष्यों के संग्रह में मुझे विशेष सहायता प्रदान की है, एतदर्थ मैं उनकी विशेष आभारी हूं ।

विदेशों से पुस्तकों को उपलब्ध कराने के लिए मैं माननीय न्यायमूर्ति देवकीनन्दन अग्रवाल, श्रीमती प्रेमलता अग्रवाल एवं श्रीमती मीनू अग्रवाल की ऋणी हूं ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में वरिष्ठ रीडर मेरे पिता श्री लक्ष्मीकान्त दीक्षित की सतत प्रेरणा से मुझे निरन्तर मनोबल मिला है । कैप्टेन डी० डी० खन्ना (अध्यक्ष, डिफेन्स स्टडीज़, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) की स्नेहमयी प्रेरणा मुझे सदैव मिलती रही है, उसके लिये मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करती हूं ।

कविवर श्री सुमित्रानन्दन पन्त की प्रेरणा से मुझे कठिन परिस्थितियों में भी शोधकार्य में संलग्न रहने का साहस मिला है। उनकी स्मृति आज भी मुझे मनोबल प्रदान कर रही है। प्रो० ए० डी० पन्त से प्राप्त सहायता के लिए मैं उनकी हृदय से आभारी हूं।

डा० आशा गुप्त, डा० मालती सिंह, एवं कुमारी रंजना कौशक की सहायता के लिये मैं उन्हें धन्यवाद देती हूं।

शोध-प्रबन्ध की सामग्री संकलित करने में मुझे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद म्यूज़ियम, राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी, राजकीय केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद तथा लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से जो सहायता मिली है उसके लिये मैं उनके अधिकारियों के प्रति आभारी हूं।

(भारती दीक्षित)

फरवरी , १६७८

अध्याय - १

सामाजिक वर्गों के उदय की प्रक्रिया तथा सामाजिक निरन्तरता का अभाव-पूर्व वैदिक काल

अध्याय--१

सामाजिक वर्गों के उदय की प्रक्रिया तथा सामाजिक निश्चलता का अभाव-पूर्व वैदिककाल

आर्य

ऋग्वेद संहिता ही एक ऐसा उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ है, जिसके अनुशीलन से हमें पूर्व-वैदिक काल के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में हमें प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति के प्रारम्भिक स्वरूप की झलक मिलती है। यद्यपि इसके अधिकतर सूक्त देवस्तुतियों के रूप में हैं, तथापि इसके अभ्यन्तर में तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति से सम्बद्ध अनेक तथ्य भरे पड़े हैं। अधिकांश विद्वान् ऋग्वेदसंहिता के प्राचीनतम अंशों का रचना-काल २०००ई०पू० के आसपास मानते हैं[1]। विण्टरनित्स द्वारा निर्धारित तिथि तथ्य से अधिक दूर नहीं प्रतीत होती, क्योंकि हाल ही में उत्खनित स्थल भगवानपुर (कुरुक्षेत्र जिला) तथा दधेरी (लुधियाना)[3] में आर्यों से सम्बन्धित मिश्रित धूसर मृद्भाण्डों की तिथि लगभग ई०पू०

---

१ विण्टरनित्स : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, वाल्यूम १, पार्ट १, पृ० २७ ऋग्वेद के २ से ७ मण्डल प्राचीनतम माने गये हैं। १, ८ तथा ९ मण्डल बाद के हैं। १० वां मण्डल सबसे बाद में जोड़ा गया।

२ जगतपति जोशी की रिपोर्ट, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ अगस्त, १९७६, पृ०२८। प्रस्तुत साक्ष्य की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए मैं प्रो० बी० आर० शर्मा तथा श्री विद्याधर मिश्र की आभारी हूं।

३ द इण्डियन नार्दर्न इण्डिया पत्रिका, फरवरी २७, १९७७, पृ० ६।

द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य निर्धारित की गयी है । इन स्थलों पर हड़प्पा--
संस्कृति के अवशेष तथा चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के अवशेष साथ-साथ प्राप्त होते हैं । इस नवीन उपलब्धि ने बॉनगार्ड लेविन[1] द्वारा कुछ समय पहले उठायी गयी काल के अन्तराल की समस्या का कुछ समाधान प्रस्तुत कर दिया है । इसके पहले दोनों संस्कृतियों के अवशेष साथ-साथ प्राप्त नहीं हुए थे तथा दोनों संस्कृतियों की तिथि में भी अपर्याप्त अन्तर था । बहुत सम्भव है कि अन्य स्थलों पर भी चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के ऐसे अवशेष प्राप्त हों जिनकी तिथि कुछ और पहले निर्धारित की जा सके ।

आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में ऋक्संहिता में संकलित सूक्तों के प्रणेता आर्य ऋषि थे । आर्यों के मूलनिवासस्थान का प्रश्न अभी तक संदिग्ध और विवादास्पद बना हुआ है । विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर इनके मूल-निवासस्थान के विषय में अपने मत व्यक्त किये हैं[2]। उनके मूलस्थान के निर्धारण

---

१ जी०एम०बॉनगार्ड लेविन, स्टडीज़ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया एण्ड सेण्ट्रल एशिया, पृ० २९-४७ ।

२ महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा के अनुसार भारत का ब्रह्मर्षि देश आर्यों का आदि देश था ; डी० आर० भण्डारकर, कारमाइकेल लेक्चर्स, पृ० १-२ । डी० एस० त्रिवेद ने मुलतान में स्थित देविका प्रदेश को आर्यों का आदिदेश बतलाया है ; द्रष्टव्य, आर० सी० मजुमदार द्वारा सम्पादित, द वैदिक एज, पृ० २१५-२१६ ; तिलक ने अपनी पुस्तक आर्कटिक होम इन द वेदाज में आर्यों का आदि निवासस्थान ध्रुव प्रदेश में स्थित बताया, द्रष्टव्य, द वैदिक एज पृ० २१४ । विभिन्न विद्वानों यथा मेहरिंग ने पश्चिमी यूरोप को, गर्गी तथा ब्रोरोस्की ने क्रमशः मध्य एशिया तथा उत्तरी अफ्रीका को, बेन्फी ने

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)....

के लिये मुख्यत: दो आधार हैं, पहला भाषा-वैज्ञानिक और दूसरा पुरातत्वीय। भाषा-वैज्ञानिकों ने शब्दों की समान व्युत्पत्ति तथा उनमें विकास ध्वन्यात्मक समानता तथा इससे भी अधिक व्याकरणात्मक समानता के आधार पर ऐसे साक्ष्य प्रस्तुत करने की चेष्टा की है जिससे इनके बोलने वाले जनों की जीवन-पद्धति तथा उनके भौगोलिक परिवेश पर प्रकाश पड़ता है। इन प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने मध्यवर्ती यूरोप अथवा दक्षिणी रूस की तृणस्थली को आर्यों का आदि-देश स्वीकार किया है।[1] दक्षिणी रूस की तृणस्थली को आर्यों का आदि-देश मानने वाले विद्वान् यह मानते हैं कि वनस्पति और पशुजगत से सम्बन्धित समान शब्दावली केवल आर्य-परिवार की यूरोपीय भाषाओं में ही मिलती है। इन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग उस समय प्रारम्भ हुआ होगा जब आर्य लोग अपने दक्षिणी रूसी स्थान से पहली बार पश्चिम की ओर बढ़े होंगे, और जब उनकी भाषायें ध्वन्यात्मक और व्युत्पत्तिपरक दोनों ही दृष्टियों से उनकी मूल भाषा से बहुत अधिक नहीं बदली थी। इस भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्य से ऐसा ध्वनित होता है कि आर्य-जन कृषि की अपेक्षा पशुपालन पर अधिक बल देते थे क्योंकि उनकी शब्दावली में इससे सम्बन्धित बहुसंख्यक शब्द हैं। पे० एल० मायर तथा हेराल्ड पीक ने पहली बार भाषा-वैज्ञानिक आधार पर दक्षिणी रूस की तृणस्थली वाले प्रदेश को आर्यों के आदि-देश के रूप में प्रतिपादित किया,[2] जिसे

दक्षिणी रूस को श्रेडर तथा हर्ट ने उत्तरी जर्मनी को, पेन्का ने स्कैण्डिनेविया को, गाइल्स ने हंगरी को, कूनो ने उत्तरी यूरोप तथा गाडगार ने मध्य तथा पश्चिमी जर्मनी को आर्यों का आदि देश माना है ; द्रष्टव्य, एन० के० दत्त, <u>ए[र]यनाइजेशन आव इण्डिया</u>, पृ० १७-१८।

1 प्राग्वैदेशाइन, डेर एरस्टे इण्डोजरमानिशे, वान्डेरुंग, वीन, १९३६, <u>द वैदिक एज</u>, पृ० २१५।

2 उद्धृत, स्टुअर्ट पिगट, <u>प्रि-हिस्टारिक इण्डिया</u>, पृ० २५८।

बाद में पुरातत्वीय साक्ष्यों के आधार पर पुष्ट करने का सफल प्रयास गोर्डन चाइल्ड ने किया ।

गोर्डन चाइल्ड[1] ने यूरोप की विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के भौगोलिक विस्तरण का अध्ययन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि यह विस्तरण प्राय: उन्हीं क्षेत्रों में है, जहां इण्डो-यूरोपीय परिवार की भाषायें फैली हैं । ये सांस्कृतिक परम्परायें तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के उत्तरार्ध में रूसी तृणस्थली और उत्तरी-यूरोपीय मैदानों से अल्ताई पर्वत श्रेणियों तक फैली हुई दिखायी पड़ती हैं । इनमें से कुछ सांस्कृतिक परम्परायें 'बैटिल एक्स', 'कार्डेड वेयर', पृथक् शवाधान (~~Separate~~ grave), टुमुलस (Tumulus) अथवा कुरगन संस्कृति के नाम से जानी जाती हैं ।[2] इस प्रकार भाषा-वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादित दक्षिणी रूस वाले मत का समर्थन गोर्डन चाइल्ड ने किया तथा 'बैटिल-एक्स कल्चर' के देशान्तरण की दिशा में अपना नया मत प्रतिपादित किया। गोर्डन चाइल्ड के इस मत को सम्प्रति पिगट[3] तथा गिम्बुटस[4] आदि विद्वानों ने स्वीकार

---

1 गोर्डन चाइल्ड, द आर्यन्स, <u>ए स्टडी आव इण्डोयोरोपियन ओरिजिन्स</u>, पृ० १६६ और आगे ।

2 वाई एच० गुडेनफ़, 'द इवोल्यूशन आव पैस्टोरलिज़्म एण्ड इण्डो-यूरोपियन ओरिजिन्स', इण्डो-यूरोपियन एण्ड इण्डो-यूरोपियन्स, सम्पादक जार्ज कारदोना तथा अन्य विद्वान्, पृ० २५५ ।

3 स्टुअर्ट पिगट, <u>प्रि-हिस्टारिक इण्डिया</u>, पृ० २४८ ।

4 मैरिजा गिम्बुटस, 'प्रोटो-इण्डो-यूरोपियन कल्चर : द कुरगन कल्चर ड्यूरिंग द फिफ्थ, फोर्थ एण्ड थर्ड मिलेनिया बी० सी०', <u>इण्डो-यूरोपियन एण्ड इण्डो-यूरोपियन्स</u>, सम्पादक जार्ज कारदोना तथा अन्य विद्वान्, पृ० १५६ ; इसी पुस्तक में प्रकाशित, वाई एच० गुडेनफ़ का लेख भी देखिये, 'द <u>इवोल्यूशन आव पैस्टोरलिज़्म एण्ड इण्डो-यूरोपियन ओरिजिन्स</u>', पृ० २५५ ।

किया है । गॉर्डन चाइल्ड ने 'कुरगन कल्चर' का उद्गम यूक्रेन को माना, जब कि गिम्बुटस ने इसे नवीनतम अनुसन्धानों के आधार पर वोल्गा की निचली घाटी और उसके पूर्व में निर्धारित किया है । जहां भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार आर्यों का मूल-स्थान विस्चुला, ओडर तथा एल्बी के प्रदेशों में प्रतीत होता है, वहीं पुरातत्वविदों के अनुसार यह क्षेत्र वोल्गा की निचली घाटी वाले तृणस्थली और कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश में स्थित माना गया है ।

ऋग्वेद-संहिता में आर्यों के भारत-प्रवेश के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता है । इस ग्रन्थ में अफगानिस्तान की कतिपय नदियों के नाम आये हैं । इनमें से कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती[1] (गोमल) उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त सिन्धु और उसकी पांच सहायक नदियां यथा वितस्ता (झेलम), शुतुद्री (सतलज), असिक्नी (चेनाब), परुष्णी (रावी) एवं विपाश (व्यास) के भी नाम मिलते हैं[2]। दृषद्वती का उल्लेख सरस्वती के साथ हुआ है[3]। सरस्वती का उल्लेख अनेक सूक्तों में हुआ है और इसके तट पर किये गये यज्ञों के अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं[4]। इन भौगोलिक

---

१ ऋ० १०.७५-६, ग्रिफिथ, द हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग २, पृ० १५६, ४६० ।

२ ऋ० १०.७५.५ ; ग्रिफिथ, वही, पृ० ४६० ।

३ ऋ० ३.२३.४ ; बु० विमल चरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल ; अनुवादक, रामकृष्ण द्विवेदी, पृ० ४१ ।

४ ऋ० १.३, १०-१२ ; १३.६ ; ८६.३ ; १४२.६ ; २.१.११, ३.८ आदि ।

सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि इन सभी नदियों के कांठों में आर्यों के सन्निवेश थे और वहीं उन्होंने अपने सूक्तों की रचना की थी । ऋग्वेद-संहिता में गंगा और यमुना का उल्लेख बहुत कम हुआ है[1]। इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि आर्यों के जन गंगा-यमुना की उपत्यकाओं की ओर बढ़ चुके थे परन्तु उस भूखण्ड के विषय में उनको विशेष ज्ञान न हो पाया था । हिमालय का उल्लेख ऋग्वेद-संहिता में प्राप्त होता है[2] परन्तु उसमें विन्ध्याचल तथा नर्मदा नदी के उल्लेखों का सर्वथा अभाव है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का प्रसार दक्षिण में अभी नहीं हुआ था ।

आर्य-जन

ऋग्वेद-संहिता में उपलब्ध सामाजिक जीवन विषयक तथ्यों से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज प्रारम्भ में वर्गों में विभक्त था[3]। मनुष्यों के विविध कबीले स्थूल रूप से आर्य तथा आर्येतर- इन दो प्रधान वर्गों के अन्तर्गत परिगणित थे[4]। आर्य तथा आर्येतर वर्गों के मध्य विभाजन का मुख्य आधार प्रजातीय था[5]।

---

१ गंगा का उल्लेख केवल दो बार (गङ्गे, ऋ० १०.७५.५ तथा गाङ्ग्यः ऋ० ६.४५.३१) और यमुना का केवल तीन स्थलों पर (यमुना, ऋ० ७.१८.१९, यमुने, ऋ०१०.७५.५ तथा यमुनायाम्, ऋ० ५.५२.१७) हुआ है ।

२ हिमवन्त का उल्लेख केवल एक बार १०,१२१,४ में हुआ है ।

३ यू०एन० घोषाल, ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, पार्ट १, पृ० २।

४ वही

५ ई०ए०एच० ब्लन्ट, द कास्ट सिस्टम आव नार्दर्न इण्डिया, पृ० १३ ; पी०वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० २७ ।

ऋग्वैदिक आर्य अनेक छोटे-छोटे कबीलों अथवा जनों में विभक्त थे, परन्तु उनमें से पांच अधिक प्रसिद्ध हुए : अनु, द्रुह्यु, यदु, पुरु तथा तुर्वश । अधिकांश स्थलों पर इन पांच जनों का नाम एक साथ आया है[1]। इनमें पुरु जन सबसे अधिक शक्तिशाली थे[2]। आर्येतर जनों पर पुरुओं की विजय के कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं[3]। ऋग्वेद-संहिता में इन्हें सरस्वती नदी पर स्थित बतलाया गया ह है[4]। त्सिमर का विचार है कि इस पंक्ति में सिन्धु का उल्लेख है परन्तु लुडविग तथा हिलेब्रान्त के अनुसार यह कुरुक्षेत्र की प्राची सरस्वती है[5]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय पुरुओं की कई शाखायें थीं जिनमें भरत[6], तृत्सु

---

१ ऋ० १.१०८.८ आदि ; वैदिक इंडेक्स (हिन्दी), भाग १, पृ० १३ ।

२ कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० ७४ ।

३ ऋ० १.५९.६ ; १.१३१.४ ; १.१७४.२ ; ४.२१.१० ; ४.३८.१ ; ६.२०.१०; ७.५.३ ; ७.१९.३ ।

४ ऋ० ७.९६.२ ; एन० के० दत्त, द आर्यनाइजेशन आव इण्डिया, पृ०६३ ।

५ वैदिक इंडेक्स (अंग्रेज़ी), भाग २, पृ० १२ ।

६ विजेसेकेरा (Wijesekera) ने अपने शोध-निबन्ध `ऋग्वैदिक भरत : ए क्वाविक्ड फ्राम आर्यन प्रीहिस्ट्री` (युनिवर्सिटी आव सिलोन रिव्यू, वाल्यूम ७, पृ० १५९-१६९) ऋग्वेद संहिता में भृ-धातु के प्रयोगों पर विस्तारपूर्वक विचार कर यास्क के इस मत का समर्थन किया है कि यह धातु संग्राम के अर्थ में प्रयुक्त हुई है (`भर इति संग्राम नाम` निरुक्त ४.२४) ; अतः इससे निष्पन्न `भरत` का अर्थ `योद्धा` है ।

तथा कुत्सिक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ऋक्संहिता में भरत जन के क्रिया-कलापों का संकेत परूष्णी के तट से लेकर सरस्वती तथा यमुना के मध्यवर्ती क्षेत्र तक मिलता है। यह जन पैजवन सुदास के नेतृत्व में पंचजनों में सबसे शक्तिशाली जन के रूप में उभरा। ऋग्वेद-संहिता के एक सूक्त में भरत जन विपाश् (व्यास) तथा शुतुद्री (सतलज) के संगम को पार कर मध्यदेश की ओर अग्रसर होता हुआ दिखायी देता है[1]। सुदास के नेतृत्व में इस जन ने 'दाशराज्ञ' युद्ध में विजय प्राप्त की थी[2]।

यदु[3], तुर्वश[4], अनु[5] तथा द्रुह्यु[6] के उल्लेख तथा सुदास के विरुद्ध

---

१ ऋ० ३.३३।

२ दाशराज्ञ युद्ध का विस्तृत वर्णन मुख्यत: ऋ० ७.१८, ७.३३ तथा ७.८३ में हुआ है। यों इस घटना का संकेत ऋक्संहिता के प्राय: प्रत्येक मण्डल में मिलता है।

३ ऋ० १.३६.१८ ; १.५४.६ ; १.१७४.९ ; ४.३०.१७ ; ५.३१.८ ; ६.४५.१ ; ७.१८.६ तथा ९ ; तथा ८.४.७ ; ९.६१.२ ; १०.४९.८ ; हापकिन्स, जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, १५, २५८ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० १८५।

४ ऋ० १, १७४.९ ; ४.३०.१७ ; ५.३१.३ ; ६.२०.१२।

५ ऋ० १.१०८.८ ; ७.१८.१४ ; ८.१०.५।

६ ऋ० १.१०८.८ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३८५ (हिन्दी) ; सुदास के विरुद्ध द्रुह्यु जन की पराजय का उल्लेख ऋ० ८.१८ में प्राप्त होता है।

इनकी पराजय के विवरण यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। अनु जन का निवास-स्थान परुष्णी नदी का तटवर्ती क्षेत्र बतलाया गया है[1]। परुष्णी को रावी से समीकृत किया गया है[2]। द्रुह्यु नामक एक अन्य जन का उल्लेख भी प्राप्त होता है जो दाशराज्ञ युद्ध में सुदास के पक्ष में सम्मिलित हुआ था[3]। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-छोटे साधारण जन भी थे, जिनमें क्रिवि तथा सृंजयों[4] का नाम विशेष उल्लेखनीय है। क्रिवि जन को सिन्धु तथा असिक्नी के पास रहते हुये बतलाया गया है[5]।

सृंजयों द्वारा पराजित वृचीवन्तों[6] नामक एक जन[7] का उल्लेख भी मिलता है जो सम्भवतः कोई साधारण जन रहा होगा। नहुष नामक जन

---

१ ऋ० ८.७४.१५ ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, भाग १, पृ० ७५ ।

२ विमल चरण लाहा, प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, अनुवादक, रामकृष्ण द्विवेदी, पृ० १६६ ।

३ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३२० ।

४ ऋ० ६.२७.७ ; एन० के० दत्त, द आर्यनाइज़ेशन आव इण्डिया, पृ० ६४ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ४५६ ।

५ ऋ० ८.२०.४ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ४३८ ।

६ ऋ० ८.२७.५ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ३१६ ।

७ ऋ० ८.६.२४ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ४३८ ; विश्वेश्वरनाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ५ ।

को अश्व-युक्त बतलाया गया है । नहुष का उल्लेख व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में भी हुआ है, जिसके आधार पर अनुमान किया गया है कि नहुष यहां के राजा का नाम रहा होगा[1] ।

जनों का प्रधान केवल नेता नहीं होता था, बल्कि राजा कहलाता था । राजा अपने जन के नाम से जाने जाते थे । वास्तव में राजत्व की परम्परा का उदय इण्डो-यूरोपियन काल में ही होने लगा था[2] ।

आर्येतर जन एवं समुदाय

ऋग्वेद में जहां एक ओर आर्य जनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, वहां दूसरी ओर कुछ आर्येतर जनों के भी सन्दर्भ उपलब्ध हैं । इनमें दास, दस्यु तथा पणि विशेष शक्तिशाली थे । ऋग्वेद-संहिता में दास तथा दस्यु दोनों ही आर्यों के शत्रुओं के रूप में वर्णित हैं[3] । कहीं-कहीं दास तथा दस्यु का प्रयोग एक ही अर्थ में मिलता है । इस प्रयोग का कारण सम्भवतः उनका आर्येतर जनों के समुदाय से सम्बद्ध होना है । अधिक सम्भावना इसी बात की है कि ये दोनों जन एक दूसरे से कुछ भिन्न अवश्य थे[4] । एक ही पंक्ति में दास तथा दस्यु का

---

१ ऋ० ७.१८.११ ; वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३२७ ।

२ वर्नर विन्टर, 'सम वाइड स्प्रेड इण्डो-यूरोपियन टाइटिल्स', इण्डो-यूरोपियन एण्ड इण्डो-यूरोपियन्स, सं० जार्ज कारडोना, हेनरी एम० होएनिग्सवाल्ड तथा अल्फ्रेड सेन्न, पृ० ५० तथा आगे।

३ द्रष्टव्य, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ३५६ ।

४ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ६ तथा १५ ।

अलग-अलग प्रयोग[1] भी इस तथ्य की पुष्टि करता है । दास तथा दस्युओं को पराजित करने, भगाने तथा मारने के लिये ऋक्संहिता में स्थान-स्थान पर विभिन्न देवताओं की स्तुति तथा प्रशंसा की गयी है[2]। दास तथा दस्युओं के लिये प्राय: अब्रह्म (ब्रह्म को न मानने वाले), अव्रत (व्रतहीन), अकर्मा (कर्महीन), अयज्वन (यज्ञहीन), अक्रतु (यज्ञहीन), अदेवयु (अदेव कामी), मायावी (छली कपटी), अनास (चपटी नाक वाले तथा मृध्रवाच् (अस्पष्टवाक्) का प्रयोग किया गया है[3]।

आर्यों के प्रमुख विरोधियों में दास तथा दस्यु के अतिरिक्त 'पणि'[4] नामक आर्येतर लोगों का विवरण भी प्राप्त होता है[5]। पणियों के

---

१ ऋ० ४.२८.४ ; ग्रिफिथ, द हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग १,पृ० ४३० ।

२ ऋ० १.३२.११ ; १.३३.४ तथा ५ ; १.५१.५ ; १.५३.४ ; १.१०३.३,५; १.१०४.२ ; १.१५८.५ ; १.१७४.७ ; २.११.४ ; २.१२.४ ; २.१३.२ तथा ९ ;४.१८.९ ;४.३०.१४,१५; ४.३०.२१ ; ४.२८.४ ; ५.२९.१० ; ७.१९.४ ; १०.४९.३ आदि ।

३ ऋ० १.३३.४ ;१.३३.९ ; १.५१.८ ; १.११७.३ ; १.१७५.३ ; २.१२.१० ; २.१५.१० ; ६.१४.३ ; ५.२९.१० ; ७.६.३ ; ८.७०.११ ; ९.४१.२ ; १०.२२.८ आदि ।

४ सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में 'पणि' शब्द को 'पण' से निकला हुआ बताया गया है, जिसका अर्थ होता है 'विनिमय' । 'पण' में 'इन्' प्रत्यय लगाने से 'पणि' शब्द व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ व्यापारी अथवा सौदागर बतलाया गया है । उद्धृत, आर०सी० मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १५ ।

५ द्रष्टव्य, आर०एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १७ ; बी०श्रीवास्तव ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० १७-२० ।

विषय में व्यक्त की गयी एक धारणा के अनुसार 'पणि' सेमेटिक व्यापारी थे किन्तु प्रमाणाभाव के कारण यह सम्भावना मान्यता प्राप्त नहीं कर सकी[1]। साधारणत: यह स्वीकार किया गया है कि वे सिन्धु-उपत्यका की वाणिज्य-प्रधान सभ्यता के निर्माता थे[2]। ऋग्वेद-संहिता की अधिकांश ऋचाओं में पणियों के प्रति अनादर का भाव व्यक्त किया गया है[3]। ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले साक्ष्यों के अनुसार आर्यों ने पणियों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त किया[4]। कुछ पणि मार डाले गये, कुछ बन्दी बना लिये गये। उनके देवता 'बल' के 'सानु' (उच्च निवास-स्थान) का विध्वंस कर दिया गया[5]। इस संघर्ष के कारण सम्भवत: उन्हें अपना मूल-सन्निवेश छोड़ना पड़ा होगा[6]। पणियों का एक नेता

---

१ उद्धृत ; ए० एल० बाशम, द वन्डर दैट वाज़ इण्डिया, पृ० ३२ ।

२ आर० के० मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनु० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ६० ।

३- ऋ० १.८३.४ ; १.८४.२ ; ३.५८.२ ; ५.३४.७, ६१.८ ; ६.१३.३, २०.४ ; ८.६५.११, ६.१८.१५ ; द्रष्टव्य, डी० डी० कोसम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आव इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ८६-८७ ।

४ ऋ० १.३३.३ ; ८३.२, १५१.६ ; १८०.७ ; ४.२८.७ ; ५.३४.५-७ ; ६.२०.४ ; ६.३३.२ ; ६.४४.२२ आदि ।

५ ऋ० ६.३९.२ ।

६ ऋ० ६.४५.३१ ।

बृबु अपनी उदारता तथा दया के कारण विशेष प्रशंसित था, जब कि ये सद्‌गुण पणियों के उस वर्ग में नहीं थे जिससे वह सम्बन्धित था[1]।

उपर्युक्त बड़े वर्गों के अतिरिक्त कुछ छोटे-छोटे आर्येतर कबीले भी थे, जो सम्भवतः बहुत अधिक शक्तिशाली नहीं थे। इनमें शिम्यु[2], कीकट[3], अज[4], यक्षु[5] तथा शिग्रु[6] का नाम मिलता है। ये दाशराज्ञ युद्ध में सुदास द्वारा पराजित किये गये। आर्येतर वर्ग के कुछ प्रधान नेता यथा इलीबिश, धुनि, चुमुरि, पिप्रु, वृत्र, वर्चिन तथा शम्बर विशेष प्रसिद्ध हुए[7]।

---

१ डी० डी० कोसम्बी, द कल्चर ऐण्ड सिविलाइज़ेशन आफ इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, पृ० ८४ ।

२ ऋ० ७.१८.५ ; द्रष्टव्य, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग १, पृ० ७६ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० १८२ ।

३ यास्क के अनुसार कीकट अनार्यों का जनपद था तथा बाद में कीकट मगध के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगा (निरुक्त ६.३२)। त्सिमर का मत है कि कीकट स्पष्ट रूप से अनार्य थे तथा दक्षिण बिहार में उस स्थान पर निवास करते थे जिसे बाद में मगध नाम से जाना जाने लगा। द्रष्टव्य, वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १५९ ।

४ ऋ० ७.१८.१९ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १५९ ।

५ वैदिक माइथोलोजी, पृ० १५३ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० ३७८ ।

६ ऋ० ७.१८.६ तथा १९ ; द्रष्टव्य, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ७६ ; वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० १८२ ।

७ ऋ० २.२४.६ ।

आर्य- आर्येतर संघर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भ में आर्य तथा आर्येतर वर्ग के मध्य संघर्ष की स्थिति चल रही थी। विशेषरूप से आर्यों का संघर्ष दास, दस्यु तथा पणियों के साथ हुआ । ऋक्संहिता के साक्ष्य आर्यों की विजय की ओर संकेत करते हैं[1]। पुरातात्त्विक साक्ष्यों से भी यही विदित होता है कि प्रधान संघर्ष आर्यों तथा सैन्धव संस्कृति के लोगों के मध्य हुआ, जिसके परिणामस्वरूप सैन्धव संस्कृति विनष्ट हो गयी[2]।

आर्यों में पारस्परिक संघर्ष

ऊपर कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल के प्रारम्भिक चरण में आर्य-आर्येतर संघर्ष के विवरण प्राप्त होते हैं । परन्तु, जैसा कि ऋग्वेद के ही साक्ष्य से ज्ञात होता है, कालान्तर में आर्यों के मध्य भी प्रभुता-प्राप्ति के लिये पारस्परिक संघर्ष होने लगे । कुछ ऐसी ऋचायें भी प्राप्त होती हैं जिनमें दास शत्रुओं के नाश के साथ-साथ आर्य-शत्रुओं के नाश की प्रार्थना भी

---

1 ऋ० १.१०३.३ ; १.११७.२१, २.२४.६ इत्यादि ।

2 व्हीलर, इण्डस सिविलिज़ेशन, पृ० १३१-१३२ । बोंगार्ड लेविन ने सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण आर्य-आक्रमण को न मान कर आन्तरिक संकट (नगरों का अपकर्ष, व्यापार का अपकर्ष आदि) को माना है ; द्रष्टव्य, स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया, पृ० ३० ।

की गयी है[1]। एक स्थल में ऋषि विश्वमना वैयश्व सप्त-सिन्धव प्रदेश में विध्वंसकारी विपत्ति तथा आर्य-शत्रुओं के सम्भावित भय से संत्रस्त दिखायी पड़ता है[2]। अन्यत्र इन्द्र की प्रशंसा करते हुए कुछ इस प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है — 'हे इन्द्र। यदि तुम हमारे साथ हो तो उन आचारहीनों (अव्रत तथा अकर्मा) को परास्त करना सरल है, चाहे वे आर्य हों अथवा दास[3]। इसी प्रकार अग्नि तथा इन्द्र द्वारा दास तथा आर्यों की घृणा का वर्णन[4] एवं विजयी मन्यु देव के साथ मिल कर आर्यों तथा दासों पर विजय की सम्भावना भी प्रकट की गयी है[5]। दास तथा आर्य शत्रुओं के अस्त्रों को दूर करने की प्रार्थना का उल्लेख भी स्वयं आर्यों के मध्य होने वाले पारस्परिक संघर्ष का आभास देता है[6]।

स्वयं आर्यों के मध्य पारस्परिक संघर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साक्ष्य दाशराज्ञ-युद्ध है[7]। इसका उल्लेख, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऋग्वेद-

---

१ ऋ० ६.३३.३ ; ६.६०.६ ; ७.८३.१; १०.३८.३ ; १०.६९.६ ; द्रष्टव्य, आर०एस० शर्मा, *शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया*, पृ० १४ ; आर० पी० चन्दा, *द इण्डो-आर्यन रेसेज़*, पृ० ५; *वैदिक इण्डेक्स*, भाग १, पृ० ६५ ।

२ ऋ० ८.२४.२७ ; ग्रिफिथ, *हिम्स आव द ऋग्वेद*, भाग २, पृ० १५९ ।

३ ऋ० ६.४७.१६ ; ८.५१.९ ।

४ ऋ० ६.६०.६ ।

५ ऋ० १०.८३.१ ।

६ ऋ० १०.१०२.१ तथा ३ ।

७ आर० एस० शर्मा, *शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया*, पृ० १५ ; अविनाश चन्द्र दास, *द ऋग्वैदिक कल्चर*, पृ० ३५३-३५५ ।

संहिता के सातवें मण्डल में विशेषत: हुआ है । इस युद्ध में भरतों के राजा सुदास के विरुद्ध आर्य तथा आर्येतर कबीले अपनी-अपनी सेनाओं के साथ पारस्परिक सहयोग की भावना लेकर सम्मिलित हुए[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक युग के समस्त आर्य तथा आर्येतर नरेश इस युद्ध में सम्मिलित हुए, जिनमें अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वश तथा पुरु जन आर्यों के थे । आलिन, पक्थ, भलानस, शिव तथा विषाणिन्[2] के अतिरिक्त अज, शिग्रु तथा यक्षु[3] नामक आर्येतर जनों ने भी इस युद्ध में भाग लिया । इस युद्ध में सुदास की विजय हुई जिसने ऋग्वैदिक भारत को कुछ समय तक एक सूत्र में बांध दिया । इस प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य नरेश युद्ध में सहायता के निमित्त आर्येतर नरेशों एवं सरदारों से भी मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने लगे थे ।

जनों पर आधारित समाज के विघटन और सामाजिक वर्गों के उदय की प्रक्रिया

ऋग्वेद-संहिता का काल एक संक्रमण की प्रक्रिया को द्योतित करता है, जो पहले से चली आ रही थी । ऋग्वेद में जनों के विघटन तथा वर्गों

---

१ द्रष्टव्य, डी०डी० कौसम्बी, द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आफ ऐंशियेण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, पृ० ८२ ।

२ 'विषाणिन्', जिसका अर्थ सींग वाला होता है, सिन्धु घाटी की मोहरों पर चित्रित सींगयुक्त देवता का स्मरण दिलाता है । मैसोपोटामिया के सींगों वाले देवता से भी इसका साम्य दृष्टिगोचर होता है । ये अनार्य थे । डी० डी० कोसम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ६० ।

३ ऋ० १.३३.४ , १. १५०.२, १.१३४.३ ।

के उदय के संकेत मिलने लगते हैं । वर्णों का स्वरूप अभी पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं हुआ था । उनके उदय की प्रक्रिया का केवल प्रारम्भ मात्र दिखायी पड़ता है । यह प्रक्रिया जिन कारकों और प्रवृत्तियों से सम्बन्धित दिखायी पड़ती है वे निम्न-लिखित हैं :--

(क) व्यवस्थित जीवन तथा अधिक उत्पादन

आर्यों के आर्थिक जीवन का आधार पशुपालन एवं कृषि था। इसके लिये भ्रमणशील जीवन अनुपयुक्त था । कृषि के लिये विशेष रूप से कुछ समय तक एक स्थान पर बंध कर रहना अनिवार्य था । ऋग्वेद संहिता में प्राप्त क्षेत्रपति, क्षेत्र-सा, उर्वरापति तथा उर्वरा-सा[1] आदि शब्द इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि इस काल में आर्यों में एक स्थान पर स्थायी रूप से बसने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ रही थी । खेतों की नाप का एक उल्लेख भी प्राप्त होता है[2]।

उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में ही मानव की श्रम-शक्ति इस योग्य बन गयी थी कि उत्पादक के जीवननिर्वाह के लिये जितना आवश्यक था, उससे अधिक उत्पादन किया जा सके[3]। अपेक्षाकृत विकसित कृषि-व्यवस्था और अतिरिक्त उत्पादन के सन्दर्भ अधिकतर ऋग्वेद के बाद के मण्डलों में मिलते हैं, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये विकास ऋग्वेद के अन्तिम काल में हुए । ऋग्वेद के दशम मण्डल में यह उल्लेख मिलता है कि जिसके खेत में जौ (यव) होता है,

---

१ ऋ० ४.३८.१ ; ६.२०.१० ; २.२१.१ ।

२ ऋ० १.११०.५ ; ग्रिफिथ, द हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग १, पृ० १५७ ; वैदिक इंडेक्स, (अंग्रेज़ी), भाग १, पृ० ९९ ।

३ एफ़० एंगेल्स, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता का उदय,

वे अलग-अलग करके क्रमशः उसे अनेक बार में काटते हैं[1]। अन्न के अतिरिक्त के विषय में और भी उल्लेख मिलते हैं। एक स्थल पर जौ को ओसाने वाली टोकरियों का भी वर्णन मिलता है[2]। कृषि[3] के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ

---

१ *ऋ०* १०.१३१.२ ।

२ ऋ० १०.६८.१ ; *वैदिक इंडेक्स*, भाग १, पृ० १०७ ।

३ कृषि के सन्दर्भ में यहाँ कालीबंगन से प्राप्त जुते हुए खेत का पुरातत्वीय साक्ष्य विशेष स्मरणीय है जो इस बात की ओर संकेत करता है कि तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में ही कृषि की तकनीक पर्याप्त विकसित अवस्था में थी। द्रष्टव्य, एस० पी० रायचौधरी, लल्लन जी गोपाल तथा बी०वी०सुब्बारायप्पा का लेख, 'एग्रीकल्चर', डी० एम० बोस द्वारा सम्पादित *ए कन्साइज़ हिस्ट्री आव इण्डिया*, पृ० १५९ ।

आर्यों ने इस महत्वपूर्ण तकनीकी विशेषता को, जो अधिक अन्नोत्पादन के लिये परम आवश्यक थी, नहीं अपनाया होगा इस बात की सम्भावना बहुत कम है। ऋग्वेद में मिलने वाला लांगल शब्द उद्भूत हो सकता है, किन्तु ऋग्वेद-संहिता में हल के लिये प्रयुक्त 'सीर' तथा हल चलाने से बन गई लकीर के लिये प्रयुक्त 'सीता' शब्द के इण्डो-यूरोपीय होने की सम्भावना ही अधिक है। इनके लिये कोई आर्येतर उद्भव प्रस्तावित नहीं किया गया है। यह सत्य है कि अभी तक ऋग्वैदिक काल में 'फाल' का कोई पुरातात्विक अवशेष प्राप्त नहीं हुआ है, जिसे प्राप्त होना चाहिये, पर इससे यह अर्थ भी नहीं निकाला जा सकता कि ऋग्वैदिक आर्यों के मध्य कृषि की तकनीक अपेक्षाकृत विकसित अवस्था में नहीं थी।

उत्पादन में वृद्धि हुई होगी और संग्रह की आवश्यकता भी प्रतीत हुई होगी । लांगल (हल) की सहायता से 'अश्विनों' ने यव की कृषि की थी[1]। ऋग्वेद-संहिता में स्थान-स्थान पर वर्षा के लिये प्रार्थना की गयी है[2]। भूमि को उर्वर बनाने के निमित्त नदियों से प्रार्थना की गयी है[3]। दात्र तथा सृणि का प्रयोग खेत काटने के लिये किया जाता था[4]। खेत कटने के बाद 'अन्न' गट्ठरों (पर्ष[5]) में बांधा जाता था । शूर्प (तितउ)[6] की सहायता से अन्न को भूसे से अलग किया जाता था । 'ऊर्दर[7]' नामक पात्र से सम्भवतः अन्न नापा जाता था । कृषिपरक उपरोक्त विवरण इस बात के परिचायक हैं कि ऋग्वैदिक आर्यों में स्थानबद्ध स्थायी जीवन की प्रवृत्ति बढ़ी और उसके साथ-साथ अधिक अन्न का उत्पादन होने लगा था।

(ख) श्रम-विभाजन की प्रक्रिया

इतिहास की भौतिकवादी धारणा के अनुसार इतिहास में मूलभूत निर्णयकारी तत्व जीवन की तात्कालिक आवश्यकताओं का उत्पादन और पुनरोत्पादन है । परन्तु यह स्वयं दो प्रकार का होता है । एक ओर तो यह जीवन-निर्वाह के साधनों का, खाने-पीने की चीज़ों, कपड़े, रहने के लिये घर आदि

---

१ ऋ० ८.२२.४ ।

२ ऋ० ७.१०१. ३ ।

३ ऋ० ७.१०१.२ ; १०.५०.१ ; १०.१०५.१ ।

४ ऋ० ८.७८.१० (दात्र); १०.१०१.३ (सृणि) ।

५ ऋ० १०.४८.७ (खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि) ।

६ ऋ० १०.७१.२ ।

७ ऋ० २.१४.११ ; द्रष्टव्य, पी० सी० जैन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३० ।

का, होता है । इन चीज़ों के उत्पादन के लिये अपेक्षित औज़ारों का निर्माण होता है । दूसरी ओर स्वयं मनुष्यों का उत्पादन अर्थात् जनसंख्या बढ़ाने का काम होता है[1]। किसी विशेष ऐतिहासिक युग अथवा किसी विशेष देश के लोग जिन सामाजिक संस्थाओं के अन्तर्गत रहते हैं उनका रूप दोनों प्रकार[2] के उत्पादनों से निर्धारित होता है । एक ओर वे श्रम के विकास की अवस्था से निर्धारित होती हैं और दूसरी ओर परिवार के विकास की अवस्था से । ज्यों-ज्यों श्रम की उत्पादन शक्ति श्रम-विभाजन के साथ-साथ बढ़ती जाती है, निजी सम्पत्ति और विनिमय बढ़ते हैं, आर्थिक असमानता बढ़ती है, दूसरों की श्रम-शक्ति के प्रयोग की सम्भावना बढ़ती है और उससे वर्ग-विरोधों का आधार तैयार होता है[3]।

नर और नारी के मध्य हुए सर्वप्रथम[4] श्रम-विभाजन के पश्चात् इसका जो सामाजिक स्वरूप परिलक्षित होता है, वह पशुपालन तथा कृषि के मध्य है[5]। तीसरा श्रम-विभाजन कृषि तथा व्यावसायिक उद्योगों के मध्य हुआ । क्यों

---

१ एफ़ ऐंगेल्स, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति, पृ० २।

२ वही ।

३ एफ़ ऐंगेल्स, परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता की उत्पत्ति, पृ० ३ ।

४ डी०डी० कोसाम्बी, एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी आव इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ३०-३१ ।

५ डी० के० मित्रोपोल्स्की, डोलेन्ट वाई० ए० कुब्रित्स्की तथा बी० एस० कैरोव द्वारा सम्पादित, ऐन आउटलाइन आव सोशल डेवलपमेन्ट, पार्ट १, प्रि-कैपिटलिस्ट सोसायटी, पृ० ३६ ।

के स्थायी आवास के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि के साथ-साथ कृषि का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व समझा गया और भूमि को अधिकाधिक कृषि-योग्य बनाने के निरंतर प्रयत्न होने लगे । इस प्रक्रिया में अग्नि ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी और निस्सन्देह कतिपय वनों को जला कर भूमि को कृषि-योग्य बनाया गया होगा[1]। ऋग्वेद-संहिता में प्रयुक्त 'कीनाश'[2] शब्द हल चलाने वाले कृषक का परिचायक है । पशुपालन का कार्य करने वाले 'गोपा'[3] कहे जाते थे । इनके अतिरिक्त रथ[4] बनाने वाले तक्षन् (बढ़ई), त्वष्ट्रा अथवा तष्टा[5] (नक्काशी का कार्य करने वाले), चर्मम्न[6] (चमड़े का कार्य करने वाले), कर्मार[7](धातु का कार्य करने वाले)

---

१ ऋ० १.६४.७ ; महाभारत में इसी प्रकार की एक कथा खाण्डव वनदाह के रूप में रह गयी है, द्रष्टव्य, महाभारत,१,२१७-२२४ यह साक्ष्य यद्यपि बाद का है फिर भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में भी इस प्रकार वनदाह की परम्परा रही होगी । इस परम्परा की प्राचीनता का प्रमाण कुछ आर्येतर लोगों में भी इसका प्रचलन है, जिसके अवशेष आज भी मिलते हैं । उदाहरणार्थ देखिये, उड़ीसा में महानदी के किनारे पौरी भुइयां लोगों का वर्णन ; एन०के० बोस, द स्ट्रक्चर आफ हिन्दू सोसायटी, पृ० ३५ ।

२ ऋ० ४.५७.८ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १५६ ।

३ ऋ० १.१६४.३१ ।

४ ऋ० २.३३.६ ; ३.१०.२ ; १०.१४६.३ ।

५ ऋ० १.६१.४ ; ९.११२.१ ; १०.११९.५ ।

६ ऋ० ८.५.३८ ।

७ ऋ० १०.७२.२ ।

ध्मातृ[1] (धातु को आग में गला कर बर्तन बनाने वाले), भिषक्[2] तथा वणिक्[3] आदि व्यवसाय-बोधक शब्द भी श्रम-विभाजन की ओर संकेत करते हैं। पर कृषि एवं व्यवसायिक उद्योगों के बीच पूर्ण श्रम-विभाजन इस काल में न रहा होगा।

(ग) विनिमय

अधिक उत्पादन एवं श्रम-विभाजन के साथ विनिमय का भी उदय होता है। इस काल में विनिमय का प्रधान माध्यम गाय थी[4]। आर्यों के लिए गाय उत्पादन के दृष्टिकोण से विशेष उपयोगी थी तथा सभी मूल्यों का मानदण्ड थी। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद-संहिता की एक ऋचा में उठाया गया यह प्रश्न विशेष उल्लेखनीय है; "मेरे इन्द्र को दस गायें देकर कौन खरीदेगा"[5]। ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुओं के खरीदने-बेचने के पहले ही मूल्य-निर्धारण कर लिया जाता था। विनिमय का एक अन्य माध्यम कुछ अंश तक निष्क (हार) भी रहा होगा[6]। एक मन्त्र में कक्षीवान् को सौ निष्क दिये जाने का उल्लेख किया गया है[7]। इसी प्रकार अत्रि ऋषि को राजा वरुण द्वारा दिये गये दस हजार 'निष्कों' का विवरण प्राप्त होता है[8]। 'हिरण्यपिण्ड' भी इस उपयोग में

---

१ ऋ० ५,६५,७ ।

२ ऋ० ८,११२, १ तथा ३ ।

३ ऋ० १,११२,११ ।

४ रोमिला थापर, ए हिस्ट्री ऑव इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ३६ ।

५ ऋ० ४, २४, १० ।

६ ऋ० ४, ३४,६ ।

७ ऋ० ५, २७,१ ।

८ ऋ० ५, २७,१ ।

जाये जाते होंगे[1]। परन्तु निष्क और हिरण्यपिण्ड के उल्लेख प्राय: दक्षिणा के ही प्रसंग में मिलते हैं।

(घ) पितृ-प्रधान परिवार

धन-विभाजन तथा विनिमय के साथ-साथ पितृसत्तात्मक परिवार का विकास भी ऋग्वैदिक काल की विशेषता रही है। पारिवारिक व्यवस्था पूर्णरूपेण सम्पत्ति की व्यवस्था के अधीन होती है, इसलिये परिवार में पिता का महत्व बढ़ना स्वाभाविक था। पारिवारिक सम्पत्ति के उद्भव के कारण जनों (Tribes) और कुलों (Clans) की नींव पर खड़े हुए पुराने समाज का धीरे-धीरे विघटन प्रारम्भ हुआ। ये परिवार 'पितृ'[2] 'गृहपति'[3] एवं 'कुलपा'[4] के संरक्षण में संगठित होते थे। इस बात का सम्यक् निश्चय करना कठिन है कि पुत्र किस सीमा तक और किस आयु तक पैतृक नियन्त्रण में रहता था। ऋग्वेद-संहिता में एक ऐसे पिता का उल्लेख मिलता है जो जुआ खेलने पर पुत्र को ताड़ना देता है[5]। पिता द्वारा ऋजाश्व को अन्धा बना दिये जाने का उल्लेख कुछ पैतृक-नियन्त्रण का स्पष्ट प्रमाण है[6]।

---

१ ऋ० ६.४७.२३।

२ ऋ० ४.१७.१२; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ५० ।

३ वैदिक इंडेक्स (हिन्दी), भाग १, पृ० २४७ ।

४ ऋ० १०.१७९.२ ।

५ ऋ० २.२९.५ ।

६ ऋ० १.११६.१६; ११७.१७; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० २६८ ।

(ख) व्यक्तिगत सम्पत्ति

श्रम-विभाजन, विनिमय तथा पितृप्रधान परिवारों के साथ व्यक्तिगत पारिवारिक सम्पत्ति का महत्व धीरे-धीरे बढ़ने लगा। ऋग्वैदिक काल काफ़ी लम्बा था। आर० एस० शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि ऋग्वेदसंहिता के प्रारम्भिक काल में भूमि पर कुल का स्वामित्व (Clan ownership) रहा होगा[1]। यह एक प्रकार से सामुदायिक स्वामित्व था। धीरे-धीरे भूमि पर सामुदायिक स्वामित्व के दायरे के अन्तर्गत कुल की मान्यता के आधार पर भोगाधिकार (Occupancy right) के रूप में कृष्ट भूमि पर पारिवारिक सम्पत्ति का भी विकास होने लगा। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर आये 'क्षेत्रपति', 'क्षेत्र-सा', 'उर्वरापति', 'उर्वरा-सा' आदि विविध शब्द[2] कृष्ट भूमि पर पारिवारिक सम्पत्ति के अधिकार की ओर संकेत करते हैं। प्रथम मण्डल में खेतों की माप का उल्लेख भी प्राप्त होता है[3]। अपाला द्वारा पिता के खेतों को उर्वर बनाने के निमित्त की गयी प्रार्थना भी कृष्ट भूमि पर पारिवारिक अधिकार की पुष्टि करती है। इस प्रकार की भूमि अचल सम्पत्ति के रूप में थी। घर भी अचल सम्पत्ति के अंग थे। उनके लिये प्रयुक्त '[illegible]' तथा 'दम' इस बात की ओर इंगित करते हैं

---

1 आर० एस० शर्मा; फार्म्स आव प्रापर्टी इन द अर्ली पोर्शन्स आव द ऋग्वेद, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, वाल्यूम १, प्रोसीडिंग्स ऑव द थर्टी थर्ड सेशन, चण्डीगढ़, १९७३, पृ० ६८।

2 वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ९९।

3 ऋ० १.११०.५।

4 ऋ० ८.९१.५-६ ; द्रष्टव्य, कमल राय, द [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एण्ड सोशल चेन्जेज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २५।

कि उन्हें भी एक प्रकार की अचल सम्पत्ति समझा जाता था[1]। एक जुआड़ी समृद्ध परिवार के सुसज्जित गृह को देखकर अपनी दीन-हीन दशा पर पश्चात्ताप करता है[2]।

चल सम्पत्ति अचल सम्पत्ति की अपेक्षा इस सन्दर्भ में अधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें पशु, गायें, रथ, घोड़े, हिरण्य, निष्क तथा दास-दासियां सम्मिलित थीं। इन्हें उपहार अथवा दक्षिणा के रूप में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दे सकता था।

(घ) आर्थिक असमानताओं का उदय

जिस समाज में सम्पत्ति के सम्बन्ध में व्यक्तिगत अधिकार का विकास होता है वहां आर्थिक असमानताओं का आविर्भाव भी एक अनिवार्य स्थिति है। ऋग्वैदिक समाज भी इसका अपवाद नहीं था। ऋग्वेद-संहिता में जहां एक ओर सम्पत्ति तथा उदारता के लिये प्रशंसित धनी कुलों[3] का विवरण प्राप्त होता है; वहां दूसरी ओर ऐसे दरिद्र लोगों का विवरण भी अप्राप्य नहीं है जो ऋण-ग्रस्त और निर्धन हैं। एक जुआड़ी की स्त्री दीन-हीन दशा में यातना भोगती बतलायी गयी है जो स्वयं दूसरों के घर में रात्रि व्यतीत करता था[4]। इसी प्रकार

---

१ आर० एस० शर्मा, फार्म्स आव प्राप्टी इन द अर्ली पोर्शन्स आव द ऋग्वेद, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, वाल्युम १, प्रोसीडिंग्स ऑव थर्टी थर्ड सेशन, चण्डीगढ़, १९७३, पृ० ९६।

२ ऋ० १०.३४.१०-११।

३ ऋ० १.३१.१२ ; २.६.४ ; ५.३६.४ ; (मघाकुल)
१.५५.४ ; ५.७९.४ ; ८.७.२९; १०.१०७.४ (मघवन)।

४ ऋ० १०.३४.१० ; तु० १०.३४.११।

कर्ज़ में डूबे हुए एक व्यक्ति के बन्धु-बान्धव उसकी उपेक्षा करते हैं।[१] फसलें नष्ट हो जाने पर आर्थिक विपन्नता कुछ अधिक बढ़ जाती रही होगी। अकाल के निवारण के लिये निरन्तर प्रार्थनायें की गयी हैं।[२] भिक्षुकों के उल्लेख भी मिलते हैं, जिनसे गरीबी एवं निर्धनों के वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया का परिचय मिलता है। 'जिस समय कोई भूखा मनुष्य भीख मांगने आता है और अन्न की याचना करता है, उस समय अन्नवान होकर भी हृदय को निष्ठुर रखने वाला तथा उसके सामने ही भोजन करने वाला मनुष्य सुखी नहीं हो सकता'।[३] अन्न की इच्छा से किसी निर्धन व्यक्ति के भिक्षा मांगने पर अन्न दान करने वाला ही वास्तविक दाता कहा गया है।[४] मित्र होकर भी जो व्यक्ति अपने साथी को अन्नदान नहीं करता, वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है।[५]' उपर्युक्त उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल में प्राप्त होते हैं इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्थिक असमानताओं का उदय ऋग्वैदिक काल के अन्तिम चरण में होने लगा। पर यह स्पष्ट है कि इस युग में आर्थिक अन्तर की खाई बहुत बड़ी नहीं थी।

---

१ ऋ० १०. ३४.३-४ ।

२ ऋ० १.८.२ ; ३.५३.१५ ; ८.१८.११ ; १०.४२.१० ।

३ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥
—ऋ० १०.११७.२ ।

४ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥
—ऋ० १०.११७.३ ।

५ न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥
—ऋ० १०.११७.४ ।

(६) युद्ध और विजय का प्रभाव

जनों वाले समाज के विघटन एवं सामाजिक वर्गों के उदय की प्रक्रिया में युद्ध और विजय का योगदान भी महत्वपूर्ण था । ऋग्वैदिक समाज में युद्ध का आर्थिक महत्व था ।[1] सम्पूर्ण ऋग्वेद-संहिता के परिशीलन से ज्ञात होता है कि इसमें आर्यों के संचरणशील जीवन में उपस्थित होने वाले उन संघर्षों व के संकेत सन्निहित हैं जो उन्होंने आर्येतर जनों से किये । इनका उद्देश्य अस्तित्व के लिये आवश्यक भौतिक उपकरणों की प्राप्ति तथा उनकी वृद्धि एवं सुरक्षा होता था ।[2]

ऋग्वेद-संहिता में प्राप्त समर, समर्य,[3] सेना,[4] सेनानी,[5] पृतना[6] (सेना), आदि शब्दों के उल्लेख सामरिक परिवेश के परिचायक हैं । युद्ध और विजय के फलस्वरूप क्षात्र वर्ग तथा राजा का महत्व अपेक्षाकृत बढ़ने लगा । ऋग्वेद में प्राप्त राजाओं द्वारा किये गये दान के उल्लेख राजाओं की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सम्पत्ति का प्रमाण देते हैं । प्रस्तोक ने स्वर्ण से भरे दस कोश, दस घोड़े और दिवोदास ने दस तेज घोड़े, दस सोने के कोश, वस्त्र, अन्न तथा दस हिरण्यपिण्ड दान किये ।[7] सुदास पैजवन ने दो सौ गायें, स्वर्णाभूषणों से अलंकृत घोड़ियों से युक्त दो रथ उपहार में दिये ।[8] दस हजार गायों का दान

---

१ आर०एस० शर्मा, 'कन्फ्लिक्ट डिस्ट्रीब्युशन ऐण्ड डिफरेन्सियेशन इन ऋग्वैदिक सोसायटी', सा०ओस्टा० कापी, अक्टूबर, १९७७, पृ० ५ ।

२ सभी देशों की प्रारम्भिक जनजातियों के युद्धों का यही लक्ष्य अन्यत्र भी देखा गया है ; ई० जे० हाब्सबाम द्वारा सं० कार्ल मार्क्स : प्रि-कैपिटलिस्ट इकनामिक फार्मेशन्स, पृ० ७१ ।

३ ऋ० ६. ६. २ ; ४. २४. ८ ।

४ ऋ० १.३३. ६ ; ७. २५. १ ; ९. ९६. १ ; १०. १०३.१, ४, ७ ।

५ ऋ० ७.२०.५ ; ९.९६.१ ; १०.३४.१२ ; १०.८४.२ ।

६ ऋ० १. १५७. २ ; ७.२०.३ ; ८.४६.१ ।

७ ऋ० ६.४७.२२-२३ ।

८ ऋ० ७.१८.२२-२३ ।

करने के कारण आसंग को दाताओं में श्रेष्ठ बताया गया है[1]। कुरुंग नामक राजा ने सौ अश्वों एवं प्रचुर धन का दान किया था[2]। काण्व ऋषि ने साठ हज़ारें गायें दान में प्राप्त कीं । चैदिराज कशु ने दस सहस्र गायें तथा सौ पशु दान किये थे[4]। यदु वंशों में परशु के पुत्र तिरिन्दिर ने तीन सौ अश्व और दस सहस्र गायें दान की थीं[5]। त्रसदस्यु ने पचास दासियां, प्रभूत वस्त्र तथा धन भी दान किया था[6]। चित्र राजा ने सरस्वती नदी के तीर पर रहने वाले अन्य राजाओं को प्रभूत धनराशि दे कर प्रसन्न किया था[7]। पृथुश्रवा ने साठ सहस्र अश्व, दो हजार पशु, एक हज़ार घोड़ियां, दस सहस्र गायें तथा एक स्वर्ण मण्डित रथ दान में दिया[8]। यह विचारणीय है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में प्राप्त

---

१ ऋ० ८.१.३२-३३ ।

२ ऋ० ८.४.१९ ।

३ ऋ० ८.४.२० ।

४ यथा चिच्चैद्य: कशु: शतमुष्ट्रानां ददत् सहस्रा दश गोनाम् ।
यो मे हिरण्यसंदृशो दश राज्ञो अमंहत ॥

--ऋ० ८.५.३७-३८ ।

ग्रिफ़िथ ने उपर्युक्त पंक्ति में प्रयुक्त `उष्ट्र` का शाब्दिक अनुवाद महिष (Buffalo) किया है जब कि `उष्ट्र` का शाब्दिक अर्थ ऊंट है । द्रष्टव्य, ग्रिफ़िथ, द हिम्स आफ द ऋग्वेद, भाग २, पृ० ११९ ।

५ ऋ० ८.६.४६-४७ ।

६ ऋ० ८.१९.३६-३७ ।

७ ऋ० ८.२१.१८ ।

८ ऋ० ८.४६.२१-२४ ।

उपर्युक्त उल्लेखों में दान की मात्रा कम है तथा बाद के मण्डलों में अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गयी है, जो क्रमशः समृद्ध होते हुए राजाओं की ओर संकेत करती है[1]।

युद्ध के कारण जहां एक ओर राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग की महत्ता बढ़ी वहां दूसरी ओर पुरोहित वर्ग भी पहले से अधिक समृद्ध और प्रतिष्ठित बनने लगा[2]। इसका कारण युद्ध में विजय की अभिलाषा से किये जाने वाले यज्ञ थे जिनके माध्यम से राजाओं की सम्पत्ति का कुछ भाग दक्षिणा के रूप[3] में पुरोहितों को प्राप्त हो जाता था और वे समृद्ध से समृद्धतर हो जाते थे।

युद्ध तथा विजय के परिणामस्वरूप जनगत बन्धन टूटने लगे होंगे तथा सामाजिक सम्मिश्रण की प्रवृत्ति और ऊंच-नीच का विभेद भी बढ़ा होगा। अधिकांश पराजित आर्येतर जन आर्यों के विजित समाज में दासों तथा सेवकों के रूप में ग्रहण किये गये, जिससे दास वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। विस्तृत सन्दर्भ में विचार करते हुए मार्क्स ने भी लिखा है कि जनों वाले समाज में विजेता तथा विजित जनों के सम्मिश्रण के कारण सामाजिक विभेद (Social differentiation) की प्रक्रिया तीव्रतर हुई[4] तथा समाज में ऊंच-

---

१ प्रारम्भिक और बाद के मण्डलों के लिए देखिये ऊपर, पृ० 26-28।

२ द्रष्टव्य आगे, पृ०46।

३ राजाओं द्वारा दी गयी दक्षिणा के लिये द्रष्टव्य, पीछे, पृ०26-28।

४ ई० जे० हाब्सबाम द्वारा सम्पादित, कार्ल मार्क्स : प्रि कैपिटलिस्ट इकनामिक फॉर्मेशन्स, पृ० ७१-७२।

नीच का विभेद बढ़ने के कारण वर्णों के विघटन और वर्गों के उदय की प्रक्रिया में वृद्धि हुई ।

(ब) धर्म का प्रभाव

उत्पादन के अतिरेक तथा उन सभी आर्थिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, धर्म ने भी वर्णों के विघटन तथा वर्गों के उदय की प्रक्रिया में सहयोग दिया । यज्ञमूलक धर्म की छाया में पुरोहितों के एक नये वर्ग का उदय होने लगा, जिसने एक ओर तो शासक वर्ग को धार्मिक आधार दे कर और अधिक पुष्ट तथा सक्रिय बनाया और दूसरी ओर समान धार्मिक परम्पराओं को प्रस्तुत कर वर्णों के विघटन तथा एकीकरण का मार्ग प्रशस्त किया ।

ऋग्वेद-संहिता में पुरोहित[1] शब्द पौरोहित्य करने वालों के लिये प्रयुक्त हुआ है । पुरोहित के पद को 'पुरोहिति'[2] तथा 'पुरोधा'[3] कहा गया है । यह स्पष्ट कहा गया है कि पुरोहितों का कार्य किसी राजा अथवा किसी सम्भ्रान्त कुल का पौरोहित्य करना होता था । ऋग्वैदिक काल के पुरोहितों में विश्वामित्र[4], वशिष्ठ[5] तथा देवापि[6] का नाम विशेष उल्लेखनीय है ।

---

१ ऋ० १.१६४.४५ ; ६.७५.१० ; ७.१०३.१,७,८ ; १०.९८.६ ; द्रष्टव्य, म्यौर, संस्कृत टेक्स्ट्स, १, २५१-२५७ ।

२ ऋ० १.१.१ ; १.४४.१० तथा १२ ; २.२४.९ ; ३.२.८ ; ५.११.२ ।

३ ऋ० ३. ३३.५३ ।

४ ऋ० ७.१८.८३ ।

५ ऋ० १०. ३३ ।

६ ऋ० १०.९८ ।

पुरोहितों ने ब्रह्म, क्षत्र तथा विश: को अलग-अलग वर्ग कर उनके कल्याण की प्रार्थना कर[1] उदीयमान सामाजिक व्यवस्था को धार्मिक एवं वैचारिक आधार देने का प्रयास किया। उदित होते हुए सामाजिक वर्गों को एक ही पुरुष का अंग बना कर[2], सामाजिक व्यवस्था के एकीकरण का प्रयास भी जनों के विघटन तथा वर्णों के उदय की ओर संकेत करता है।

प्रारम्भिक वर्ग

जनसंख्या में वृद्धि, श्रम-विभाजन के उदय, उत्पादन के अपेक्षाकृत अतिरेक तथा जनों के एकीकरण एवं सम्मिश्रण के साथ-साथ प्रारम्भिक व्यावसायिक वर्गों के उदय की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। यद्यपि इन व्यावसायिक वर्गों का स्वरूप पूर्ण स्पष्ट बाद के काल में ही हुआ किन्तु उनके निर्माण की प्रवृत्ति प्रस्तुत काल में दिखाई पड़ने लगती है। इस सन्दर्भ में बोंगार्ड लेविन का कथन विचारणीय है जिनके मतानुसार सामाजिक वर्ण-व्यवस्था की जड़ें जनों वाले समाज में खोजनी चाहिये[3]। उनका यह कथन अंशत: ठीक है कि जन-प्रधान एवं वंशप्रधान समाज के विघटन एवं उसके स्वरूप-परिवर्तन की प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में वर्णों का उदय होता है। पर यहां बोंगार्ड लेविन ने सामाजिक श्रम-विभाजन की प्रक्रिया पर समुचित ध्यान नहीं दिया, जिस पर कार्ल मार्क्स ने विशेष बल दिया है।

---

१ ऋ० ८.३५.१६-१८ ; द्रष्टव्य, यू०एन० घोषाल, *ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ*, पार्ट १, पृ० ६।

२ ऋ० (पुरुषसूक्त) १०.९०.१२।

३ जी० एम० बोंगार्ड लेविन, *स्टडीज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया*, पृ० १६०।

ब्रह्म, क्षत्र और विश: का पूर्ण विकास बाद के काल में हुआ किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम चरण तक आते-आते इनके स्वरूप की स्पष्ट झलक मिलने लगती है। ऋग्वेद के आठवें मंडल में ऋषि ने विभिन्न वर्गों से सम्बन्धित तत्त्वों को सशक्त बनाने की प्रार्थना की है[1]। यहां पर बुद्धि को ब्रह्म के साथ, क्षत्र एवं योद्धाओं को बल के साथ और विश: तथा धेनु को एक साथ सम्बन्धित किया गया है। देवताओं में अग्नि[2] को 'ब्रह्मन्' तथा वरुण को क्षत्रिय शासक के रूप में वर्णित किया गया है[3]। कला तथा दस्तकारी में निपुण होने के कारण ऋभुओं ने देवताओं के बीच स्थान प्राप्त किया[4]। यह विचारणीय है कि उपर्युक्त तीन वर्ग मार्क्सवादी विचारधारा वाले सामाजिक-आर्थिक (socio-economic) वर्ग नहीं थे, इनको मोटे तौर पर समुदाय ही कहा जा सकता है। वर्गों से सम्बन्धित उल्लेख प्राय: ऋग्वेद के बाद के मण्डलों में मिलते हैं।

(क) ब्रह्म

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में हुआ है[5]। परन्तु ब्रह्म अथवा पुरोहितों का एक व्यावसायिक वर्ग भी बन रहा था, इसके प्रमाण ऋग्वेद के कई सूक्तों से प्राप्त होते हैं। पुरोहितों का कार्य यज्ञों का

---

१ ऋ० ८.३५.१६-१८ ; द्रष्टव्य, यू०एन० घोषाल, ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ़, पार्ट १, पृ० ६।

२ ऋ० २.१.२-४।

३ ऋ० ८.२५.१।

४ ऋ० १.३२.२ ; ४.३५.८ ; म्योर, ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, वाल्यूम ५, पृष्ठ २२४।

५ द्रष्टव्य, पी०वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० २८।

अनुष्ठान करना होता था । सोम के लिये ब्राह्मणों तथा पितरों के एक साथ मिलने का उल्लेख प्राप्त होता है[1]। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के सत्रहवें सूक्त में मेधातिथि काण्व ने अपने जैसे पुरोहितों (विप्रस्य) की रक्षा के लिये इन्द्र तथा वरुण का आह्वान किया है[2]। सातवें मण्डल में मण्डूकों को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वे भी उसी प्रकार अतिरात्र के सोमोत्सव में ऊपर तक भरे हुए पात्र के चारों ओर एकत्र होकर बात करें जिस प्रकार ब्राह्मण करते हैं[3]। इसी के आगे की ऋचा में कहा गया है कि 'सोम रस से वर्ष भर के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करके इन ब्राह्मणों ने अपनी वाणी को ओर से उच्चारित किया'[4]। यह भी बताया गया है कि यदि ब्राह्मण सम्पूर्ण मानसिक शक्ति लगा कर यज्ञ करते हैं तो वे सब को पीछे छोड़ देते हैं। वे जो तथाकथित ब्राह्मण हैं, इधर-उधर घूमते रह जाते हैं[5]। यह भी प्रसंग मिलता है कि वाणी के चार पदों को मनीषी ब्राह्मण ही पहचानते हैं[6]। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म' धीरे-धीरे एक व्यावसायिक वर्ग बन रहा

---

१ ऋ० ६.७५.१० ।

२ ऋ० १.१७.२ ।

३ ऋ० ७.१०३.७ ; ग्रिफिथ, द हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग २, पृ० ६७ ।

४ ऋ० ७.१०३.८, ग्रिफिथ, वही, पृ० ६७ ।

५ ऋ० १०.७१.८ ;
हृदा तष्टेषु मनसा जवेषु यद्ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राहत्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्राह्मणा ये मनीषिणः ॥
द्रष्टव्य, ग्रिफिथ, वही, भाग २, पृ० ४८५ ।

६ ऋ० १.१६४.४५ ।
'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः'

था[१]। एक स्थल पर विद्वान् तथा अविद्वान् ब्राह्मण में भी अन्तर बताया गया है तथा वेदार्थ से अनभिज्ञ ब्राह्मण की निन्दा भी की गयी है[२]। 'बोलने वाला मनोज्ञ ब्राह्मण न बोलने वाले ब्राह्मण से अधिक उत्तम है'[३], इसका तात्पर्य सम्भवतः मन्त्रों के सस्वर पाठ से है जिसके निमित्त उनकी नियुक्ति की जाती होगी। 'ब्रह्म' वर्ग का व्यावसायिक होना उस पंक्ति से भी स्पष्ट है जिसमें अन्य व्यावसायिक वर्गों के साथ-साथ ब्राह्मणों का भी उल्लेख है[४]। उपरोक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक कौशल का अभाव गर्हित माना जाता था। अभी 'ब्रह्म' या 'पुरोहित' वर्ग के द्वार अवरुद्ध नहीं थे[५], क्योंकि अभी वर्ग निर्माण की प्रक्रिया में थे। कोई भी व्यक्ति योग्यतानुसार पुरोहित बन सकता था[६]। विश्वामित्र[७] तथा देवापि[८] राजन्य-वर्गीय होते हुए भी पुरोहित के पद पर आसीन थे।

---

१ ऋ० १.१०८.७ ; ४.५०.८ ; ८.७.२० ; ८.४५.३९ ; ८.५३.७-८ ; ९.११२.१ ; १०.८५.२९ ; द्रष्टव्य, डी०डी० कोसम्बी, द कल्चर एण्ड सिविलाइज़ेशन आव ऐंश्येण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, पृ० ८३ ।

२ ऋ० १०.७१.८-९ ।

३ ऋ० १०.७१.७ ।

४ ऋ० ९.११२.१-२ ।

५ जेड० ए० रैगोज़िन, वैदिक इण्डिया, पृ० २७९ ।

६ रोमिला थापर, 'सोशल मोबिलिटी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया विद स्पेशल रिफ़रेन्स टु एलीट', इण्डियन सोसायटी हिस्टारिकल प्रोबिंग्स, पृ० १०९ ।
एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ३४।

७ ऋ० ३.५३.९ ।

८ ऋ० १०.९८.५ ; डी०डी० कोसम्बी, 'द ओरिजिन आव ब्राह्मन गोत्रज़' द जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसायटी, बाम्बे ब्रान्च, वाल्यूम २६-२७, १९५०, पृ० ३६ और आगे ।

(ख) क्षत्र

इस युग में `ब्रह्म` की भांति `क्षत्र` वर्ण का भी उदय हो रहा था । इस वर्ण के अन्तर्गत राजा, योद्धा तथा उनके परिवारों के लोग रहे होंगे[1]। ऋग्वेद में इस वर्ण के सदस्यों के लिये `क्षत्र`[2] तथा `क्षत्रिय`[3] शब्दों का प्रयोग हुआ है । क्षत्रिय की झूठी पदवी धारण करने वालों के लिये (क्षत्रियं मिथुया धारयन्तं)[4] अपशब्दों का प्रयोग मिलता है । शासक परिवारों के इस वर्ग में ही परवर्ती क्षत्रिय वर्ण के बीज दिखायी पड़ते हैं[5]। यद्यपि युद्ध-कार्य तथा प्रशासन इस वर्ग का दायित्व था परन्तु अन्य जन भी युद्धों में सम्मिलित होते रहे होंगे[6]। वे अपनी सुरक्षा का भार केवल क्षत्र वर्ग पर छोड़ कर निश्चिन्त नहीं हो जाते थे[7]। मित्र तथा वरुण का उल्लेख क्षत्रिय शासकों के रूप में हुआ है[8]। विचारणीय है कि ऋग्वेद में जनों के सन्दर्भ में ही राजा का उल्लेख प्राप्त होता है[9]।

---

१ यू०एन० घोषाल, ए हिस्ट्री ऑव हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ०२२।

२ ऋ० १.२४.६ ; ४.१७.१ ; ५.६२.६ ; ८.३५.१७ ।

३ ऋ० ४.१२.३ ; ४.४२.१ ; ५.६९.१ ; ७.६४.२ ; ८.२५.८ ।

४ ऋ० ७.१०४.१३ ; पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ३६ ; आर०सी०दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १३३ ।

५ एस० के० दास, इकनामिक हिस्ट्री ऑव ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २५ ।

६ एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ ऑव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम भाग १, पृ० ४७ ।

७ एन० सी० बन्द्योपाध्याय, इकनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १४६ ।

८ ऋ० ८.२५.१ ; पी०सी० जैन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३ ।

९ देखिये पीछे, पृ०10।

योद्धाओं में अश्वारोही[1] तथा बाहुयुद्ध[2] करने वालों के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट लोग रथारोही[3] भी हुआ करते थे। स्थान-स्थान पर इन्द्र को 'रथेष्ठा'[4] की उपाधि भी दी गयी है।

(ग) विश:

विश: सामान्य जन का एक वृहद्‌समूह था जिसमें वे लोग सम्मिलित थे जो न तो 'ब्रह्म' वर्ग के अन्तर्गत थे और न 'क्षत्र' के[5]। इस वर्ग के सदस्य पशुपालन, कृषि तथा विविध शिल्पों के द्वारा जीवनयापन करते थे[6]। यद्यपि 'ब्रह्म' तथा 'क्षत्र' वर्ग की तुलना में इनकी सामाजिक स्थिति निम्न

---

१ ऋ० ५,५८,४ ।

२ ऋ० वही, 'युवं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टं जनयथा यजत्राः ।
युष्मदेति मुष्टिहा बाहुजूतो युष्मत् सदश्वो मरुतः सुवीरः ॥'

३ ऋ० २,१२,८, 'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः,
समानं चिद् रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ।'

४ ऋ० १,१७३,४-५ ; २,१७,३ ; ६,२१,१ ; ६,२२,५ ; ६,२९,२ ; ८,४,१३ ; ८,३३,१४ ; ९,९७,४९ ।

५ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ३२ ; एन०सी० बन्धोपाध्याय, इकनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ६४ ; जी० एस० घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड अकूपेशन, पृ० ४३ ।

६ आर० के० मुकर्जी, लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३८ ।

दिखाई पड़ती है फिर भी आर्य-समूह का सदस्य होने के नाते इन्हें स्वतन्त्र व्यक्ति के सभी अधिकार प्राप्त थे[1]। ऋग्वेद में, प्राचीन जर्मनी तथा होमर-युगीन यूनान के योद्धा की भाँति, कभी-कभी विश: को भी योद्धा वर्ग से सम्बन्धित किया गया है[2]। ऋभुओं को शिल्पकार बताया गया है जिन्होंने कला तथा हस्तकारी में अपनी निपुणता के कारण देवताओं के समकक्ष स्थान प्राप्त किया[3]। रथकारों का भी समाज में महत्वपूर्ण स्थान था जिसका कारण सम्भवत: निरन्तर चलते हुए संघर्ष एवं युद्धों के लिये रथों की आवश्यकता थी[4]। इस कार्य की तुलना उस योग्यता से की गयी है जिसकी आवश्यकता वैदिक सूक्तों की रचना में पड़ती थी[5]।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि सामान्य जनों (विश:) तथा ब्रह्म और क्षात्र के मध्य न तो सामाजिक दूरी ही अधिक थी और न उनके मध्य अभी विभाजन की कोई स्थिर रेखा ही बन पायी थी । एक ही परिवार के तीन सदस्य तीन विभिन्न कार्यों में संलग्न दिखलायी पड़ते हैं[6]। एक

---

१ इरावती कार्वे, किनशिप आर्गनाइजेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ७ ।

२ ऋ० १०.८४.४ ; यू० एन० घोषाल, ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, पार्ट १, पृ० ६ ।

३ ऋ० ४.३५.८; १.३२.२ ; लुई रेनो, वैदिक इण्डिया, पृ० ७२ ; म्योर, ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, भाग ५, पृ० २२४ ।

४ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पृ० ४५ ; पी०सी० जैन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० [illegible] ; विवेकानन्द झा, "स्टेटस आव रथकाराज इन द अर्ली इण्डियन सोसायटी", जर्नल आव इण्डियन कल्चर, अप्रैल,१९७४,पृ०३९।

५ ऋ० १.६१.४ ।

६ कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवो ऽनु गा इव तस्थिम ।।
-- ऋ० ९.११२.३ ।

स्थल पर भृगु ऋषि के वंशजों को रथ-निर्माण की कला में निपुण बताया गया है[1]। पहले कहा जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में भिषग् का कार्य करने वाले ब्राह्मण भी हुआ करते थे[2]। उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि आश्विन, वरुण तथा रुद्र को भी भिषग् की संज्ञा दी गयी है[3]।

ऋग्वैदिक आर्यों के जीवन-निर्वाह के साधनों में पशुपालन का महत्वपूर्ण स्थान था। पशुपालन[4] इण्डो-यूरोपीय काल से ही आर्यों की अर्थ-व्यवस्था का प्रधान अंग था। किन्तु आर्यों की अर्थ-व्यवस्था केवल पशुपालन पर निर्भर थी, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पशुपालक यायावर भी अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये या तो स्वयं सीमित स्तर पर कृषि का सहारा लेते थे या कृषि-कर्म में रत समुदायों के साथ उनके व्यावहारिक सम्बन्ध होते थे। पहले कहा जा चुका है, गाय विनिमय का भी महत्वपूर्ण माध्यम थी। सम्भवत: इसीलिये ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर गायों के प्रति आदर का भाव प्रकट हुआ है[5]। गायों के अतिरिक्त अन्य उपयोगी पशु[6] भी पाले जाते थे जिनका प्रयोग दैनिक आवश्यकताओं

१- ऋ० १०.३६.१४ ।

२ द्रष्टव्य, पीछे, पृ० ।

३ ऋ० २.३३.४-७ ।

४ मार्ई एम० गुलेफ़, 'द इवोल्यूशन आफ पैस्टोरलिज़्म एण्ड इण्डो-यूरोपियन ओरिजिन्स', इण्डो-यूरोपियन एण्ड इण्डो-यूरोपियन्स, सं० जार्ज कारदोना, हेनरी एम० होइनिग्स्वाल्ड तथा अल्फ्रेड सेन्न, पृ० २५८ ।

५ वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ८८-८९ ।

६ ऋ० १०.१०२.६ ; ५.२९.८ ; ६.१७.११; ७.१२.८ ; २.३४.३० ; २.५.६१ ; २.४.२९ ; ८.७४.७ ; ऋ० ८, वालखिल्य सूक्त ८.३ ; १०.२६ ; ८.४६.२८ ; ८.६.४८ ; १.१३८.२ ; ४.४.१ ; ८.३३.८ ; ७.१२.८ ; ६.१७.११ ; ५.२९. ८ ; द्रष्टव्य, एन०सी० बन्द्योपाध्याय, वही, भाग १, पृ० १२९-१३० ।

की पूर्ति के लिए किया जाता था । इनमें घोड़े, गधे, कुत्ते, भेड़-बकरी आदि पशुओं का नाम आता है । गोपालों की सहायता से ये गोष्ठों में चराये जाते थे[1]। 'लक्ष्मं मे दधतो अष्टकर्ण्यः'[2] से ज्ञात होता है कि गायों तथा अन्य पशुओं की पहचान के लिये उनके कानों पर चिह्न बना दिये जाते थे । कृषि और पशुपालन का महत्व बढ़ जाने के बावजूद शिकार का पूरी तरह परित्याग अभी नहीं किया गया था[3]। इसके लिये साधारणतया धनुष-बाण प्रयोग में लाये जाते थे[4]। जाल या पाश का भी प्रयोग होता था[5]। इसे 'निधा' या 'पुशिाजा' कहा जाता था[6]। जानवरों को पकड़ते समय हरिण (ऋश्य) को गड्ढे (ऋश्यदा) में गिरा कर कुत्तों द्वारा[7], भैंसे को (गौर) रस्सी के फन्दे (पाश) द्वारा[8]; सिंह को छिप कर गड्ढे में गिरा कर तथा जंगली हाथियों को पालतू हाथियों की सहायता से पकड़ते थे[9]। कभी-कभी सिंह को घेरकर उसका शिकार भी करते थे[10]। ऋग्वेद में एक

---

१ ए०सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १०९-११० ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ०२३९-२३।

२ ऋ० १०,६२,७ ।

३ एन० सी० बन्द्योपाध्याय, वही, भाग १, पृ० १३३ ।

४ ऋ० २,४२,२ ; कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, १, पृ० ८९ ।

५ ऋ० ३,४५,१ ।

६ ऋ० १,१२५,२, विश्वेश्वरनाथ रेउ, ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ०९५४।

७ ऋ० १०,५१,६ ।

८ ऋ० ५,४०,६ ।

९ ऋ० ८,३६ ।

१० ऋ० ८,१५,३ ।

स्थान पर पिंजरे में बन्द सिंह का उल्लेख है[1]। सम्भवतः मछली पकड़ने का व्यवसाय भी प्रचलित था[2]।

ऋग्वैदिक आर्यों के लिये कृषि एक महत्वपूर्ण व्यवसाय बन चुकी थी। ऋग्वेद में स्थान-स्थान पर वर्षा के लिये तथा भूमि को उपजाऊ बनाने के निमित्त नदियों से की गयी प्रार्थनाओं से कृषि के महत्व का आभास मिलता है[3]। इस महत्व पर सर्वाधिक प्रकाश उस सूक्त से पड़ता है जिसमें एक जुआड़ी को यह सलाह दी गयी है कि वह जुआ खेलना छोड़ कर कृषि में संलग्न हो जिसके द्वारा वह निश्चय ही धन-सम्पत्ति को प्राप्त करेगा[4]।

कृषि-सम्बन्धी उपकरणों का उल्लेख ऋग्वेद में यत्र-तत्र हुआ है[5]। बीज बोने से पहले भूमि को हल, पटेरे, कुदाली अथवा फावड़े की सहायता से तैयार किया जाता था[6]। धान्य के पक जाने पर उसे हंसिये (दात्र या सृणि)[7] से काट कर गट्ठरों (पर्ष)[8] में बांध लेते थे और खलिहान (खल)[9] में ले जाकर धान्य-सूप (तितउ)[10] की सहायता से अन्न को भूसे से अलग करते थे। धान्य साफ करने

---

१ ऋ० १०.२८.१० ।

२ एन० सी० बन्द्योपाध्याय, वही, भाग १, पृ० १२३ ।

३ ऋ० ७.१०१.३ ; ४.५७.१ ; १०.१०५.१ ; १०.५०-३; एन०सी० बन्द्योपाध्याय, वही, भाग १, पृ० ११४ ।

४ ऋ० १०.३४.१३ ; द्रष्टव्य, के०एम० शरन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ०३५।

५ वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १८२ ।

६ द्रष्टव्य, कल्गी, ऋग्वेद, पृ० १३ ।

७ ऋ० ८.७८.१० ; वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ८१-८२ ।

८ ऋ० १०.१०१.३ ; एन०सी० बन्द्योपाध्याय, वही, पृ० ११५ ।

९ ऋ० ऋ० १०.४८.७ ; एस [illegible] दास, वही, पृ० २७८ ।

१० ऋ० १०.[illegible] ।

वाले धान्यकृत्[1] कहलाते थे । इस प्रकार उत्पन्न किया हुआ अन्न 'उर्दर'[2] (नापने का पात्र) से नाप कर अन्नागारों[3] में भर दिया जाता था । अनुपजाऊ खेत को 'आर्तन'[4] कहते थे । कृषिपरक इन विभिन्न उपकरणों को बनाने वाले शिल्पियों के विविध समुदायों का बन जाना स्वाभाविक था ।

कृषि के अतिरिक्त अन्य शिल्प तथा व्यवसाय भी प्रचलित थे[5]। कृषि तथा शिल्प के मध्य अधिक अलगाव न रहा होगा जैसा कि प्रारम्भ के समाजों में हमें अन्यत्र भी मिलता है । लकड़ी का काम महत्त्वपूर्ण समझा जाता था । इसका कारण सम्भवतः यह था कि उसके द्वारा युद्ध में प्रयुक्त होने वाले रथों का निर्माण किया जाता था । श्रम विभाजन के विषय में पहले कहा जा चुका है । लकड़ी का कार्य करने वालों को 'तष्टा' तथा 'त्वष्टा' कहा गया है[6]।

---

१ ऋ० १०.६४.१३ ।

२ ऋ० २.१४.११ ; पी० सी० जैन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३५ ।

३ ऋ० १०.६८.३ ; इस सूक्त में 'स्थिविम्य' शब्द का प्रयोग किया गया है । इसका वास्तविक अर्थ ज्ञात नहीं है । विल्सन ने इसका अर्थ अन्नागारों से ग्रहण किया है जब कि ग्रिफिथ ने इसे अनाज नापने की एक टोकरी या नापने वाला पात्र बताया है । द्रष्टव्य, ग्रिफिथ, द हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग २, पृ० ४८० फुटनोट ३ ; पी०सी० जैन ने विल्सन के ही आधार पर इस शब्द का अर्थ अन्नागार ही माना है ।

४ ऋ० १.१२७.८ ।

५ द्रष्टव्य, पीछे पृ० २१-२२ ।

६ वही ।

कमार धातु का कार्य करते थे[1]। भिषज का व्यावसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान था। बुनकर (वासो-वाय) कपड़े बुनता था। उसके वस्त्र करघा, ढरकी (तसर), ताना (ओतु) और बाना (तन्तु) की सहायता से तैयार होते थे[2]। यह काम स्त्रियां भी करती थीं[3]। कपड़े पर बेलबूटे बनाने का काम भी स्त्रियां ही करती थीं[4]। नापित (वप्ता) का उल्लेख भी मिलता है[5]।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में समाज के चतुर्थ वर्ग के रूप में शूद्र का उल्लेख हुआ है[6] परन्तु यह सन्दर्भ कुछ बाद का प्रतीत होता है। पुरुषसूक्त ऋग्वेद में अन्य सूक्तों की अपेक्षा बहुत बाद में जोड़ा गया।

(घ) दास वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया

उपर्युक्त व्यावसायिक वर्गों के अतिरिक्त दास वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गयी थी और आर्य-आर्येतर संघर्ष में पराजित अधिकांश लोगों को आर्य-समाज में हीन तथा दासों का स्थान प्राप्त हुआ। उनकी स्थिति निम्न हो गयी। इन्हें सम्भवतः गृह-कार्य में लगाया गया होगा। ऋग्वेद के कुछ बाद के अंशों में प्राप्त दास-दासियों के उल्लेख इस बात के प्रतीक हैं कि घरेलू दासों का एक छोटा वर्ग तत्कालीन समाज में निर्मित हो चुका था। त्रसदस्यु द्वारा उपहार में दी गयी पचास स्त्रियों का उल्लेख ऋग्वेद के आठवें मण्डल में प्राप्त

---

१ वही

२ ऋ० १०.२६.६ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३०२ ।

३ ऋ० २.३.६ ; ५.४७.६ ।

४ ऋ० २.३२.४ ।

५ ऋ० १.१४२. ४ ।

६ ऋ० १०.९०.१२ ।

होता है।[1] अथर्ववेद के कुछ प्रारम्भिक अंशों में जिनकी प्राचीनता ऋग्वैदिक काल तक मानी गयी है कुछ आर्द्रहस्ता ओखली तथा मूसल के कार्य में संलग्न[2] एवं शकृत् पर पुआल डालती हुई दासियों के विवरण प्राप्त होते हैं।[3] दास (slave) के अर्थ में प्रयुक्त 'दास' शब्द अधिकतर ऋग्वेद के परवर्ती अंशों में प्राप्त होता है। पर वहां भी ये दास विशेषतः स्वामियों के गृहों में सेवा-कार्य में संलग्न दिखायी पड़ते हैं। अभी तक उत्पादन कार्यों में उनके नियुक्त किये जाने का कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं है। दास एक प्रकार की सम्पत्ति समझे जाने लगे थे। प्रथम मण्डल में दासों का उल्लेख 'दास-प्रवर्ग' के रूप में मिलता है[4]। बालखिल्य-सूक्त में दास सम्पत्ति के रूप में 'गर्दभ' तथा 'ऊर्णावती' के साथ परिगणित है[5]। ऋषि दीर्घतमस की सेवा में कुछ ऐसे दास नियुक्त थे[6]। दासों पर व्यक्तिगत अधिकार का संकेत भी प्राप्त होता है। स्वतन्त्रतापूर्वक एक व्यक्ति उन्हें दूसरे व्यक्ति को दे सकता था।

यहां यह विचारणीय है कि युद्ध में विजित सभी व्यक्ति दास नहीं बनाये गये ; केवल उन्हें ही दास बनना पड़ा होगा जो आर्थिक तथा

---

१ अदान्मे पौरुकुत्स्यः पंचाशतं त्रसदस्युर्वधूनाम् मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः।

--ऋ० ८.१९.३६।

२ .... यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः'

--अथर्व० १२.३.१३।

३ 'यदस्य पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति'

--अथर्व० १२. ४. ९।

४ उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दासप्रवर्गं रयिमश्व-बुध्यम्

--ऋ० १.९२.८।

५ 'शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनां। शतं दासां अति स्रजः'

--ऋ० ८. ५६.३।

६ ऋ० १. १५८.५-६।

सांस्कृतिक दृष्टि से हीन स्तर के रहे होंगे । बल्बूथ एवं तारुक्ष जैसे सम्पत्ति-शाली आर्येतर नेता तथा दीर्घतमस एवं कक्षीवान औशिज जैसे आर्येतर ऋषियों को आर्य-समाज के उच्च वर्ग में स्थान मिला[1]। इस प्रकार दासत्व केवल उन्हें ही स्वीकार करना पड़ा जो न तो सम्पत्ति में आर्य-स्वामियों के समकक्ष खड़े हो सकते थे और न योग्यता में । ऐसे लोगों की संख्या काफ़ी रही होगी ।

आर्यों के अपने समाज में भी दास बनाने की प्रक्रिया चल रही होगी । ऋग्वेद के दसवें मण्डल में यदु तथा तुर्वश को दास कहा गया है[2]। एक स्थल पर द्यूत में सर्वस्व हार गये व्यक्ति को जीते हुए लोग बांध कर ले जाते हैं[3]। इस व्यक्ति को सम्भवतः दास ही बनाया गया होगा । आर्थिक विपन्नता भी दास वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया का एक कारण रही होगी ।

८- सामाजिक गतिशीलता-- सामाजिक निश्चलता का अभाव

ऋग्वैदिक काल में एक प्रकार की सामाजिक गतिशीलता का आभास मिलता है जो सामाजिक निश्चलता के न होने से परिलक्षित होती है । इसकी अभिव्यक्ति विभिन्न पदों एवं प्रवृत्तियों से सम्बन्धित मिलती है जिनका विवेचन अधोलिखित है ।

---

१ देखिये, आगे पृ०४६-४८

२ उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा । यदुस्तुर्वश्च मामहे ।
-- ऋ० १०.६२.१० ।

३ ऋ० १०.३४.४ ।

'पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्' ।

(क) वर्णों के उदय की प्रक्रिया में अन्तर्निहित संक्रमण-प्रधान गतिशीलता

इस काल में वर्णों के उदय की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो रहा[1] था। यह विचारणीय है कि प्राचीन विश्व के कुछ अन्य देशों जैसे मध्यपूर्व (मेसोपोटामिया तथा मिस्र) में जब वर्णों का उदय होने लगा तो स्वतन्त्र सामान्य जनों (free mass) की संख्या निरन्तर कम होती चली गयी, क्योंकि एक ओर तो उनमें से कुछ लोग सम्पन्न एवं अभिजात्य वर्ग में आ गये और दूसरी ओर जनसाधारण से ही सम्बद्ध कुछ लोगों की स्थिति हीन होने लगी तथा वे दासों की स्थिति को प्राप्त होने लगे[2]। इसी प्रकार विश्व के कुछ अन्य देशों में भी यह सामान्य प्रवृत्ति देखी जा सकती है[3]। उत्तरवैदिक काल में भी कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति वर्णों के उदय

---

१ आई० एम० डायकोनोफ़, 'द रूरल कम्युनिटी इन द ऐंश्येण्ट नियर ईस्ट', जर्नल आव द इकनामिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री आव द ओरियन्ट, वाल्यूम १८, पार्ट २, जून, १९७५, पृ० १२२।

२ द्रष्टव्य, वी० वी० स्त्रुवे का लेख, 'द प्राब्लम आव द जेनेसिस डेवलपमेण्ट एण्ड डिसइन्टीग्रेशन आव द स्लेव सोसायटीज़ इन द ऐंश्येण्ट ओरियन्ट', ऐंश्येण्ट मेसोपोटामिया, आई० एम० डायकोनोफ़ द्वारा सम्पादित, पृ० १९।

३ डी० के० मित्रोपोल्स्की तथा अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित, ऐन आउटलाइन आव सोशल डेवलपमेण्ट, पार्ट १, पृ० ५२।

के सम्बन्ध में दिखायी देती है । सामान्य जनों में से कुछ `शूद्र` और `दास` समुदायों में चले गये और कतिपय लोगों की स्थिति आर्थिक कारणों से गिरने लगी । आर्यों के अपने समाज के अन्दर भी दास अथवा भृत्य बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी । हम पहले देख चुके हैं कि ऋग्वेद के एक स्थल[1] पर जुए में सर्वस्व हारने वाले व्यक्ति को उसके बन्धु-बान्धवों ने पहचानने से इनकार कर दिया तथा जीते हुए लोगों से उसे बांध कर ले जाने को कहा । उसे सम्भवतः दास ही बनाया गया होगा ।

(ख) युद्ध और विजय का प्रभाव

युद्ध और विजय के परिणामस्वरूप आर्य तथा आर्येतर जनों में सामीप्य बढ़ा और फलस्वरूप उनमें सम्मिश्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । इससे एक ओर तो शासक वर्ग के उदय का प्रारम्भ हुआ और दूसरी ओर शासित वर्ग बनने लगा । शासक तथा शासित के रूप में सामाजिक वर्गों का यह द्विविभाजन परवर्ती काल में अधिक स्पष्ट हो गया[2]। किन्तु ऋग्वैदिक काल में इस प्रकार के विभाजन की प्रक्रिया सम्भवतः बहुत स्पष्ट नहीं थी ।

शासक वर्ग में मुख्य रूप से राजाओं, राजपुत्रों और सेनानायकों के परिवार सम्मिलित थे । पुरोहित वर्ग का सहयोग भी इसी वर्ग को प्राप्त हुआ,

---

१ ऋ० १०.३४. ४ ।
`पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्`।

२ आर० एस० शर्मा, क्लास फार्मेशन एण्ड इट्स मैटीरियल बेसिस इन द अपर गैंगेटिक बेसिन, इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम २, पार्ट १, जुलाई १९७५, पृ० ३-४ ।

और वे भी इसी वर्ग के अन्तर्गत थे । इस वर्ग का निर्माण प्रमुख रूप से विजयी आर्यों के समुदायों से ही रहा था, जिसमें कुछ पराजित योग्य आर्येतर नेताओं तथा ऋषियों का समावेश भी हुआ । जिन आर्येतरों को अपने समाज में उच्च स्थान प्राप्त था उनमें से कुछ को आर्य समाज में भी उच्च स्थान मिला । शासित वर्ग में प्रमुख रूप से आर्यों तथा पराजित आर्येतरों के सामान्य जन सम्मिलित रहे होंगे । धीरे-धीरे 'विश:' के सदस्य तथा दास भी इसी वर्ग में सम्मिलित होने लगे । युद्ध और विजय के प्रभाव के फलस्वरूप अधिकांश पराजित आर्यों तथा आर्येतरों को आर्य-समाज में हीन तथा दासों का स्थान मिला और उनकी स्थिति निम्न हो गयी ।

स्वयं आर्यों की स्थिति पहले की अपेक्षा सुदृढ़ होने लगी । वे विजित होकर आर्येतरों के धन-जन के मालिक बन बैठे । उनके अपने समाज में भी विशेष रूप से उन लोगों का स्थान ऊंचा उठा होगा जो युद्धरत रहे होंगे । इसके साथ-साथ उन पुरोहितों का स्थान भी समाज में ऊपर उठा होगा जो युद्ध में विजय प्राप्ति के निमित्त यज्ञ कराते होंगे । इसी प्रकार युद्ध में प्रयुक्त होने वाले रथों का निर्माण करने वालों की प्रतिष्ठा भी बढ़ी यह ऋभुओं के उल्लेख से स्पष्ट है जिन्हें ऋक्संहिता में देवताओं के समकक्ष स्थान प्रदान किया गया है ।

(ग) सम्मिश्रण की प्रवृत्ति का प्रभाव

आर्य-आर्येतर जनों के संघर्षों के परिणामस्वरूप एक नवीन समाज का निर्माण हुआ जिसमें विजेता तथा विजित दोनों की संस्कृतियों का योगदान रहा होगा । आर्येतर वर्ग के कुछ शक्तिशाली नेताओं और राजाओं ने आर्यों के समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया । इनमें बल्बूथ तथा तारुक्ष का नामोल्लेख पहले ही किया जा चुका है[१]। वश अश्व्य ऋषि ने उन्हें प्रचुर

---

१ ऋ० ८.४६.३२ ; १. ११६-१२१ ।

दक्षिणा के लिये धन्यवाद दिया है।[1] कक्षीवान औशिज सूक्त रचना में प्रवीण थे[2]। ऋग्वेद में इनका नाम कई स्थलों पर आया है। ये उशिज नामक दासी के पुत्र थे[3]। कहीं-कहीं नाम के अन्त में 'पज्रिय' लगा होने के कारण अनुमान किया जाता है कि ये पज्रिय परिवार के रहे होंगे[4], जो प्रसिद्ध आंगिरस कुल से सम्बन्धित थे। एक स्थल पर ये स्वनय नामक राजकुमार की प्रशंसा करते हुए वर्णित हैं[5]। दूसरे स्थल पर एक ऋषि विभिन्न देवताओं से उशिक्पुत्र कक्षीवान के समान प्रसिद्धि के लिये प्रार्थना करता है। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि दासीपुत्र होने के बावजूद उन्होंने आर्य-समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया। दीर्घतमस् मामतेय के सूक्त भी ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।[7] इन्हें ममता नामक दासी का पुत्र बताया गया है। ऋग्वेद के कई सूक्तों में ये माता के नाम पर केवल मामतेय नाम से ही उल्लिखित हैं तथा बाद की एक कथा के अनुसार उन्होंने दासी कन्या उशिज से विवाह किया था[8]। ऋग्वेद में ही अश्विनों द्वारा कृष्णवर्णी काण्व (श्यावाय) को गौरांगी स्त्रियां उपहार में दिये जाने का विवरण प्राप्त

---

१ देखिये पीछे, पृ० [illegible]

२ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११६ से १२१वें सूक्त के प्रणेता कक्षीवान् माने गये हैं। इसके अतिरिक्त इनका नाम निम्नलिखित ऋचाओं में भी उपलब्ध है — १.१८.१ ; १.५१.१३ ; १.११२.११ ; १.११६.६ ; १.११७.६ ; १.१२६.३ ; ८.६.१० ; १०.२५.१० ; १०.२५.६१ ।

३ ऋ० १.११६ ; द्रष्टव्य, देवराज चानन, स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २०।

४ [illegible] वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १३२ ।

५ वही ।

६ ऋ० १.१८.१ ; १.११६.७ ।

७ ऋ० १.१५७.३ ; बी० अम्बेडकर, हू वेयर द शूद्राज़, पृ० ७७ ।

८ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २१ ।

होता है[1]। सम्भवत: इन्हीं ब्राह्मण का उल्लेख अन्य स्थलों पर 'कृष्ण' तथा कृष्णर्षि के रूप में मिलता है[2]। नाम के ही आधार पर पुरोहित दिवोदास को भी आर्येतर वर्ग से सम्बन्धित किया गया है। दिवोदास द्वारा रचित सूक्त भी प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त आर्येतर व्यक्तियों को वैदिक धर्म एवं ज्ञान में उच्च स्थान प्राप्त हुआ था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि शिक्षा एवं धर्म भी सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण तत्व रहा होगा।

(घ) सामाजिक निश्चलता का अभाव

(i) व्यवसाय सम्बन्धी लचीलापन

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आर्य समाज के व्यावसायिक वर्गों के रूप में ब्रह्म, क्षत्र एवं विश: का उल्लेख मिलता है परन्तु ये किसी भी प्रकार से अवरुद्ध वर्ग नहीं थे। कोई भी व्यक्ति अपनी रुचि के अनुरूप चुने हुए व्यवसाय के माध्यम से जीवन-यापन कर सकता था। व्यवसायपरक यह लचीलापन ऋग्वैदिक समाज की विशेषता है। शारीरिक श्रम कभी गर्हित नहीं माना जाता था। एक ही परिवार के तीन व्यक्ति, तीन भिन्न-भिन्न व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन कर रहे थे[3]। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल में एक व्यक्ति इन्द्र से स्वयं को रक्षक, राजा, ऋषि अथवा धन का स्वामी बना देने की प्रार्थना

---

१ ऋ० १. ११७. ८।

२ आर० एस० शर्मा, वही, पृ० २१।

३ ऋ० ६. ११२. ३.

'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना
नानाधियो वसूयवो ऽनु गा इव तस्थिम'

इस प्रसंग में ऋषि स्वयं को सूक्त रचयिता, पिता को भिषज तथा माता को 'उपलप्रक्षिणी' बताता है।

करता है[1]। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि व्यवसाय के चयन के सम्बन्ध में पर्याप्त नमनीयता थी।

राजवंशीय व्यक्तियों द्वारा पौरोहित्य तथा सूक्त रचना के सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं। विश्वामित्र को सुदास का पुरोहित बताया गया है, उन्होंने स्वयं अपना परिचय कुशिकवंशीय राजन्य कह कर दिया है[2]। राजा शान्तनु के भाई देवापि राजकुल से सम्बन्धित होते हुए भी यज्ञीय अनुष्ठान के पुरोहित थे।

कुछ राजवंशीय व्यक्ति सूक्त रचना में भी प्रवीण थे। ऋग्वेद के तीसरे मंडल के तेरहवें तथा चौदहवें सूक्त की रचना का श्रेय ऋषि ऋषभ को दिया गया है; इन्हें विश्वामित्र का पुत्र बतलाया गया है[4]। प्रथम मण्डल के प्रथम दो सूक्तों के रचयिता मधुच्छन्दा को भी विश्वामित्र का पुत्र बताया गया है[5]। पेदु का उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम मण्डल में हुआ है जहां उन्हें राजर्षि बतलाया गया है[6]। शासक राजा वृषागिर के पांच पुत्रों को एक सूक्त की रचना का श्रेय दिया

---

1 ऋ० ३.४३.५

'कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद् राजानं मघवन्नृजीषिन् ।

कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः ।।'

2 ऋ० ३.५३.९ ; ३.३३.५ ; जी०एस० घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड अकुपेशन, पृ० ५० ; आर०पी० चन्दा, द इण्डो आर्यन रेसेज, पृ० १३ ; ए० सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १३० ।

3 ऋ० १०.९८.२ ; १०.९८.५ ।

4 ऋ० ३.५३.१३-१४ ; ग्रिफिथ, हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग १, पृ० ३३२ ।

5 ऋ० १, १ तथा २ ।

6 ऋ० १.११६.६, ग्रिफिथ, हिम्स आव द ऋग्वेद, भाग १, पृ० १५५ ।

विश्वामित्र ने शस्त्र-सज्जित होकर युद्ध में भाग लिया था[1]। सम्भवतः `विशः` वर्ग से सम्बन्धित व्यक्ति भी युद्ध में भाग लेते थे क्योंकि मन्यु देव से युद्ध के लिये प्रत्येक वर्ग को प्रोत्साहित करने की प्रार्थना की गयी है[2]।

दीर्घश्रवा[3] नामक ऋषि को जीविकोपार्जन के निमित्त व्यापार करना पड़ा तथा ऋषि भृगु के वंशज प्रसिद्ध रथकार भी थे[4]। उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में व्यावसायिक लचीलेपन के कारण पर्याप्त गतिशीलता रही होगी ।

(ii) विवाह सम्बन्धी लचीलापन

वर्ग अभी पूर्ण रूप से बन नहीं पाये थे इसलिये विवाह के सम्बन्ध में वर्ग-विशेष का प्रतिबन्ध नहीं था । विवाह सम्बन्धी लचीलेपन में अन्तर्निहित एक प्रकार की गतिशीलता तत्कालीन समाज में व्याप्त थी ।सामाजिक सम्मिश्रण की प्रक्रिया निरन्तर चल रही थी और विवाह के माध्यम से आर्येतर वर्ग के सदस्य आर्य वर्ग में शनैः शनैः प्रविष्ट हो रहे थे । कक्षीवान् ने, जिनका उल्लेख व्यावसायिक सन्दर्भ में भी प्राप्त होता है, राजा स्वनय की कन्या से विवाह किया था[5]। दासीपुत्र होने के बावजूद राजा स्वनय ने उन्हें सम्मान प्रदान किया । पराजित आर्येतर वर्ग की दासियाँ भी पत्नियों तथा उपपत्नियों के रूप में ग्रहण

---

१ वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० २६३ ।

२ ऋ० १०.८४.४ ; यू० एन० घोषाल, ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, पार्ट १, पृ० ६ ।

३ ऋ० १.११२.११ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ३६७ ।

४ ऋ० ७.१८.६ ; १०.३९.१४ ; ए० सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १३० ।

५ ऋ० १.१२६.२ ; एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ५८ ।

की गयी[1]। स्वयं कक्षीवान ने ऋषित्व प्राप्त करने के पश्चात् वृचया नामक दासी के साथ विवाह किया था[2]। ऋषि कवष की माता इला भी दासी कही गयी है । माता के नाम पर ही ये कवष ऐलूष कहलाये[3]।

आर्यों के स्वयं अपने समाज में भी इस प्रकार का लचीलापन दृष्टिगोचर होता है । ब्रह्म तथा क्षात्र वर्ग में पारस्परिक विवाह सम्बन्ध अधिक हुए । अधिकांश रूप में क्षात्र वर्गीय कन्यायें ब्रह्म वर्ग में प्रविष्ट हुईं । यद्यपि ऋग्वेद में अन्तर्वर्गीय विवाहों का प्रसंग नहीं मिलता है, परन्तु ऋग्वैदिक व्यक्तियों के अन्तर्वर्गीय विवाहों की भलक ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा महाभारत आदि में प्राप्त होती है । ऋग्वेद के पांचवें मण्डल के इकसठवें सूक्त पर भाष्य लिखते हुए भाष्यकार ने ऋग्वैदिक व्यक्ति श्यावाश्व नामक ऋषि से राजा रथवीति की कन्या के विवाह का उल्लेख किया है[4]। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के इकतीसवें सूक्त में राजा ययाति[5] का नाम उल्लिखित है जिनके साथ उशनस शुक्र की पुत्री देवयानी के विवाह की चर्चा

---

१ एडवर्ड वेस्टर मार्क, ए शार्ट हिस्ट्री आव ह्यूमन मैरेज, पृ० ६२-६३ ।

२ ऋ० १.५१.१३ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १३७ ।

३ पी० एल० भार्गव, इण्डिया इन द वैदिक एज, पृ० २५०, जी० एस० घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड अकूपेशन, पृ० ४७ ; वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १४३ ।

४ ऋ० ५.६१ पर भाष्य ; राजबली पाण्डे, हिन्दू संस्कार, पृ० २२६ ; वी० पी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ४४७ ।

५ ऋ० १.३१.१७ ; राजबली पाण्डे, हिन्दू संस्कार, पृ० २२६ ।

परवर्ती साहित्य में की गई है । राजा आसंग[1] ने ब्राह्मणों के आंगिरस परिवार की कन्या से विवाह किया था, जिसका नाम शश्वती था । अगस्त्य के कई सूक्तों का संकलन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, इनके साथ विदर्भ कुमारी लोपामुद्रा का विवाह हुआ था[2]। च्यवन ऋषि भी एक ऋग्वैदिक सूक्त के प्रणेता कहे गये हैं । इनका विवाह राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के साथ हुआ था[3]। घोषा नामक ऋषिका भी राजकन्या बतायी गयी है जिसका विवाह ऋषि के साथ हुआ था[4]। राजा पुरुमित्र की कन्या कमद्यु का विवाह विमद ऋषि के साथ हुआ था[5]। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वर्ग अभी पूर्णरूप से बन नहीं पाये थे इसलिये सामाजिक निश्चलता के अभाव में प्राप्त होने वाली सामाजिक गतिशीलता पूर्व-वैदिक काल में व्याप्त थी ।

-0-

---

१ ऋ० ८.१.३३-३४ ; एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ५८ ।

२ ऋ० १.१८०-१९१ ; १, १७९ ; हरिदत्त विद्यालंकार, हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११३ ।

३ जी० एस० घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड अक्युपेशन, पृ० ४७ ।

४ ऋ० १०.३९.४० ; ए० सी० दास, ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० १२६ ।

५ ए० सी० दास, वही, पृ० १२६ ।

अध्याय--२

सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भिक विकास एवं

सामाजिक गतिशीलता -- उत्तर-वैदिक काल

अध्याय--२

सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भिक विकास एवं सामाजिक गतिशीलता-- उत्तर-वैदिक काल

उत्तर-वैदिक काल[1] के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के प्रमुख साधनों को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है,साहित्यिक एवं पुरातत्वीय । साहित्यिक साधनों में यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद संहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक तथा उपनिषदों की गणना की गयी है[2]। इनमें संहितायें सबसे प्राचीन हैं । सामवेद यजुर्वेद के बाद का है[3] परन्तु ऋग्वेद पर अत्यधिक आश्रित होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व नगण्य है[4]। यजुर्वेद संहिता में जिस सामाजिक तथा भौगोलिक स्थिति का आभास मिलता है वह ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रारम्भिक अंशों में वर्णित स्थिति से साम्य रखती है ।

---

१ विण्टरनित्स द्वारा प्रस्तावित तिथिक्रम के अनुसार उत्तर-वैदिक काल द्वितीय सहस्राब्दी ईसा-पूर्व के मध्य के आसपास प्रारम्भ हुआ होगा ।

२ आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, वैदिक एज, पृ० ४०३-४४७ ; ४५७-४७२ ।

३ लुई रेनो, वैदिक इंडिया, पृ० १५ ।

४ द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० १०२ ।

यजुर्वेद संहिता में कुरु-पंचाल देश महत्वपूर्ण हो गया है, तथा यज्ञ की प्रक्रिया भी बहुत विकसित हो गयी है। यही स्थिति प्राचीनतम ब्राह्मण ग्रन्थों की भी है। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐतरेय, कौषीतकि, जैमिनीय, पंचविंश तथा तैत्तिरीय अपेक्षाकृत प्राचीन माने गये हैं[1]। गोपथ ब्राह्मण के विषय में यह अनुमान किया गया है कि वह ब्राह्मण साहित्य में सबसे बाद में जोड़ा गया[2]। शतपथ ब्राह्मण भी उपर्युक्त ब्राह्मणों के पर्याप्त बाद के काल का है[3]। उपनिषदों में ऐतरेय, कौषीतकि, छान्दोग्य, केन, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक ईश तथा कठोपनिषद को अन्य उपनिषदों की अपेक्षा प्राचीन और प्राग्बौद्ध माना गया है[4]। कुछ श्रौतसूत्रों की रचना भी वैदिक काल के अन्तिम चरण में प्रारम्भ हो गयी थी[5]।

गंगा घाटी में होने वाले पुरातत्वीय उत्खननों से जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, उनसे भी उत्तर-वैदिक कालीन समाज तथा संस्कृति के विषय में जानकारी उपलब्ध होती है। पुरातत्वीय और साहित्यिक

---

१ विण्टरनित्ज, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर, वाल्यूम १, पृ० १९०-१९१।

२ विण्टरनित्ज, वही, पृ० १९०।

३ विण्टरनित्ज, वही, पृ० १९१।

४ एस० के० बेल्वल्कर तथा आर० डी० रानाडे, हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, पृ० ८७।

५ आश्वलायन, कात्यायन, शांखायन, लाट्यायन, द्राह्यायण तथा सत्याषाढ़ आदि कुछ प्रधान श्रौतसूत्रों को लगभग ८०० ई०पू० से ४०० ई०पू० के मध्य — निर्धारित किया गया है; वैदिक एज, पृ० ४७७।

साधनों के बीच तादात्म्य के अभाव के बावजूद विद्वानों ने दोनों को सम्बन्धित करने की चेष्टा की है । चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के स्तरों से प्राप्त सामग्री का उपयोग उत्तर-वैदिक कालीन समाज के अध्ययन के लिये किया जा सकता है । पहले इस संस्कृति का काल मोटे तौर पर लगभग ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू०[१] के मध्य निर्धारित किया गया था, किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि तब तक भगवानपुर तथा दधेरी के उत्खनन-परिणाम घोषित नहीं हुए थे । प्रथम अध्याय में इस तथ्य का संकेत किया जा चुका है कि भगवानपुर तथा दधेरी से प्राप्त चित्रित-धूसर मृद्भाण्डों की तिथि द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व के मध्य निर्धारित की गयी है[२]।

सामाजिक विकास

ऋग्वेद के युग में सभ्यता का केन्द्र पश्चिम से

---

१ विभा त्रिपाठी, *द पेंटेड ग्रे वेयर, ऐन आयरन एज कल्चर आफ नार्दर्न इण्डिया*, पृ० ९८ ।

श्री विद्याधर मिश्र ने चित्रित धूसर मृद्भाण्डों की प्राचीनता १२वीं शताब्दी ई० पू० के आसपास निर्धारित की थी ; 'ओरिजिन एण्ड ऐंटीक्विटी आफ द पेन्टेड ग्रे वेयर', *यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद स्टडीज़*, न्यू सीरीज़, वाल्यूम २, नं० १ ; १९७०, पृ० ११-२४ ।

२ देखिये पीछे अध्याय 1, पृ० [illegible]

(जहां पंजाब में पंचजन लोगों का निवास था) पूर्व की ओर विस्तारोन्मुख हो रहा था, किन्तु उस उत्तर-युग में सभ्यता के पूर्व की ओर प्रसार की यह प्रक्रिया निश्चित रूप से पूरी हो चुकी है[1]। आर्य-जीवन की धुरी अब पंजाब न होकर क्रमशः कुरुक्षेत्र, गंगा-यमुना का दोआब कुरु-पंचाल, कोसल, काशी और विदेह के क्षेत्र बनते जा रहे थे[2]। शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान से सूचित होता है कि विदेघ माथव ने सरस्वती से चल कर सदानीरा (आधुनिक गण्डक नदी), जो उस समय कोसल की पूर्वी सीमा थी, को पार कर विदेह भूमि में यज्ञाग्नि पहुंचायी थी[3]। संहिताओं में कोसल तथा विदेह का नाम नहीं प्राप्त होता है जब कि इनका नाम शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि अब आर्य सभ्यता का केन्द्र पश्चिम न रह कर पूर्व हो गया था। इसके लिये उन्हें गंगा घाटी के दीर्घारण्यों को विदग्ध करना पड़ा होगा[4]।

आर्यों के प्रसरण के फलस्वरूप बदलते हुए भौगोलिक

---

१ आर० के मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनु० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० १०८।

२ क्रिकेट एण्ड रेमण्ड आल्चिन, द बर्थ आव इण्डियन सिविलाइजेशन, पृ० २०६।

३ शत० ब्रा० १.४.१.१० ; १.४.१.१४।

४ विजयबहादुर राव, उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० ४०।

परिवेश के कारण उत्पादन के साधनों तथा तकनीकी ज्ञान में वृद्धि हुई होगी । अब युद्ध और संघर्ष की अपेक्षा आर्यों और आदिम जातियों के सम्मिश्रण की प्रवृत्ति अधिक सक्रिय हो चली जिसके फलस्वरूप कुछ आदिम जातियों के लोग भी आर्य-समाज में आत्मसात हो गये होंगे[1]। तरह-तरह के शिल्प, वाणिज्य तथा व्यापार का विकास हुआ होगा । सामाजिक संस्थान अब जटिलता (Complexity) की ओर बढ़ने लगा, तथा उसके प्रभावशाली नियन्त्रण के लिये धार्मिक चिन्तन तथा राजनीतिक संस्थाओं का विकास भी तेज़ी से होने लगा ।

इस युग में होने वाले महत्वपूर्ण सामाजिक विकास की पृष्ठभूमि में आर्थिक आधारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी होगी । लोहे का ज्ञान इस काल की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध हुआ, जिसके माध्यम से अधिक जंगली भूमि को साफ़ कर कृषि-योग्य बनाया गया होगा[2]। लोहे के प्रथम स्तरबद्ध पुरातत्वीय अवशेष सर्वप्रथम अहिच्छत्र से प्राप्त हुए थे[3]। यहां चित्रित धूसर मृद्भाण्डों के स्तर से प्राप्त होने वाले

---

१ सम्मिश्रण की प्रवृत्ति पूर्व-वैदिक काल से ही चली आ रही थी । देखिये पीछे अध्याय १।

२ विलियम कर्क, 'द रोल आव इण्डिया इन द डिफ्यूज़न आव अर्ली कल्चर', द ज्योग्रैफिकल जर्नल, वाल्यूम १४१, पार्ट १, मार्च, १९७५, पृ० ३० ।

३ आल्चिन, बर्थ आव इण्डियन सिविलाइज़ेशन, पृ० २१० ।

लौह-उपकरण महत्वपूर्ण हैं जो हस्तिनापुर[1], रूपड़[2], पानीपत[3], इन्द्रप्रस्थ[4], मथुरा[5], बैराट[6], सोनपत[7], अतरंजीखेड़ा[8], आलमगीरपुर[9], श्रावस्ती और नोह[10] से प्राप्त हुए हैं। इनमें से अतरंजीखेड़ा के लौह उपकरणों की दो तिथियां १०२५ ± ११० ई० पू० तथा ५३५ ई० पू० हैं, नोह से ८२१ और ६०४ ई०पू०

---

१ बी० बी० लाल, 'एक्सकेवेशन्स एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स इन द अपर गंगा एण्ड सतलज बेसिन', ऐंश्येण्ट इण्डिया नं० १०-११, १९५४-५५, पृ० १३।

२ इण्डियन आर्क्योलाजी : ए रिव्यू, १९५३-५४, पृ० ७।

३ आल्चिन, द बर्थ आव इण्डियन सिविलाइज़ेशन, पृ० २११।

४ आल्चिन, वही।

५ इण्डियन आर्क्योलाजी : ए रिव्यू, १९५३-५४, पृ० १५।

६ इण्डियन आर्क्योलाजी : ए रिव्यू, १९६२-६३, पृ० ३१।

७ आल्चिन, वही, पृ० २११।

८ इण्डियन आर्क्योलाजी : ए रिव्यू, १९६६, पृ० ३४।
आल्चिन, द बर्थ आव इण्डियन सिविलाइज़ेशन, पृ० २१२, बनर्जी, द आयरन एज इन इण्डिया, पृ० २९६; ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, पृ० ५।

९ इण्डियन आर्क्योलाजी : ए रिव्यू, १९५८-५९, पृ० ४४-५।

१० वही, १९७६-७७, पृ० ४४-४६।

तथा अधिकतम से ४७५ ई० पू० की तिथियां प्राप्त हुई हैं।[1] अत: गंगा की ऊपरी घाटी एवं गंगा-यमुना दोआब में लोहे के परिचय तथा प्रयोग के व्यापक प्रमाण स्थूल रूप से १०७५ से ४७५ ई० पू० के मध्य प्राप्त होते हैं।[2] इन स्थलों से सामान्यतया बाणों के अगले भाग (शर) कटीली पत्ती के आकार वाले सॉकेटेड टैंग, बर्छियां, पिनें, कीलें, कुल्हाड़े और चिमटे प्राप्त हुए हैं।[3] इन तमाम उपकरणों में कुल्हाड़ा ही एक ऐसा उपकरण है जो किसी न किसी रूप में जंगलों की कटाई द्वारा कृषि-योग्य उर्वर भूमि के तैयार करने का माध्यम बना होगा। अन्य उपकरण युद्ध तथा कुछ शिल्पों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।[4] विशेष कर कीलों तथा पिनों का प्रयोग गृहों, गाड़ियों तथा रथों के उपयोगी उपकरणों को मज़बूत बनाने में किया जाता होगा।

---

१ आल्चिन, *द बर्थ आव इण्डियन सिविलाइज़ेशन*, पृ० २११।

२ आल्चिन, वही, पृ० २११ ; डी० के० चक्रवर्ती, 'बिगिनिंग आव आयरन इन इण्डिया'; *पर्सपेक्टिव्स इन पैलियोएन्थ्रोपॉलजी*, सम्पादक, ए० के० घोष, १९७४, पृ० ३४४-३५०।

३ *इण्डियन प्रीहिस्ट्री :* १९६४ ; सम्पादक, वी० एन० मिश्रा तथा एम० एस० मैटे, पृ० १७७-१९९।

४ आर० एस० शर्मा, 'क्लास फार्मेशन एण्ड इट्स मैटीरियल बेसिस इन द अपर गैंजेटिक बेसिन', *द इण्डियन हिस्टॉरिकल रिव्यू*, वाल्यूम २, नम्बर १, जुलाई १९७५, पृ० ३।

पूर्व की ओर आर्यों के प्रसार तथा लोहे के कुल्हाड़े द्वारा साफ़ की गयी जंगली भूमि के माध्यम से कृषि-योग्य भूमि अधिक मात्रा में उपलब्ध हुई, जिससे मात्र आवश्यकता से अधिक अन्न का उत्पादन सम्भव हुआ। इस युग में पहले की अपेक्षा कृषि के विकास का संकेत देने वाले नवीन अनाजों[1] की खेती के प्रचुर उल्लेख मिलने लगते हैं। अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं[2] तथा खेत को जोतने, बोने, काटने तथा मांड़ने का विवरण इस युग के ग्रन्थों में उपलब्ध होने लगता है[3]। उत्पादन के अतिरेक से यह स्पष्ट है कि अब अर्थ-व्यवस्था केवल अपने ही भरण-पोषण (Subsistence) के स्तर की न हो कर अपेक्षाकृत बढ़े हुए अतिरिक्त उत्पादन(Surplus)

---

१ अथर्व० ६.१४०.२; २०.१३५.१२ ; १८.३.६ माष (उड़द), श्यामाक (सांवा), हारिद्राका (सरसों), गन्ना, तिल, सण आदि का उल्लेख मिलता है।

वाज० सं० १८.१२, १९.२२, [illegible], २१.२९.७, १०.२४ तथा १२.४ में गोधूम, यव, व्रीहि, माष, मुद्ग, मसूर, तिल श्यामाक, प्रियंगु, नीवार आदि का वर्णन मिलता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (३.१४.३) में धान (व्रीहि), यव, सरसों (सर्षप), श्यामाक तथा श्यामाक तण्डुल का विवरण प्राप्त होता है।

२ तै० सं० ५.१.७.३, विजय बहादुर राव, उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० ५४।

३ शत० ब्रा० ७.१.१.४ ; द्रष्टव्य विजय बहादुर राव, उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० ५५।

के स्तर की हो गयी थी । इस स्तर पर अन्न के अपेक्षाकृत अतिरेक से समाज के गैर उत्पादक वर्गों (पुरोहितों तथा राजन्यों) तथा सेवकों का भरण-पोषण अधिक मात्रा में सम्भव हो सका होगा जो कि पूर्ववर्ती ऋग्वैदिक युग में इतनी अधिक मात्रा में सम्भव नहीं रहा होगा[1] ।

उत्पादन के अतिरेक ने जहां एक ओर व्यक्तिगत सम्पत्ति[2] के विकास को प्रोत्साहित किया वहां दूसरी ओर संयुक्त परिवारों के विघटन की पृष्ठभूमि भी तैयार की । पूर्व-वैदिक काल में सम्पत्ति पर कुल का अधिकार मिलता है परन्तु अब विभिन्न पारिवारिक सदस्यों में ही सम्पत्ति का विभाजन भी मिलने लगता है । तैत्तिरीय संहिता में प्राप्त एक प्रसंग के अनुसार मनु ने अपने जीवनकाल में ही अपनी सम्पत्ति का विभाजन

---

१ आर० एस० शर्मा, 'क्लास फार्मेशन एण्ड इट्स मैटीरियल बेसिस इन द अपर गैंगेटिक बेसिन', द इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यू, जुलाई,१९७५ वाल्यूम २, नम्बर १, पृ० २ ।

२ ऋग्वेद० २.२६.३, ४.३६.४, ५.३.५, ७.५.२, ७.१७.४, ७.६७.१, १०.१.१० (द्रविणं) ; ७. ८२. १ (द्रविणाग्नि) ; १६.३२ (द्रविणोदा); १.१५.३-४, २.७.४ , ३.१५.२, ५ तथा ६, ४.३७.७ (धनं) ; ७.५०.७ (धनाग्नि); ५.१८.५ (धनकाम) ; ४.२२.३ (धनपति), १६.३५.२ (धनपाल) ; ४.३१.२, ५.२०.४ तथा १०, ६. ६६.३ (वेदस्) ।

पुत्रों के मध्य कर दिया था[1]। दायविभाजन में सबसे बड़े पुत्र को प्राथमिकता दी जाती थी[2]।

उत्पादन के अतिरेक से विभिन्न शिल्प तथा उद्योगों में उन्नति हुई। इस प्रगति की सूचना यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता में प्राप्त होती है। इसमें कई नये पेशेवरों के नाम हैं। कई तरह के मछुवे (धीवर, दास और कैवर्त), खेत बोने वाले (वपु), धोबी (वास पल्पूली), मणिकार, बेंत का काम करने वाले (विदलकारी), रस्सी बटने वाले (रज्जु सर्ज), धनुष्कार, इषुकार, लोहा गलाने वाले लुहार (अयस्ताप), सुनार (हिरण्यकार), वन-खंड की देख-रेख करने वाले (वनप), जंगली आग बुझाने वाले (दावप), वस्त्रों पर सुई आदि से कढ़ाई करने वाले, (पेशकार) आदि शिल्पियों के उल्लेख मिलते हैं। पेशेवर नट (वंश नर्तिन्[3]) तथा नाविक (नावाज[4]) का उल्लेख भी प्राप्त होता है। पर कृषि एवं उद्योगों के बीच विशेष अलगाव इस काल में भी न रहा होगा।

---

१ तै० सं० ३.१.९.४ ; तुलनीय, म्योर, ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, १.१९१-१९४ ; इसी प्रसंग का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण ५.१४ में भी हुआ है। द्रष्टव्य, वैदिक इंडेक्स भाग १, पृ० ३५२। जैमिनीय ब्राह्मण (३.१५६) अभिप्रतारिन् राजा के पुत्रों के मध्य सम्पत्ति विभाजन का उल्लेख करता है।

२ तै० सं० २.५.२.७ ; ताण्ड्यमहाब्राह्मण, १६.४.४.३ ।

३ यजु० ३०, २१ ।

४ शत० ब्रा० २.३.३.१५ ।

विनिमय के माध्यम के रूप में गाय के अतिरिक्त 'निष्क' तथा हिरण्यपिण्ड के कुछ सीमा तक प्रचलन के प्रमाण ऋग्वैदिक काल में ही मिलने लगते हैं। इस काल में सुविदित तौल के सुवर्ण-खण्ड के रूप में विनिमय के कुछ अन्य शतमान, पाद तथा कृष्णल का भी उल्लेख मिलने लगता है[1]। इनके प्रयोग के कारण अब व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के संचालन में अपेक्षाकृत अधिक सरलता होने लगी होगी। पर सिक्कों की परम्परा का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम चरण से सम्बन्धित कुछ तांबे के ठेकांकित ढले हुए सिक्के कौशाम्बी से मिले हैं जिनकी तिथि नवीं शताब्दी ई० पू० में निर्धारित की गयी है[2]।

सामुद्रिक यात्रा के लिये उपयोगी सौ डाँडों वाले जलपोत[3] सम्भवतः सामुद्रिक व्यापार के निमित्त प्रयुक्त किये जाते होंगे[4]। वणिक तथा ब्याज लेने वाले बोहरे (कुसीदी)[5] का भी वर्णन मिलता है। कई स्थानों पर श्रेष्ठि या प्रधान व्यापारी का उल्लेख है[6]। सम्भवतः यह

---

1 मै० सं० २.२.२, ४.४.४ ; काठ० सं० वात्सुम ११.५, १४.८ ; तै० सं० २.३.२.३ ।

2 जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी (१९५७-५९), पृ० १६ ।

3 वाज० सं० २१.७ ।

4 शत० ब्रा० १.६.४.११ ।

5 शत० ब्रा० १३.४.३.११ ।

6 ऐत० ब्रा० ३.३०.३, ४.२५.८-९, ७.१८.८ ; बृ० उप० १.४.१२ इत्यादि ।

श्रेणि का मुखिया होता था और श्रेष्ठ्य शब्द श्रेणि के प्रधान पद के विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[1]।

ताँबे के ज्ञान, कृषि के विकास, अपेक्षाकृत बढ़ते हुए उत्पादन तथा उद्योग और व्यापार के विकास ने नगरों के उदय को भी प्रोत्साहित किया। उत्तर-वैदिक साहित्य के परिशीलन से गंगा-घाटी में कई नगरों के नाम ज्ञात होते हैं। नगरों में हस्तिनापुर तथा कौशाम्बी का अस्तित्व साहित्यिक[2] तथा पुरातात्त्विक[3] दोनों ही साक्ष्यों से प्रमाणित है। ऐतरेय ब्राह्मण[4] में अयोध्या का उल्लेख हुआ है[5]। परिचक्रा, काम्पिल्य[6] तथा आसन्दीवन्त का उल्लेख भी

---

१ आर० के० मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनुवादक, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ११४।

२ गोपथ ब्रा० १, २, २४ ; शत० ब्रा० १२, २, २, १३।

३ जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, १९४९-५०, पृ० १४।

४ ऐत० ब्रा० १२, ४, १।

५ शत० ब्रा० १३, ५, ४, ७।

६ तै० सं० ७,४,१९, १ ; मै० सं० ३,१२, २०।

७ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० ७२ ; उदयनारायण राय, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृ० १४।

नगरों के रूप में हुआ है। पुरातात्विक अवशेषों से कौशाम्बी के अतिरिक्त अतरंजीखेड़ा, नोह, चिरांद के बारे में भी ज्ञात होता है।

जनों की परम्परा का अधिक क्षीण होना तथा चातुर्वर्ण्य का उदय

पीछे जिन सामाजिक-आर्थिक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया जा चुका है, उन्होंने पूर्व-वैदिक काल में गतिशील जनों के विघटन की प्रक्रिया को और अधिक सक्रिय बनाया। इस काल में ऋग्वेद के अनु और द्रुह्यु, तुर्वश, क्रिवि, पुरु और भरतों का नाम नहीं सुन पड़ता। उनके स्थान पर नये जन और एकीकृत राज्यों का नाम आने लगता है जिनमें कुरु-पंचाल मुख्य थे[1]। उन्हीं में सर्वोत्तम राजा थे और सर्वश्रेष्ठ परिषद भी उन्हीं की थी। वे वैदिक संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि, शिष्टाचार के आदर्श, उत्तम संस्कृत भाषा के वक्ता तथा यज्ञों में विधिपूर्वक यजन[2] करने करने वाले थे। कुरु-पंचाल उन्नति की पराकाष्ठा परीक्षित और जनमेजय के समय में हुई।

जन-विभाजन की प्रवृत्ति का अपेक्षाकृत गहरा होना और चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का विकास भी जनों की क्षीण होती हुई परम्परा की ओर संकेत करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त समाज के

---

१ आर० के० मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, अनुवादक, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० १०६।

२ शत० ब्रा० १.७.२.८ ; ५.५.२.३ ।

चौथे वर्ण के रूप में शूद्र वर्ण का उदय भी हो गया था[1]। इन चारों वर्णों का विवरण उत्तर-वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलता है । स्वयं ब्राह्मण वर्ग में भी पुरोहितों का संयोजन अलग-अलग कार्यों के लिये किया जाने लगा था । ऋत्विक् ऋग्वैदिक ऋचाओं का पाठ करता था[2]। अध्वर्यु यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था तथा कर्म का भार सम्हालता था । उद्गाता सामगान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ कर्म का अध्यक्ष होता था । सोम यज्ञों में पुरोहितों की संख्या सोलह तक बतायी गयी है जो विविध कर्मों को सम्पादित करते थे । इनमें मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक होते थे[3]।

---

१ आर० एस० शर्मा के अनुसार चौथे वर्ण के रूप में व शूद्रों की स्थिति अथर्ववेद के निर्माण के अन्तिम काल में प्राप्त होती है । सम्भावना यह है कि शूद्रों के उद्गम से सम्बद्ध पुरुष सूक्त का प्रसंग ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसी समय जोड़ा गया होगा ; शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४० ।

२ विजय बहादुर राव, उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ० २०२ ।

३ एम० पी० ओझा, सोम-विनियोग आव द मण्डल्स आव द ऋग्वेद-संहिता, (अप्रकाशित शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, यूनिवर्सिटी आव इलाहाबाद, अगस्त, १९७२), पृ० ५७-५९ ।

इसी प्रकार वैश्य वर्ण के अन्तर्गत नवीन शिल्पियों तथा व्यवसायियों का उल्लेख मिलने लगता है जिनका विवरण पीछे किया जा चुका है। ये नवीन शिल्प तथा उद्योग श्रम-विभाजन के अपेक्षाकृत गहरे होने का आभास देते हैं किन्तु इनके मध्य विशेष अलगाव इस काल में भी न रहा होगा।

शूद्र वर्ण का कार्य तथा धर्म तीन उच्च वर्णों की सेवा बताया गया है। समाज के चतुर्थ वर्ण के रूप में उल्लिखित इस शूद्र वर्ण का नाम शूद्र जन के आधार पर पड़ा होगा[1]। यह शूद्र जन आर्यों की एक अनुगामी शाखा प्रतीत होता है जो पहले से ही आये हुए अन्य आर्यों द्वारा पराजित होकर धीरे-धीरे समाज के चतुर्थ वर्ण में समाहित हो गया[2]। पुरातत्वीय साक्ष्यों के आधार पर भी यह सम्भावना व्यक्त की गयी है कि द्वितीय सहस्राब्दी के काफी बाद तक भारत में आर्यों का आगमन निरन्तर होता रहा। जिस प्रकार एरियन द्वारा उल्लिखित अबेस्टनोई (Abastanoi) का समीकरण ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लिखित अम्बष्ठ से किया जा सकता है उसी प्रकार ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित सोड्राई (Sodrai) का समीकरण इस शूद्र जन से किया जा सकता है[3]।

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३०-३१।

२ आर० एस० शर्मा, वही, पृ० ३५।

३ आर० एस० शर्मा, वही, पृ० ३०-३१।

सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप

ऋग्वैदिक समाज में वर्णों का उदय प्रारम्भ हो चुका था जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं[1]। उत्तर-वैदिक समाज में इनका स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो चला था। ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में समाज के चार वर्णों का उल्लेख उत्तर-वैदिक साहित्य में स्थान-स्थान पर हुआ है[2]। बढ़ते हुए प्रजातीय सम्मिश्रण तथा उत्पादन के अतिरेक से बढ़ती हुई आर्थिक असमानताओं के कारण वर्णों अथवा आर्य-दास वर्ण पर आधारित विभाजक रेखा क्षीण हो चली थी। वर्णों का यह विघटन पूर्ववर्ती काल से ही चला आ रहा था। शरीर के रंग के आधार पर मूलतः पृथक मानव समुदायों--आर्य और आर्येतर--के सन्दर्भ में व्यवहृत होने वाला 'वर्ण' शब्द अब समाज के आन्तरिक स्तरीकरण का परिचायक बनने लगा था।

उत्तर-वैदिक काल में वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई विचार मिलते हैं। पर सामाजिक स्तरीकरण की परम्परा-सम्बन्धी

---

१ देखिये पीछे, अध्याय १, पृ० 31

२ ऋ० पुरुषसूक्त १०. ९० ; अथर्व० १९.६.६; मै० सं० ३.४.८; वाज० सं० १४.२८ ; ३१. ११ ; का० सं० ३७. १ ; तै० सं० ७.१.१.४-५ ; ऐत० ब्रा० ७.१९.१ ; शत० ब्रा० १.१.४.१२, ३.१.१.१०, ५.५.४.९ ; १४.४.२.२३-२५ ; बृ० उप० १.४.१०-१३ ।

विचार अपने बीज रूप में सबसे पहले ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। पुरुषसूक्त में मिलने वाला यह विचार उत्तर-वैदिक काल के कुछ अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है[1]। इसके अनुसार विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से राजन्य अथवा क्षत्रिय की, ऊरु से वैश्य की तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। यहाँ यह विचार निहित है कि विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न होने के कारण समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद शरीर के अन्य अंगों--बाहु, ऊरु तथा पैर-- के महत्त्व के अनुरूप निम्नाभिमुखी क्रम में क्रमशः राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान है। ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित जनों का अस्तित्व पहले भी रहा होगा अतः चतुर्थ शताब्दी ईसा-पूर्व में स्थित शूद्र जन का सम्बन्ध लगभग दसवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के शूद्र वर्ग से जोड़ा जा सकता है[2]। इस शूद्र जन के अतिरिक्त चतुर्थ वर्ण में वे पराजित आर्य तथा आर्येतर भी सम्मिलित थे जो सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा खो चुके थे[3]।

---

१ ऋ० १०.९०.१२ ; अथर्व० १९.६.६ ; वाज० सं० ३१.११ ; तै० आ० ३.१२।

२ आर० एस० शर्मा, शूद्रज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ३०-३१।

३ आर० एस० शर्मा, शूद्रज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४० ; साक्ष्यों को देखते हुए, जिसका विस्तृत विवरण यहाँ सम्भव नहीं है, आर० एस० शर्मा का उपर्युक्त मत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

ब्राह्मण

चारों वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ब्राह्मण को विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न बताया गया है[1] जो समाज में उनकी सर्वोच्च स्थिति का द्योतक है । ब्राह्मणों के देवत्व की कल्पना स्थान-स्थान पर अनुमोदित हुई है[2]। ब्राह्मणों के लिये 'भगवन्त' शब्द का प्रयोग उनकी समुन्नत स्थिति का परिचायक है[3]। ब्राह्मणों को अग्नि से सम्बन्धित कर उनकी पवित्रता बतायी गयी[4]।

ब्राह्मणों के लिये ऐतरेय ब्राह्मण[5] में प्रयुक्त 'आपायी' तथा 'आदायी' शब्द उनके विशेषाधिकार की पुष्टि करते हैं यज्ञ की

---

१ ऋ० १०.९० ; अथर्व० १९.६.६ ; वाज० सं० ३१.११ ; ताण्ड्य-महाब्राह्मण ६.१.६ ; पंच ब्रा० ५.१.६-१० ; तै० आरण्यक ३.१२.५-६; गायत्री द्वारा ब्राह्मणों की रचना का प्रसंग बृ० उप० ५.१४.१ में प्राप्त होता है ।

२ अथर्व० १९.६२.१ ; तै०सं० १.७.३,१ ; काठ० सं० ८.१३, मै०सं० १.४.६ ; तै० ब्रा० १.२.६,७ ; शत० ब्रा० २.२.२.६, ४.३.४.४ ।

३ शत० ब्रा० ११.५.७.१ ; बृ० उप० ३.८.१२ ; ३.९.२० ; छां०उप० १.८.२ ।

४ अथर्व० २.६.३१ ; पंच० ब्रा० १६.६.१४ ।

५ ऐत० ब्रा० ८.२४ ।

अवशिष्ट सामग्री के एकमात्र अधिकारी ब्राह्मण थे[1]। ब्राह्मणों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्ति को भयंकर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ता था[2]। सृंजय वैतहव्यों की पराजय इसी प्रकार का एक दुष्परिणाम बतायी गयी है[3]। ब्राह्मणों की निन्दा न करने का निर्देश छान्दोग्य उपनिषद में मिलता है[4]। उनको अनुचित बात कहना 'ब्रह्महत्या' के समान बताया गया है[5]। ब्राह्मणों के कर्तव्यों के प्रसंग में ब्राह्मण्य, प्रतिरूपचर्या, यश और लोकपंक्ति का उल्लेख करते हुए शतपथ ब्राह्मण उन्हें अर्चा, दान, अजेयता तथा अवध्यता का अधिकारी बताता है[6]।

अधिकांश स्थलों पर राजन्यों की अपेक्षा ब्राह्मणों की श्रेष्ठ स्थिति ही अनुज्ञापित की गयी है[7]। राजा के लिये पुरोहित

---

१ *ऐत० ब्रा०* ७.२४ में ब्राह्मण को 'हुताद्' तथा राजन्य, वैश्य तथा शूद्र को 'अहुताद्' कहा गया है। तुलनीय *शत०ब्रा०* २.३.१.३६ ।

२ *अथर्व०* १२.४.३ ; १२.४.३२ ; १२.५.५-६ ।

३ *अथर्व०* ५.१८.१० ।

४ *छां० उप०* २.२०.२ ।

५ *छां० उप०* ७.१५.२ ।

६ *शत० ब्रा०* ११.५.७.१ ; पी०वी० काणे, *हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र*, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ३७ ।

७ *मै० सं०* ४.३.८ ; *का०सं०* २९.१० ; *वाज०सं०* २१.२१ ; *ऐत०ब्रा०* ७.१५, ८.९ ; *पंच०ब्रा०* २.८.२,११.११.९,१५.६.३ ; *शत० ब्रा०* ५.४.४.१५, १३.१.९.१ ; *वैदिक इंडेक्स*, भाग २, पृ० ८१ ।

अनिवार्य था[1]। यह धारणा थी कि पुरोहित-विहीन राजा का अन्न देवता स्वीकार नहीं करते थे[2]। ब्राह्मणों की सहायता तथा अनुकूलता राजा के लिये आवश्यक बतायी गयी है[3]। राज्य की सुरक्षा के लिये ब्राह्मणों की रक्षा का निर्देश किया गया है[4]। 'ब्रह्म' को क्षत्रिय की योनि कहा गया है ; इसीलिये यह बताया गया है कि राजसूय यज्ञ में उत्कृष्टता को प्राप्त करने पर भी उसे अन्त में ब्राह्मण का ही आश्रय लेना पड़ता है[5]। यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो क्षत्रिय ब्राह्मण की हिंसा करता है वह स्वयं अपना ही नाश करता है[6]।

राजन्य अथवा क्षत्रिय

राजन्य अथवा क्षत्रिय की उत्पत्ति विराट पुरुष की भुजाओं से बतायी गयी है[7]। समाज में इनका स्थान वैश्यों से ऊपर

---

१ ऐत० ब्रा० ८.२४ ।

२ ऐत० ब्रा० ४०.१ ; योगिराज बसु, इण्डिया आफ द एज आफ द ब्राह्मणाज़, पृ० २५ ।

३ अथर्व० ५,१९,१५ ।

४ अथर्व० ५,१९,१८ ।

५ बृ० उप० १.४.११ ।

६ वही ।

७ अथर्व० १९,६, ६ ।

था[१]। अथर्ववेद में क्षत्रियों के द्योतक शब्द क्षत्रिय, राजन्य और नृपति प्राप्त होते हैं[२]। इस वर्ग में सम्पूर्ण राजकीय वर्ग तथा उससे सम्बन्धित परिवारों के अतिरिक्त योद्धाओं का परिगणन भी किया गया है[३]। इनका प्रधान कार्य युद्ध के लिये तैयार रहना था[४]। राजा के रूप में क्षत्रिय व्याघ्र के समान शत्रुओं का विनाशक कहा गया है[५]। अथर्ववेद में एक स्थल पर कहा गया है, कौन प्रशस्त फल चाहने वाला क्षत्रिय हम लोगों को इस अनिष्टकारी बाधा से मुक्त करेगा[६]।

क्षत्रिय अथवा राजन्य ओज तथा शक्ति का प्रतीक समझा जाता था[७]। पुरोहित, अभिजात वर्ग (Nobility) तथा वैश्य को यज्ञ के निमित्त भूमि की याचना राजा से करनी पड़ती थी जबकि स्वयं राजा अपने लिये भूमि की याचना पृथ्वी-देवता से करता था[८]। इस आधार पर

---

१ काठसं० १६,४ ; २१, १० ; २२,६ ; १६.६.१० ; ऐत०ब्रा० २.३३ ; शत० ब्रा० ११.२.७.१५-१६, वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० २०४ ।

२ अथर्व० ४.२२.२, ५.१८.१५ ; १५.८.१ ।

३ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० २०४ ।

४ वही ।

५ अथर्व० ४.२२.७ ।

६ अथर्व० ७.१०३.१ ।

७ ऐत० ब्रा० ८.३७.३ ।

८ ऐत० ब्रा० ७.२० ; इस आधार पर के० बसु ने यह विचार प्रकट किया है कि भूमि राज्य की होती थी और राजा उसका अधिकारी होता था ।

क्षत्रियों के राजनीतिक प्रभुत्व का अनुमान लगाया गया है । यह इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि विश अथवा प्रजाजन क्षत्रिय के लिये बलि प्रदान करते थे[1]। इसीलिये क्षत्रियों को विश का 'अत्ता' तथा शूद्रों को मृत्युदण्ड देने का अधिकारी बताया गया है[2]। राजनीतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई और राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा गया[3]। राजसूय के अवसर पर बृहदारण्यक उपनिषद भी क्षत्रियों को श्रेष्ठ बताता है ।.... क्षत्रियों से श्रेष्ठ कोई नहीं है, इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है तथा क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है[4]। इसी प्रसंग में आगे बढ़ कर यह भी कहा गया कि अन्त में क्षत्रिय को ब्राह्मण का ही आश्रय लेना पड़ता है । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्ततः ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति ही सर्वोपरि थी । लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में प्रभुत्व क्षत्रियों का था । प्रभुता-प्राप्ति के लिये होने वाले इस संघर्ष को रोकने के लिये ही सम्भवतः इन दोनों उच्च वर्गों में पारस्परिक सहयोग की भावना बनाये रखने का प्रयास किया गया है, जो अधिकांश स्थलों पर द्रष्टव्य है[5]।

---

१ शत० ब्रा० १.३.२.१५ 'इमा विशा क्षत्रियाय बलिं हरन्ति' ।

२ अथर्ववेद - ४.२२.७ ; ऐत० ब्रा० ७.२९.१ ; तै० ब्रा० ३.१२.६ ।

३ ऐत० ब्रा० ८.१७ ।

४ बृ० उप० १.४.११, पृ० २८६ ।

५ देखिये आगे, पृ०

वैश्य

ब्राह्मण तथा क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों की सामाजिक स्थिति हीन थी । इस वर्ग में कृषक, वणिक तथा विभिन्न शिल्पों द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले वे लोग सम्मिलित थे जो ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग के अन्तर्गत नहीं आते थे[1]। समाज में इस वर्ग के सदस्यों का स्थान शूद्र वर्गीय सदस्यों की अपेक्षा उच्च था । ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों द्वारा वैश्यों को दबा कर रखने के प्रसंग आगे दिये गये हैं । इस शोषण में ब्राह्मणों ने पूरा सहयोग क्षत्रियों को दिया[2]। यह स्थिति शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से अनुप्राणित हुई है । राजसूय यज्ञ के सन्दर्भ में मधुग्रह नामक एक संस्कार का वर्णन है जिसमें अध्वर्यु नामक पुरोहित क्षत्रियों को सत्य, श्री तथा ज्योति से अनुप्राणित करता था और वैश्य को अनृत, पाप तथा तम से[3]।

शूद्र

वर्णों में शूद्रों की स्थिति सबसे निम्न थी । इसीलिये उनकी उत्पत्ति की कल्पना विराट् पुरुष के पैरों से की गयी है[4]। उनकी शोषित स्थिति का उल्लेख आगे किया जायगा[5]। तैत्तिरीय

---

१ वैदिक इंडेक्स, भाग २, पृ० २५४ ।

२ देखिये आगे, पृ० ८४-८०।

३ शत० ब्रा० ५,१,५, २८ ।

४ अथर्व० १९,६,७ ।

५ देखिये आगे, पृ० ८०।

ब्राह्मण में शूद्रों को असुरों अथवा राक्षसों से उत्पन्न बताया गया है[1]। शूद्रों को अयज्ञीय बताते[2] हुए प्रवर्ग्य यज्ञ में शूद्र के साथ सम्पर्क वर्जित बताया गया है[3]। शतपथ ब्राह्मण में शूद्र को 'तप' के साथ समीकृत किया गया है[4]। तप से यहाँ तात्पर्य कठिन परिश्रम से है[5]। बृहदारण्यक उपनिषद में भी कुछ इसी प्रकार का प्रसंग वर्णोत्पत्ति के सम्बन्ध में आया है[6]। ज्ञान, शक्ति तथा सम्पत्ति के अतिरिक्त समाज को सेवा तथा कर्म की भी आवश्यकता थी, इसीलिये ब्रह्म जब विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की[7]।

<u>वर्णबाह्य</u>

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ समुदाय ऐसे भी थे जिनकी स्थिति शूद्रों से हीन थी। इसका कारण सम्भवतः यह था कि उनका सांस्कृतिक स्तर बहुत निम्नकोटि का था तथा उनका सम्बन्ध अनार्यों से था। इनमें निषाद, चण्डाल तथा पौल्कस का नाम विशेष उल्लेखनीय

---

१ तै० ब्रा० १.२.६.७ ।

२ पंच० ब्रा० ६.१.११ ; शत० ब्रा० ३.१.१.९-१० ।

३ शत० ब्रा० १४.१.१.३१ ।

४ शत० ब्रा० १३.६.२.१० ।

५ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ०

६ बृ० उप० १.४.१३ ।

७ राधाकृष्णन्, प्रिंसिपल उपनिषद्स, पृ० १७०

है[1]। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर कहा गया है कि पश्चिम दिशा में रहने वाले नीच्यों तथा अपाच्यों के राजा `स्वाराज्य` के लिये ही अभिषिक्त हो सकते थे[2]। इसी ब्राह्मण के शुनःशेप आख्यान के सन्दर्भ में विश्वामित्र ने अपने कुछ पुत्रों को अन्ध्र, शबर, पुण्ड्र, पुलिन्द, मूतिब हो जाने का शाप दिया[3]। ये सम्भवतः समाज के हीन वर्ग के समुदाय रहे होंगे।

निषादों का सर्वप्रथम उल्लेख यजुर्वेद के रुद्राध्याय में हुआ है तथा संहिताओं में शतरुद्रिय स्तुतिमाला के सन्दर्भ में निषादों के प्रति भी सम्मान प्रदर्शित किया गया है[4]। वे xxxxx० निषादों को

----

१ एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ८६।

२ ऐत० ब्रा० ८, ३८, ३।

`..... एतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते `।

३ तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः ... ते ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे तानन्व्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः"

ऐत० ब्रा० ३३.६।

४ तै०सं० ४.५.४.२ ; काठक संहिता १७.१३, मैत्रा०सं० २.९.५; वाज०सं० १६, २७, ऐत० ब्रा० ८.११ ; पंच ब्रा० १६.८.८, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ४५३।

आस्ट्रिक (Austric) प्रजातीय प्रकार का बताया गया है ।। ये सम्भवतः आर्य आधिपत्य के अन्तर्गत नहीं थे[1]। लाट्यायन श्रौतसूत्र में निषादग्राम तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में निषाद स्थपति का विवरण मिलता है[2]। विश्वजित यज्ञ के सन्दर्भ में निषादों के साथ अल्पकालीन निवास की व्यवस्था भी की गयी है[3]। इस काल में निषादों की

---

१ डी० डी० कोसम्बी, *द कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन आव ऐंश्येण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन*, पृ० ८६ ; बी० सी० ला, *ट्राइब्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया*, पृ० ४३ ; आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित *वैदिक एज*, पृ० २४५ ।

२ *ला० श्रौ० सू०* ८.२.८ ; *कात्या० श्रौ० सू०* १.१.१२ *सु० आप० श्रौ० सू०* ६.१४.१२ ; *सत्या० श्रौ० सू०* २५.४.२० ; *वाराह श्रौ० सू०* १.१.१.५ ; आर० एस० शर्मा, *शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया*, पृ० ७१ ; एन० के० दत्त, *ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया*, वाल्यूम १, पृ० ६० ।

३ *शांखा० ब्रा०* २५.१५ ; पी० वी० काणे, *हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र*, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ४६ ; रामगोपाल, *इण्डिया आव वैदिक कल्पसूत्राज़*, पृ० ११६ ।

अस्पृश्यता का उल्लेख नहीं मिलता है, जो अनुगामी काल में दिखायी पड़ने लगती है[2]।

उत्तर-वैदिक ग्रन्थों में चण्डाल तथा पौल्कस को भी घृणा की दृष्टि से देखा गया है किन्तु उनकी अस्पृश्यता का कोई आभास इस काल में नहीं मिलता है[3]। पौल्कस घृणित कार्यों से सम्बद्ध थे[4]। बृहदारण्यक उपनिषद में इन्हें चण्डालों के साथ घृणित समुदाय(४.[illegible])

---

१ विवेकानन्द झा, 'फ्राम ट्राइब टु अनटचेबुल : द केस आव द निषादज़, इण्डियन सोसायटी : हिस्टारिकल प्रोबिंग्स इन मेमरी आव डी० डी० कौसम्बी, पृ० ६९-७० ।

२ आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १३० ।

३ विवेकानन्द झा, स्टेजेज़ इन दी हिस्ट्री आव अनटचेबुल्स ; द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम २, नम्बर १, जुलाई, १९७५, पृ० १४ ।

४ वाज० सं० ३०, १७ ; तै० ब्रा० ३.४.१.१४ ।

के रूप में वर्णित किया गया है[1]। उत्तर-वैदिक ग्रन्थ चण्डालों की वीभत्स स्थिति की ओर संकेत करते हैं[2], जो सम्भवत: उनके हीन आर्येतर सांस्कृतिक स्वरूप की परिचायक है । छान्दोग्य उपनिषद में इन्हें सूकर, श्वान आदि के साथ उल्लिखित किया गया है । इस सन्दर्भ के अनुसार जो अशुभ आचरण वाले होते हैं वे कुत्ते की योनि, सूकरयोनि अथवा चण्डाल-योनि को प्राप्त होते हैं[3]। यह सन्दर्भ चण्डालों की अस्पृश्यता का द्योतक न होकर उनके हीन सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर का द्योतक है ।

वर्ण-बाह्यों में एक समुदाय व्रात्यों का भी था । सर्वप्रथम इनका उल्लेख अथर्ववेद में हुआ । राजा को यह परामर्श दिया गया है कि यदि विद्वान व्रात्य राजा के यहां अतिथि बन कर आय तो राष्ट्र के हित के लिये उसका सम्मान करना चाहिये[4]। इसी प्रकार गृहस्थ के लिये

---

१ बृ० उप० ४.३.२२ ।

२ वाज० सं० ३०, ३१, तै० ब्रा० ३.४.७ ; छां० उप० ५.१०.७ ; ५.२४.४ ; बृ० उप० ४.३.२२ ।

३ 'अथ य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा', छां० उप० ५.१०.७ ।

४ अथर्व० १५.१०.१-२ ।

कहा गया है कि वह अग्निहोत्र का परित्याग करके भी उसका आतिथ्य करे[1]। वाजसनेयि संहिता[2] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण[3] में व्रात्यों की गणना पुरुषमेध में दी जाने वाली बलि के सन्दर्भ में की गयी है। ताण्ड्य महाब्राह्मण[4] में इनका जो विवरण उपलब्ध होता है उसके अनुसार व्रात्य अदीक्षित होते हुए भी दीक्षित वचन बोलते थे। न ही कृषि और वाणिज्य करते थे और न ब्रह्मचर्य का पालन ही करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण व्यवस्था में आचरण रहित जीवन व्यतीत करने वाले व्रात्य घोषित कर दिये जाते थे, जिन्हें समाज में कोई स्थान नहीं दिया जाता था। इनकी वेशभूषा विशेष प्रकार की होती थी[5]। व्रात्यस्तोम के विधान द्वारा इन्हें पुनः वर्ण-व्यवस्था में सम्मिलित कर सम्मान प्रदान किया जाता था।

दास

दास-वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया पूर्व-वैदिक काल में

---

१ अथर्व० १५.१२.१ ।

२ ३०.८ ।

३ ४.५.१ ।

४ १७.१.२ ।

५ ता० महाब्रा० १७.१.१४ ।

भी प्रारम्भ हो चुकी थी[1]। इस काल में दासों की संख्या में पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई। पूर्व-वैदिक काल के समान इस समय भी दासियां तथा दास सेवा-कार्य में ही संलग्न दिखायी देते हैं। उत्पादक कार्यों में उनके नियोजन का कोई प्रसंग उत्तर-वैदिक काल के प्रारम्भ में प्राप्त नहीं होता है।

तैत्तिरीय संहिता स्त्री-दासियों के सन्दर्भ में कुछ ऐसी दासियों का उल्लेख करती है जो अपने सरों पर पानी के घड़े रख कर नृत्य-गान करती हुई प्रदर्शित हैं[2]। स्त्री दासियों का विवरण ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग के अनुसार, राजा अंग ने देश-देश से लायी हुई निष्ककण्ठ वाली दस सहस्र धनिकों की पुत्रियां उदमय को दक्षिणा में दीं[3]। इन्हें दासी बनाया गया होगा, इसी बात की सम्भावना अधिक है। अश्वमेध-निरूपण के प्रसंग में शतपथ-ब्राह्मण घोड़े के पैर धोने के निमित्त लायी हुई चार सौ अनुचरियों का उल्लेख करता है[4]। इसी प्रसंग में आगे चल कर सौ राजपुत्रियों

---

१ देखिये पीछे, अध्याय १, पृ० [illegible]

२ तै० सं० ५.१०.१, 'उदकुम्भानधिनिधाय दास्यो मार्जालीयं परिनृत्यन्ति...'।

३ ऐत० ब्रा० ३९.८ ।

४ शत० ब्रा० १३.५.२.१ '........ चत्वारि च शतान्यनुचरीणां' ।

सौ राजन्य, सौ सूत-ग्रामणी तथा सौ क्षत्तृ-संग्रहीतृ कन्याओं के अनुचरी होने की बात कही गयी है[1]। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद में दासियों का उल्लेख गौ, अश्व, परिवार तथा परिधान के साथ हुआ है[2]। सत्यकाम की माता जाबाला के दासी होने का प्रसंग भी समाज में दासियों की उपस्थिति का प्रमाण है।

पुरुष दासों के प्रसंग भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। तैत्तिरीय संहिता में एक स्थल पर घोड़े तथा पुरुष का उल्लेख एक साथ हुआ है जो सम्भवत: दास के अर्थ में आया है[3]। पुरुष शब्द का एक अर्थ आप्टे ने सेवक या अनुचर भी बताया है[4]। शतपथ ब्राह्मण में 'पुरुष' सम्पत्ति के रूप में प्रयुक्त किया गया है। 'ब्राह्मण की भूमि, पुरुष तथा धन को छोड़ कर राष्ट्र के मध्य में जो कुछ भी है उसमें पूर्व में होता का दक्षिणा में प्रजा

---

१ शत० ब्रा० १३.५.२.१ से ७ तक।

२ बृ० उप० ६.२.७, '..... गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान् ....।'
छां० उप० ५.१३.२, '.........प्रवृत्तो ऽश्वतरीरथो दासीनिष्को ऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं प्रियं।'

३ तै० सं० २.६.३।

४ आप्टे, द प्रैक्टिकल संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० २६।

का तथा पश्चिम में अध्वर्यु का भाग है[1]।" सम्पत्ति के रूप में दास की गणना छान्दोग्य उपनिषद में भी की गयी है[2]। इसी उपनिषद में राजा जनक द्वारा याज्ञवल्क्य के प्रति बैलगाड़ियों सहित दासगण के स्थित होने का प्रसंग भी उपस्थित है[3]।

पहले-पहल कुछ श्रौत-सूत्रों में, जिनकी रचना वैदिक काल के अन्तिम चरण में प्रारम्भ हुई, भूमि पर कार्य करते हुए दासों के कुछ दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं[4]। एक स्थल पर अनाज, हल तथा पशुओं के साथ दो दासों के दिये जाने का विवरण प्राप्त होता है[5]। इसके आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि दासों की नियुक्ति हल चलाने के लिये की जाने लगी थी[6]। इसी सन्दर्भ में आर० एस० शर्मा ने उन प्रसंगों

---

१ शत० ब्रा० १३.७.१.१३ ।

२ छां० उप० ७.२४.२ 'गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति ....' ।

३ छां० उप० ५.१३.२ ।

४ आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६ ।

५ लाट्० श्रौ० सू०, ८.४.१४ ।

६ आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६ ।

की ओर भी संकेत किया है जहाँ दक्षिणा के सन्दर्भ में भूमि के साथ पुरुषों के दिये जाने का निषेध[1] प्राप्त होता है। पर कहीं-कहीं दक्षिणा में भूमि के साथ पुरुषों के दिये जाने के संकेत भी मिलते हैं।[2] उपर्युक्त उदाहरण वैदिक काल के अन्तिम चरण में होने वाले इस नवीन परिवर्तन का आभास देते हैं।[3]

चार वर्णों वाले समाज के द्विविभाजन की प्रवृत्ति

प्रस्तुत काल में चार वर्णों वाले समाज में एक प्रकार की द्विविभाजन की प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती है। पूर्व-

---

१ आश्व० श्रौ० सू० १०. १०. १० ; (भूमि पुरुष वर्जम्), का० श्रौ० सू० २२.१.१०-११ (भूमि शूद्र वर्जम्); आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६।

२ शांखा० श्रौ० सू० १६. १४.१८ (सहपुरुषं च दीयते); आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६।

३ आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६।

वैदिक काल में यह द्विविभाजन आर्य तथा दास के मध्य था परन्तु इस काल में आर्य तथा शूद्र कुछ स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न, दो सामाजिक वर्गों के रूप में दिखायी पड़ते हैं[1]। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के रूप में आर्यों तथा शूद्रों का यह विभेद धार्मिक स्थलों पर विशेष रूप से प्रकट हो उठा है। अग्निहोत्र के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले दुग्ध का दोहन शूद्र नहीं कर सकता था (न शूद्रो दुह्यात्)[2]। यज्ञ के लिये दीक्षित व्यक्ति का शूद्र से वार्तालाप निषिद्ध था[3]। पंचविंश तथा शतपथ में शूद्रों को `अयज्ञीय` कह कर यज्ञ के लिये अनुपयुक्त बताया गया[4]। काठक संहिता के अनुसार यज्ञीय सोमपान में शूद्र निमंत्रण का अधिकारी नहीं था[5]। इसी प्रकार प्रवर्ग्य समारोह में यज्ञकर्ता को शूद्र-सम्पर्क से

---

१ अथर्व० ४. २० .४ ; १९. ३२. ८ ; तै० सं० ७. ४.१९. ३, १ . ८. ३. १ ; का० सं० १७. ५, ३८. ५ ; वाज० सं० १४.३०, २०. १७ ; २३. ३०-३१ ; मैत्रा० सं० २. ८.६ ; ३.१३.१ ।

२ का० सं० ३१, २ ; मै० सं० ४. १. ३ ।

३ शत० ब्रा० ३.१.१.१० ; शु० ५.३.२.२ ।

४ शत० ब्रा० ३.१.१.१० ; ६.१.११ ।

५ का० सं० ११.१० ।

की दान लेने वाला (आदायी), सोमपायी, सदान्न या कार्यशील (आवसायी) और इच्छानुसार विचरण करने वाला (यथाकाम प्रयाप्य) कहा गया है । इससे ज्ञात होता है कि वे राजाओं के साथ स्वेच्छा से सम्बन्ध जोड़ने में स्वतन्त्र थे । वैश्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह दूसरे को कर देता है (अन्यस्य बलिकृत) और दूसरे उसका यथेष्ट उपभोग करते हैं (अन्यस्याद्य:) तथा मनमाना बलप्रयोग भी करते है (यथाकामज्येय:) । इसी प्रकार शूद्र को दूसरे का सेवक कहा गया है (अन्यस्यप्रेष्य:), जिसे मनमाने ढंग से लोग उखाड़ फेंकते थे (कामोत्थाप्य:) और उसके प्राण ले लेने में भी नहीं हिचकते थे (यथाकामवध्य:)[1] । संक्षेप में कहा जा सकता है कि शासक-वर्ग इच्छानुसार वैश्यों के उत्पादन तथा शूद्रों के श्रम का उपभोग कर रहा था । ऐसे प्रसंग भी उपलब्ध हैं जहां दोनों ही उच्च वर्गों (ब्राह्मण तथा क्षत्रिय) द्वारा वैश्यों और शूद्रों को वश में रखने की चेष्टा परिलक्षित होती है[2] । शतपथ ब्राह्मण से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय कभी भी वैश्यों तथा शूद्रों का अनुगमन नहीं करते और इन्हें दोनों ओर से परिवेष्टित करते हैं तथा विनीत बनाते हैं[3] । इसी

---

1 ऐत० ब्रा० ७.२९ ।

2 ऐत० ब्रा० २, १०, १,८, ३६, ४ ;

शत० ब्रा० १, ३, २,१५ ; ५,१,५, २८ ।

3 शत० ब्रा० ६, ४, ४, १३ ।

इसी प्रकार जो राजन्य अथवा पुरोहित नहीं है उसकी अपूर्णता[1] की बात कह कर वैश्यों तथा शूद्रों की हीन स्थिति को अनुभाषित करने का प्रयास किया गया है । विड् वर्णों को स्थान-स्थान पर खाया जाने वाला तथा राजन्यों को खाने वाला कहा गया है[2] जो वैश्यों की शोषित स्थिति का द्योतक है । राजा विड् वर्णों को मार भी सकता था (तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः)[3] । विशों पर प्रभुत्व स्थापित करने की यह चेष्टा अन्यत्र भी प्रदर्शित है[4] ।

कुछ ऐसे प्रकरण भी उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सामाजिक नेतृत्व तथा प्राधान्य को लेकर स्वयं शासक वर्ग (ब्राह्मण एवं क्षत्रियों) में भी कभी-कभी अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाया

---

१ <u>शत० ब्रा०</u> ६. ६. ३. १२ ।

२ <u>शत० ब्रा०</u> ३. ६. १. २४ ; ६. १. २. २५ ; १३. २. ९. ८ ।

३ <u>शत० ब्रा०</u> १३. २. ९. ६ ।

४ <u>तै० सं०</u> २.११.२ ; शत० ब्रा० ४.३.३.६ तथा ९ ; ६. १. २. २५ ; ८. ७. १. १२ ।

करती थी । कुछ अवसरों पर ब्राह्मणों को क्षत्रियों से श्रेष्ठ बताया गया है और कुछ स्थलों पर राजा को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बता कर उसे बचाने की चेष्टा व्यक्त की गयी है । एक ओर पृथ्वी के देवता ब्राह्मणों ने अपना राजा सोम[1] को बता कर राजा के राजनीतिक प्रभुत्व को हेय बताने का प्रयास किया तो दूसरी ओर उपनिषद्कालीन क्षत्रिय राजाओं ने, ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में, स्वयं को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की । यदा-कदा उत्पन्न हो जाने वाले इस अन्तर्विरोध के बावजूद ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के पारस्परिक अन्तरा-वलम्बन और सहयोग पर ही विशेष बल दिया गया है ।

सामाजिक गतिशीलता का आर्थिक पक्ष

जिन आर्थिक विकासों का विवेचन पीछे किया जा चुका है, उन्होंने सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता के माध्यम प्रस्तुत किये[2] । व्यवस्थित तथा नियमबद्ध जीवन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के साथ-साथ उत्पादन में वृद्धि हुई । श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा गहरी हुई, जिससे विभिन्न व्यावसायिक समुदायों का

---

१ शत० ब्रा० १. ७. ४. २ ; १.७.६.७ ।

२ रिचर्ड टी० लेपियर, सोशल चेन्ज, पृ० ३७६ ।

विकास सम्पन्न हुआ[1]। इस युग में कुछ नवीन शिल्प तथा उद्योगों का विवरण मिलता है जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है।

विशेष रूप से लोहे का ज्ञान तथा तत्कालीन आयुधों में उसका प्रयोग कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों का माध्यम बना। लोहे के आयुधों[2] पर राजन्य अथवा क्षत्रिय वर्ग के अधिकार ने राजसत्ता के विकास तथा अपेक्षाकृत बड़ी राजनीतिक इकाइयों के निर्माण में विशेष योगदान किया। लोहे के आयुध प्रायः उन्हीं क्षेत्रों से प्राप्त हुए हैं जहां बड़ी राजनीतिक इकाइयों के केन्द्र थे। इनमें गंगा-यमुना के दोआब के ऊपरी भाग में कुरुओं का राज्य स्थित था। मध्य दोआब में बरेली, बदायूं, पंचालों से सम्बन्धित थे। मत्स्यों (विराट क्षेत्र)

---

१ यजु० ३०, २१ में धीवर, दास, कैवर्त, मणिकार, धनुष्कार, इषुकार, वपन, दावप, रज्जुसर्ज, चित्रकारी, वास पल्पूली आदि का उल्लेख मिलता है।

२ उत्खनन में प्राप्त लोहे के अवशेषों में बाणाग्र, भालों की नोकें, कीलें, बल्लम आदि की अधिकता रही है। देखिये पीछे,

का सम्बन्ध भरतपुर, अलवर तथा जयपुर के क्षेत्र से सम्बन्धित किया गया है।[1] राजनीतिक प्रभुत्व तथा लोहे के आयुधों के रूप में संहारक शक्ति का राजन्यों के हाथों में केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत व्यापक स्तर पर शासित वर्ग के शोषण[2] का कारण बना।

दूसरी ओर उत्पादन के अतिरिक्त से शासक-वर्ग (क्षत्र तथा ब्रह्म) की स्थिति विशेष सम्पन्न और सुदृढ़ हुई तथा उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। बलि तथा दक्षिणा के रूप में उत्पादन का अधिकांश भाग अब शासक वर्ग के हाथों में केन्द्रित होने लगा। 'बलि' के रूप में प्राप्त होने वाले भाग के कारण ही राजा को सिंह के समान विशों का भोक्ता बताया गया है।[3] राजा को दिये जाने वाले कर के रूप में

---

१ आर० एस० शर्मा, 'क्लास फार्मेशन एण्ड इट्स मैटीरियल बेसिस इन द अपर गैंगेटिक बेसिन,' _इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू_, वाल्यूम २, नम्बर १, १९७५, पृ० ३।

२ देखिये पीछे, [illegible] ।

३ _अथर्व०_ ४, २२, ६ ७, 'सिंहप्रतीको विशो अद्धि'।

'बलि' का प्रयोग उत्तर-वैदिक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर हुआ है।[1] अथर्ववेद में एक आंजन मणि का प्रसंग प्राप्त होता है जो राजा के लिए अन्य दिशाओं से अन्न तथा विश से बलि प्रदान कराने वाली कही गयी है।[2] यह बलि शासक कुल के लोगों द्वारा एकत्र की जाती थी।

बलि अथवा कर के रूप में मिलने वाला यह अतिरेक

---

१ <u>अथर्व०</u> ३.४.३, ६.११७.१, ११.१.२०, ११.४.१९ ; <u>काठ० सं०</u> २९.७, २९.६ ; <u>तै० सं०</u> १.६.२.१ ; <u>ऐत०ब्रा०</u> ७.२९, कुन्तीय, ७.३४ ; <u>पंच० ब्रा०</u> १५.७.४, <u>तै० ब्रा०</u> १.२.३.२, २.७.१८.३, ३.१२.२.७ ; <u>शत० ब्रा०</u> १.३.२.१५, १.५.३.१८ ; १.६.३.१७, ११.२.६.१४ ; <u>वैदिक इंडेक्स</u>, भाग २, पृ० ६२ ।

२ <u>अथर्व०</u> १९.४५.४ ।

३ <u>शतपथ ब्राह्मण</u> में क्षत्रियों द्वारा वैश्यों की उत्पादित सामग्री का यथेच्छ हरण निर्दिष्ट है जो बलि (धीर्यंग) के माध्यम से होता था। <u>शत० ब्रा०</u> १.३.२.१५, 'क्षत्रियः कामयतेऽथाह वैश्य मयि यदपरो निहितं तदाहरेति तं जिनाति त्वथवा स्वत्कामयते यथा यथाऽस्तेनौ तदर्पणा' ।

दक्षिणा के द्वारा ब्राह्मणों को समृद्ध बनाता था इसीलिये पुरोहितों द्वारा स्थान-स्थान पर राजा को अधिक बलि प्राप्त करने का आशीर्वाद दिया गया है। राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित राजा को आशीर्वाद देता है कि वह अधिक बलि प्राप्त करे[1]। 'ब्रह्मौदन सव' करने वाले को यह आशीर्वाद दिया गया है कि 'माता तुम्हारे लिये सजातों को कर (बलि) लाने वाला बनाये'[2]। इसी प्रसंग में पुरोहित आगे कहता है कि 'मैं बलिहरण के लिये सजातों को तुम्हारे अधीन लाता हूँ[3]।'

यज्ञ में दक्षिणा की अनिवार्यता तथा उससे होने वाले लाभों के वर्णन के पीछे भी दक्षिणा द्वारा सम्पन्न होने की आकांक्षा झलकती प्रतीत होती है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है --'यज्ञ देवलोक को जाता है तथा उसमें ही जाने वाली दक्षिणा यजमान के साथ जाती है। जिस प्रकार बैलगाड़ी बैलों के बिना व्यर्थ होती है तथा मालिक को हानि पहुंचाती है उसी प्रकार दक्षिणा-विहीन यज्ञ यजमान को नष्ट कर देता है। अतः चाहे अल्प ही हो पर

---

१ '.......वसु बलिं प्रति पश्यासा उग्रः'
अथर्व० ३, ४, २ ।

२ 'इयं माता मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु'
अथर्व० ११, १, ६ ।

३ 'अनुं त्वा दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय....'
अथर्व० ११, १, २० ।

यज्ञ में पुरोहित को दक्षिणा अवश्य देनी चाहिये ।[1] वही यज्ञ शुभ होता था जहां दक्षिणा होती थी[2]। इसी प्रकार का प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में भी आया है, 'जो देवलोक में स्थान प्राप्त करने की आशा से यज्ञ करता है उसका यह यज्ञ देवलोक को चला जाता है तथा उसके पीछे दक्षिणा चलती है[3]।' अतः यथाशक्ति दक्षिणा देने की बात कही गयी क्योंकि बिना दक्षिणा के यज्ञ नहीं होता[4]। क्षत्रिय अथवा राजन्य वर्ग के साथ पुरोहित वर्ग का सहयोग इसी कारण को लेकर हुआ होगा ।

१- 'अथा नेत् सन्नपुरोगवाय इति दक्षिणा वै यज्ञानां पुरोगवी यथा ह वा इदमनोऽपुरोगवं रिष्यत्येवं हैव यज्ञोऽदक्षिणो रिष्यत्येवं हैव यज्ञो दक्षिणा रिष्यति तस्मादाहुर्दातव्यैव यज्ञे दक्षिणा भवत्यल्पिकाऽपि इति' -- ऐत० ब्रा० ३०, ६ ।

२ पंच० ब्रा० १६ ,१ , १४ ।

३ 'यो यजते यो स्वेष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणा यां ददाति सैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः'

शत० ब्रा० १,९,३,१ ।

४ 'तस्मान्नादक्षिणं हविः स्यादिति'

शत० ब्रा० १६, १,१५ ।

व्यापक स्तर पर दी गयी दक्षिणाओं के प्रसंग प्राप्त होते हैं। राजसूय यज्ञ के अवसर पर दी गयी दक्षिणा में दस हज़ार गायें, दस हज़ार हिरण्य, दस हज़ार हाथी, सहस्रों पशु तथा रथ उल्लिखित हैं।[1] राजा जनक ने याज्ञवल्क्य को स्वर्ण से मढ़ी सींगों वाली सहस्रों गायें उपहार में दी।[2] दक्षिणा के विभाजन के विषय में पंचाल देश के ब्राह्मणों द्वारा चतुर्युग तथा पच्चीस सौ गायों के पारस्परिक विभाजन का उल्लेख मिलता है।[3] ये संख्याएं अतिरंजित हो सकती हैं। यद्यपि भूमि के[4] भी दक्षिणा में दिये जाने के कुछ प्रसंग

---

१ ऐत० ब्रा० ३७, ६ तथा ७ ।

२ ऐत० ब्रा० ३६, ८ ; शत० ब्रा० ११.३ . १.४ कठ० उप० १. १. २३-२४ ; बृ० उप० ४.४.७ ; छां० उप० ७.२४.२ ।

३ शत० ब्रा० १३.५.४. ८ ।

४ ऐत० ब्रा० ३०, ६ ; जैमिनीय ब्रा० ६.१०. ७ ; शत० ब्रा० १३.५ ४. २४ ; १३.६.२.१८-२०, १३.७.१.१३, १३.७.१.१५ ; कठोपनिषद्, १.१.२३-२४ ; छां० उप० ७.२४.२ ; शांखा० श्रौ० सू० १६, १७-१८ तथा १६.१५. २० ।

उपलब्ध होते हैं किन्तु आर० एस० शर्मा का यह मत अधिक उचित प्रतीत होता है कि यह प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित नहीं थी[1]।

बढ़ते हुए अतिरिक्त उत्पादन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति ने आर्थिक असमानता को भी बढ़ा दिया होगा जिसने सामाजिक गतिशीलता की पृष्ठभूमि तैयार की होगी । धनाभाव के कारण ऋण लेने वालों[2] के उदाहरण भी उत्तर-वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं । अथर्ववेद अग्निदेव से ऋणमुक्त करने के लिये प्रार्थनायें की गयी हैं[3]। ऋण लौटाये बिना ही ऋणमुक्ति की प्रार्थना भी की गयी है[4]। अथर्ववेद में ही

---

१ आर० एस० शर्मा, 'क्लास फार्मेशन ऐण्ड इट्स मैटीरियल बेसिस इन द अपर गैंगेटिक बेसिन (१०००-५०० ई० पू०)' ; इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम २, नम्बर १, जुलाई, १९७५, पृ० ३ ।

२ कृष्ण यजुर्वेद ५.४.४.४, ५.६.६.१, कौषीतकि ब्रा० ३. ३, पंच ब्रा० १७. १४ .१६ ; शत० ब्रा० ५.४. ३. १९ ।

३ अथर्व० ६. ११७ ।

४ वही ६. ११९ ।

अप्सराओं से द्यूत के द्वारा होने वाले ऋण को क्षमा कर देने की प्रार्थना प्राप्त होती है[1]। निर्धनता के कारण ही सम्भवतः अजीगर्त अपने पुत्र शुनःशेप को बेचने के लिये बाध्य हुआ होगा[2]। दरिद्रता का प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है[3]। इस प्रकार जो निर्धन हो जाते थे उनका सामाजिक स्तर निम्न हो जाता होगा ।

जहां एक ओर ऋण लेने वालों के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं वहां दूसरी ओर कर्ज देने वालों के प्रसंग भी उपलब्ध हैं जिनके लिए `कुसीदिन्` शब्द का प्रयोग किया गया है[4]। ग्रामपतियों[5] तथा

---

१ अथर्व० ६, ११८ ।

२ ऐत० ब्रा० ३३, ५ ।

३ शत० ब्रा० १३, १, ३, ८ ।

४ निरुक्त ६, ३२ ; शत ब्रा० १३, ४, ३, ११ ;
वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १०९ तथा १७६ ।

५ ग्राम-प्राप्ति की इच्छा से किये जाने वाले यज्ञ का सन्दर्भ कृष्ण यजुर्वेद में प्राप्त होता है । देखिये २, १, १, २ ; २,१,३,२ ; २, ३, ९, २ इस सन्दर्भ में जानश्रुति द्वारा रैक्व को किया गया ग्रामदान भी स्मरणीय है । द्रष्टव्य, छां० उप० ४, २, ४ ।

'महाशालों'[1] के विवरण सम्पत्तिशाली लोगों के अस्तित्व का आभास देते हैं। राजाओं तथा धनी व्यक्तियों की सेवा में नियुक्त दासों[2] और सेवकों की एक बड़ी संख्या भी इस आर्थिक असमानता की परिचायक है।

आर्थिक असमानताओं का एक पक्ष शारीरिक श्रम के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण में परिलक्षित होता है। पूर्व-वैदिक काल में शारीरिक श्रम के प्रति असम्मान का भाव कहीं भी व्यक्त नहीं किया गया है किन्तु उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम चरण तक आते-आते शारीरिक श्रम को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। अतः एक ओर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के उत्पादन के भोक्ता के रूप में एक दूसरे के सहयोगी बन गये तथा दूसरी ओर श्रम में शूद्रों के नियोजन[3] से वैश्य वर्ण

---

१ छां० उप० ५, ११, १ ।

२ देखिये पीछे,

३ वाजसनेयि संहिता (३०, ५ तपसे शूद्रं) तथा शतपथ ब्राह्मण (१३, ६, २, १० - तपसो वै शूद्रः) में शूद्र को तप अर्थात कठिन श्रम से सम्बन्धित किया गया है। अपशब्द के रूप में प्रयुक्त 'शूद्र' शब्द शारीरिक श्रम के प्रति घृणा की दृष्टि का परिचायक है। द्रष्टव्य, छां० उप० ४-२,३ में वर्णित राजा जानश्रुति तथा रैक्व मुनि का आलाप-संलाप ।

शूद्रों के निकट आने लगा । फलस्वरूप ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रियों का सामाजिक स्तर ऊँचा उठने लगा, और सामान्यतः प्रथम दो वर्णों तथा वैश्यों के बीच ऊँच-नीच का अन्तर बढ़ने लगा । इस प्रकार इस प्रक्रिया के क्रम में वैश्यों का सामाजिक स्तर स्वाभाविक रूप से गिरने लगा । इसका आभास शतपथ ब्राह्मण के उस प्रसंग में उपलब्ध होता है जहाँ सर्वप्रथम 'करान्' के, जो वैश्य वर्ण के सम्मानित सदस्य थे, स्पर्श को दर्शपूर्णमास यज्ञ में वर्जित किया गया[१]।

व्यावसायिक गतिशीलता

वर्णों का स्वरूप स्पष्ट हो चला था अतः प्रस्तुत काल में व्यावसायिक गतिशीलता पूर्व-वैदिक काल की अपेक्षा कुछ कम हो गयी थी । यह क्रम दो वर्णों में विशेष रूप से देखने को मिलती है । साधारणतः यह कहा जाता है कि केवल ब्राह्मण ही पुरोहित हो सकते थे, वेदों का अध्यापन कर सकते थे ; जबकि इस बात के प्रमाण हैं कि ब्राह्मण केवल वे थे जो वेदों के अध्यापन में समर्थ थे तथा पुरोहित का पद ग्रहण करने के योग्य थे । कृष्ण यजुर्वेद[२] में स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान से व्यक्ति ब्राह्मण होता था वंश-परम्परा से नहीं । काठक[३] तथा मैत्रायणी

---

१ शत० ब्रा० १, १, ३, १२ ।

२ यजु० ६, ६, १, ४ ।

३ का० सं० ३० ,१ ।

संहिता[1] में भी यह कहा गया है कि --

'किं ब्राह्मणस्य पितरं किं नु पृच्छसि मातरं
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यम् स पिता स पितामहः ।'

क्षात्रवर्गीय व्यक्तियों द्वारा ऋषित्व प्राप्त करने के कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं । कहीं-कहीं उन्हें यज्ञ का सम्पादन करते हुए भी देखा जा सकता है । किसी कारणवश अपने पुरोहित से अनबन हो जाने के कारण राजा विश्वन्तर सौषद्मने ने स्वयं यज्ञ का सम्पादन किया । ऐतरेय ब्राह्मण के अधोलिखित प्रसंग में भी क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणत्व प्राप्ति का संकेत उपलब्ध है, 'क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से यज्ञ भाग कर दूर खड़ा हुआ और ब्राह्मण की शरण में आया । इस पर क्षत्रिय ने ब्राह्मण का अनुसरण किया और उससे कहा, 'मुझे (भी) इस यज्ञ में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कीजिये ।' ब्राह्मण ने कहा, 'ऐसा ही हो, अपने आयुधों को (धनुष बाण आदि) अलग रख कर, ब्राह्मण बन कर, ब्राह्मण के रूप में ब्राह्मण की सन्ध्या के साथ यज्ञ के निकट आओ'। तब 'ऐसा ही हो' कह कर अपने उपकरणों को छोड़कर ब्राह्मण की सन्ध्या के साथ ब्राह्मण के रूप में

---

१ मै० सं० ४८. १ ; १०७. ६ ।

२ ऐत० ब्रा० ७. २७ ; द्रष्टव्य, यू० एन० घोषाल, बिगिनिंग आव हिस्टोरियोग्रैफ़ी ऐण्ड अदर एसेज़, पृ० ३६ ।

शाभिष यज्ञ के निकट गया[1]। कुछ इसी प्रकार की बात ऐतरेय ब्राह्मण में अन्यत्र भी कही गयी है, 'दीक्षा प्राप्त करता हुआ वह राजा ब्राह्मणत्व में प्रविष्ट होता है[2]। पंचविंश ब्राह्मण में दीर्घश्रवस नामक राजकुमार के द्वारा ऋषित्व प्राप्ति का प्रकरण प्राप्त होता है[3]। सिन्धुक्षित नामक राजा को भी पंचविंश ब्राह्मण में ऋषित्व से विभूषित किया गया है[4]। राजन्य विश्वामित्र तथा देवापि का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। इनके द्वारा ऋषित्व तथा पुरोहित का पद ग्रहण करने के प्रसंग की पुनरावृत्ति थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उत्तर-वैदिक ग्रन्थों में हुई है। उपर्युक्त प्रसंग व्यावसायिक गतिशीलता के परिचायक हैं।

---

१ ऐत० ब्रा० अध्याय ३४. १ (आनन्दाश्रम संस्करण)
ए० बी० कीथ का अंग्रेज़ी अनुवाद भी देखिये, ऋग्वेद ब्राह्मणाज़ (७, १९), हार्वर्ड ओरिएन्टल सीरीज़, वाल्यूम २५, पृ० ३०९ ।

२ ऐत० ब्रा० ३४. ५ ।

३ पंच० ब्रा० १५. ३. २५, कालैण्ड का अंग्रेज़ी अनुवाद भी देखिये, बिब्लियोथिका इण्डिका नं० २५५, पृ० ३९७ ।

४ पंच० ब्रा० १२. १२. ६ ; बिब्लियोथिका इण्डिका नं० २५५, पृ० ३०२ ।

सामाजिक गतिशीलता के प्रमुख तत्व के रूप में धर्म एवं शिक्षा

पूर्व-वैदिक काल की भांति उत्तर-वैदिक काल में भी शिक्षा एवं धर्म एक दूसरे से सम्बन्धित दिखायी पड़ते हैं । ऐतरेय ब्राह्मण का लेखक महीदास इतरा या शूद्रा का पुत्र बताया गया है[1] । इस विषय में उपनिषदों में विशेष लचीलापन दृष्टिगोचर होता है जहां ब्रह्मज्ञान के विषय में वर्ण-सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं था । बृहदारण्यक उपनिषद में एक स्थल पर कहा गया है कि 'प्रज्ञात्मा से आलिंगित हो सुषुप्तावस्था को प्राप्त करने पर...चण्डाल अचण्डाल तथा पौल्कस अपौल्कस हो जाता है ।'[2]

ब्राह्मणों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने वाले क्षत्रिय उपदेष्टाओं के उल्लेख विभिन्न उपनिषदों में प्राप्त होते हैं । विदेहपति राजर्षि जनक[3] ने बहुत दक्षिणा वाले एक यज्ञ में ब्राह्मणों के साथ ब्रह्म-विद्या के विषय में शास्त्रार्थ किया था । याज्ञवल्क्य के साथ इनके विचार-विमर्श का विवरण छान्दोग्य उपनिषद में विस्तार के साथ मिलता है[4]। इसी उपनिषद में जनक द्वारा बुडिल आश्वतराश्वि को उपदेश देने का

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्रज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ६३ ।

२ बृ० उप० ४. ३. २२ ।

३ बृ० उप० ३. १. १ ।

४ छां० उप० ४. १. १ ।

प्रसंग भी प्राप्त होता है[1]। आचार्य पद पर ब्राह्मणों का अधिकार था।इसीलिये अजातशत्रु को बालाकि से यह कहना पड़ा कि 'क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य रूप में ग्रहण करे, यह परम्परा के विरुद्ध है, फिर भी मैं तुम्हें ज्ञान दूंगा'[2]। गौतम तथा श्वेतकेतु ब्राह्मण क्षत्रिय के समक्ष शिष्य-भाव से उपसन्न हुए[3]। इसी प्रकार प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य, बुडिल आश्वतराश्वि, ये पांच महाशालापति महाश्रोत्रियगण आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये राजा अश्वपति कैकेय के शिष्य हुए[4]।

हीनवर्णीय जाबालीपुत्र सत्यकाम जाबाल भी ऋषि तथा आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हुए[5]। कवष ऐलूष तथा वत्स द्वारा ऋषित्व प्राप्ति का उल्लेख पीछे किया जा चुका है[6]। तैत्तिरीय उपनिषद

---

१ छां० उप० ५, १४,८ ।

२ कौषी० ब्रा० उप० ४, १९ ।

३ बृ० उप० ६,२,७ ; ६,२,१-८ ; छां० उप० ५,३,१-७ ।

४ छां० उप० ५, ११ ।

५ छां० उप० ४, ४, १-५ ।

६ देखिये, पीछे

ब्राह्मण में सुदक्षिण क्षैमि नामक ऋषि को शूद्र कह कर सम्बोधित किया गया है[1]। मैत्री उपनिषद में शूद्र शिष्यों का उल्लेख तथा अयाज्य लोगों के लिये यज्ञ कराने वालों का संकेत भी प्राप्त होता है[2]। उपर्युक्त तथ्य धर्म-ज्ञान तथा शिक्षा के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की ओर संकेत करते हैं।

<u>सामाजिक गतिशीलता के प्रवर्तक तत्व के रूप में विवाह की अवधारणा</u>

वर्ण बनने के बावजूद भी विवाह के माध्यम से एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो सकता था। अन्तर्वर्णीय खानपान अथवा विवाह सम्बन्धी उन प्रतिबन्धों का उल्लेख नहीं मिलता है जो परवर्ती काल में परिलक्षित होते हैं। अथर्ववेद के अनुसार, ब्राह्मण को सभी कन्याओं के श्रेष्ठतम पति होने का गौरव प्राप्त था[3]।

विवाह के माध्यम से ब्रह्म तथा क्षत्र के मध्य होने वाला यह उत्कर्ष तथा अपकर्ष उतने प्रबल रूप में नहीं होता था, जितना कि निम्न वर्ण से उच्च वर्ण में। विवाह के माध्यम से कुछ राजन्यवर्णीय

---

१ <u>जै० उप० ब्रा०</u> ३, ३.५-६ ; आर० एस० शर्मा, <u>शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया</u>, पृ० ६२ ।

२ <u>मैत्री० उप०</u> ७, ८ (अयाज्य याजकाः शूद्रशिष्याः) ।

३ <u>अथर्व०</u> ५, १७, ८ ।

कन्यायें ब्राह्मण वर्ग में प्रविष्ट हुईं[1]। राजर्षि ययाति ने अपनी पुत्री सुकन्या का विवाह ब्रह्मर्षि च्यवन के साथ किया था[2]। राजा रथवीति की कन्या ऋषि श्यावाश्व के साथ विवाहित होकर ब्राह्मण वर्ग में प्रविष्ट हुई[3]। छान्दोग्य उपनिषद में जानश्रुति पौत्रायण तथा रैक्व के वार्तालाप का प्रकरण प्राप्त होता है जिसमें ब्राह्मण तथा राजन्य कन्या के मध्य हुए विवाह का संकेत मिलता है[4]। राजा जानश्रुति पौत्रायण ने गाय, आभूषण, दासी आदि लेकर रैक्व मुनि से ज्ञान प्राप्त करना चाहा परन्तु मुनि ने उन्हें 'शूद्र' कह कर उनकी सभी वस्तुयें घृणा के साथ लौटा दीं। जब राजा ने अपनी पुत्री विवाह में मुनि को दी तभी उन्होंने ब्रह्मज्ञान देना स्वीकृत किया।

---

१ शत० ब्रा० ४. १. ५. ७ ; एग्लिंग का अनुवाद सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, वाल्यूम २, पृ० २७३ ; राधाकुमुद मुकर्जी, हिन्दू सभ्यता अनुवादक, वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ११२ ।

२ शत० ब्रा० ४. १.५.९ ; द्रष्टव्य, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ११३ ।

३ बृहद्देवता, ५. ५० ।

४ छां० उप० ४.१, ४. २-३ ।

इसी प्रकार हीनवर्णीय स्त्रियों का उच्च वर्ग में प्रवेश भी दृष्टिगोचर होता है। आर्य तथा शूद्र के मध्य होने वाले विवाह सम्बन्ध[1] यद्यपि प्रशंसनीय नहीं माने जाते थे फिर भी उस समय वे विधिक दृष्टि से वैध तथा प्रतिष्ठित रहे होंगे[2]। पंचविंश ब्राह्मण में ऋषि दीर्घतमस् की पत्नी उशिज नामक दासी के विधिवत् विवाह का प्रसंग उपस्थित है[3]। इस कथन का आधार बृहद्देवता में आये उशिज के प्रसंग को बताया गया है[4]। कवष की माता इला भी दासी थी। इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस प्रसंग की पुनरावृत्ति ऐतरेय ब्राह्मण में हुई है[5]। पंचविंश ब्राह्मण में ही वत्स तथा

---

१ वाज० सं० २३, ३०-३१ ; तै० सं० ७.४, १९, २-३
वैदिक इण्डेक्स, भाग १, १९५८, पृ० ४८२ ।

२ राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ० २२६ ।

३ पंच० ब्रा० १४. ११. १७ ।

४ बृहद्देवता, ४. २४-२५ ; वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २५९ ;
महाभारत (आदिपर्व ६८,२५) में कक्षीवान् को शूद्रयोनि का बताया गया है। वायुपुराण में कक्षीवान को राजा बलि की शूद्रा दासी तथा दीर्घतमस् से उत्पन्न बताया गया है। वायु-पुराण २.३७।

५ ऐत० ब्रा० २. १९ (८.१); कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मणाज़ हा० ओ० सी०, वॉल्यूम २५, पृ० १४८ ।

मेधातिथि का दृष्टान्त मिलता है। ये दोनों ऋषि कण्व के पुत्र थे, परन्तु मेधातिथि द्वारा वत्स को 'अब्राह्मण शूद्रापुत्र' कह कर अपमानित किये जाने का प्रसंग इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि वत्स की माता शूद्र वर्ण से सम्बन्धित थी[1]। यह शूद्रवर्णीय स्त्री ऋषि कण्व से विवाह के कारण ब्राह्मण वर्ण में प्रविष्ट हो गयी होगी, जिसके पुत्र वत्स ने ऋषित्व प्राप्त किया। सत्यकाम की माता जबाला का दासी होना लोकविश्रुत ही है। यह वृत्तान्त शतपथ ब्राह्मण तथा छान्दोग्य उपनिषद में प्राप्त होता है[2]।

केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रियों के साथ ही शूद्रा स्त्रियों के विवाह अथवा सम्बन्ध बनते थे, यह नहीं कहा जा सकता। राजसूय के 'रत्नहविरिष्टि' समारोह के अवसर पर उल्लिखित राज्य

---

१ पंचविंश ब्रा० १४. ६. ६ ; आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० ५३ ; एस० सी० सरकार, सम ऐस्पैक्ट्स आफ द अर्लीएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० १०२ ; एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया, भाग १, पृ० १३।

२ शत० ब्रा० ११. ५. ४. १ ; छां० उप० ४. ४. ४ ।

की पत्नियों में `पालागली` का उल्लेख भी हुआ है जो शूद्र होती थी[१]। `अर्य` तथा शूद्रा के मध्य सम्बन्ध का उल्लेख कई स्थलों पर किया गया है ।

शूद्र से विवाहित वैश्य स्त्रियों के भी कतिपय दृष्टान्त उपलब्ध हैं । अथर्ववेद में एक ऐसे टोने का विवरण प्राप्त होता है जिसके द्वारा पति, जार उपपति के विरुद्ध पत्नी का प्रेम पुनः प्राप्त करना चाहता था[२]। यजुर्वेद संहिता में `अयोगु` शब्द का उल्लेख मिलता है[३]। यदि इसका सम्बन्ध परवर्ती आयोगव से स्थापित किया जाय तो इसका तात्पर्य शूद्र से विवाहित एक `अर्य` (वैश्य) स्त्री से होगा[४]। शतपथ ब्राह्मण में कहा भी गया है कि शूद्र वैश्या का तथा वैश्य शूद्रा का पति हो सकता था[५]। इस साक्ष्य से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था के अधिक ठोस न होने के कारण वैवाहिक सम्बन्धों में लचीलापन था ।

-o-

---

१ शत० ब्रा० १३. ४.१.८ ; यू०एन० घोषाल, हिन्दू पालिटी, पृ०२००-५ ; आर०एस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १३२ ,

२ वाज० सं० २३, ३०-३१ ; तै० सं० ४.२.१०.२; शत०ब्रा० १३.२.६.८।

३ यजु० ३०. ५ ।

४ राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ० २२७ ।

५ शत० ब्रा० १३. २. ६. ८ ।

अध्याय - ३

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

लगभग छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व तक

अध्याय--३

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता --

लगभग छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व तक

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य प्राचीन भारत की सामाजिक स्थिति का ज्ञान गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों, महाकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) तथा बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों से प्राप्त होता है । इनके अतिरिक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी, जैमिनि के पूर्वमीमांसा-सूत्र तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र से भी तत्कालीन सामाजिक स्थिति के परिज्ञान के लिये सामग्री उपलब्ध होती है । प्रमुख गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का समय छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य निर्धारित किया गया है[१]। पाणिनि की तिथि लगभग ५वीं शताब्दी ईसा-पूर्व निर्धारित की गयी है[२]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की

---

१ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वु वाल्यूम २, पार्ट १, क्रोनोलौजिकल टेबुल ।

२ वी० एस० अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ४७५ ; एम० के० दत्त, एरियनाइज़ेशन आव इण्डिया, पृ० ३८ ।

प्रारम्भिक तिथि चतुर्थ शताब्दी ईसा-पूर्व मानी गयी है[1]। अधिक से अधिक इसके रचनाकाल की उच्चतम सीमा १५० ईसवी के बाद नहीं रखी जा सकती[2] तथा निम्नतम सीमा चतुर्थ-तृतीय शती ईसा-पूर्व से पूर्व नहीं रखी जा सकती[3]। जहां तक रामायण के मूलस्वरूप का प्रश्न है यह तीसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में वाल्मीकि द्वारा रचा गया तथा ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त तक इसे वर्तमान परिमाण तथा विषय-वस्तु प्राप्त हो चुके थे[4]। महाभारत का कोई एक निश्चित रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है। वस्तुतः इसकी रचना के भिन्न-भिन्न स्तर प्रतीत होते हैं जो अलग-अलग समय पर लिखे गये थे। इस विषय में निष्कर्ष रूप में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी से चौथी शताब्दी ईसवी के मध्य इसका रूपान्तरण क्रमशः एक

---

१ आर० पी० कांगले, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पार्ट ३, पृ० १०१ तथा १०६।

२ आर० पी० कांगले, वही।

३ डी० डी० कोसम्बी, *ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री*, पृ० १५३-५४; कांगले, वही, पृ० १०६।

४ विण्टरनित्स, *हिस्ट्री आफ इण्डियन लिट्रेचर*, भाग २, खण्ड २, पृ० १७६ (हिन्दी अनुवाद)।

कौशाम्बी, सारनाथ, भीटा, श्रावस्ती तथा अतरंजीखेड़ा से अधिक प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त बिहार (पटना, राजगिरि, वैशाली, गिरियाक), मध्य प्रदेश (सांची, नागदा, उज्जैन, एरण, माहेश्वर, त्रिपुरी), महाराष्ट्र (प्रकाश, बहल, नासिक, नेवासा, कौण्डिन्यपुर), बंगाल (चन्द्रकेतुगढ़) तथा आन्ध्र प्रदेश (अमरावती) से भी एन० बी० पी० वेयर की उपलब्धि हुई है[1]। इसकी तिथि लगभग ६०० ई० पू०[2] से २०० ई० पू० के मध्य निर्धारित की गयी है। ये अतीव सुन्दर मिट्टी द्वारा तेज़ चलाये गये चाक पर निर्मित किये गए हैं। इन्हें तेज़ आंच में पकाया गया है[3]।

ऐसा प्रतीत होता है कि इसका मूल स्थान गंगा के मैदान का मध्य भाग था जहाँ से ये अत्यधिक संख्या में उपलब्ध हुए हैं। व्यापार के द्वारा यह तक्षशिला तथा उज्जैन तक पहुंचा[4]। दक्षिण में

---

१ डी० एन० घोष, एस० एन० सेन तथा बी० वी० कृष्णस्वामी द्वारा सम्पादित, *ए कन्साइज हिस्ट्री आव साइन्स इन इण्डिया*, पृ० २६७।

२ जी० आर० शर्मा, *एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी*, १९५७-५९, पृ० २२।

३ वही।

४ ए० घोष, *द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया*, पृ० १४-१५; द्रष्टव्य, कृष्णकान्त गोपाल, पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत में नगर, पृ० ८८।

यह कृष्णा नदी पर स्थित अमरावती से प्राप्त हुआ है।[1] यह लम्बी यात्रा मौर्य साम्राज्यवाद के कारण सम्भव हुई होगी।

एन० बी० पी० वेयर के स्तरों से प्राप्त लौह उपकरण भौतिक परिस्थितियों के विषय में जानकारी प्रस्तुत करते हैं। तक्षशिला से प्राप्त लौह उपकरणों में भाला (dagger-blade), बढ़इयों द्वारा प्रयुक्त बसूला (Adze) तथा एक उन्नतोदर पृष्ठ भाग वाली छुरी (Straight-edged convex-backed knife) प्राप्त हुई है, जिसका किनारा ऋजु है।[2] हस्तिनापुर से एक कटीला कांटे-युक्त बाणाग्र (barbed arrow-head),[3] छेनी (Chisel) तथा मोड़ वाला हंसिया प्राप्त हुआ है। कौशाम्बी के कल्चरल पीरियड ३ से एन० बी० पी० मृद्भाण्डों के स्तर में लौह उपकरणों की अधिकता दिखायी पड़ती है।

---

१ ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, पृ० १४-१५ ; द्रष्टव्य, कृष्णकान्त गोपाल, पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत में नगर, पृ० ८८ ।

२ मार्शल, तक्षशिला २, १९५१, पृ० ५३ ।

३ बी० बी० लाल, एक्सकेवेशन्स ऐट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स, ऐंश्येण्ट इण्डिया नं० १०-११ ; १९५४-५५, पृ० १६,९७ तथा [illegible] ।

४ जी० आर० शर्मा, द एक्सकेवेशन्स ऐट कौशाम्बी, १९६०,

कपर[1] से कीलें, कुश, छड़ें (Bars), साकेटयुक्त बड़े कीले (spikes with socket), मूठ, छुरे हंसिये तथा भालों के अग्रभाग (spear heads) प्राप्त होते हैं। नागदा[2] से प्राप्त उपकरणों में छुरे, भाले, हंसियां, छेदयुक्त घुमावदार हंसिये (गड़ासा), चौकोर आयताकार तथा षट्कोणीय बाणाग्र, दो धार वाले भाले, कुदाल (Hoes), कीलें तथा प्यालियां सम्मिलित हैं। एरण[3] से भालों के अग्रभाग, छुरियां, भाले तथा हंसियां प्राप्त हुई हैं। बिहार[4] में सोनपुर से कीलें तथा छेनी प्राप्त हुए हैं। उपर्युक्त उपकरणों में हल, हंसिये कुश तथा गड़ासे की उपस्थिति से इस बात का आभास मिलता है कि प्रस्तुत काल में लोहा कृषि तथा उत्पादन के क्षेत्र में पदार्पण कर चुका था।

---

1 इण्डियन आर्क्यॉलॉजी : ए रिव्यू, १९५३-५४, पृ० ६-७ ; १९५४-५५, पृ० ९ ; वाई० डी० शर्मा, एक्सप्लोरेशन आफ हिस्टारिकल साइट्स, ऐंश्येण्ट इण्डिया नं० ९, पृ० १२५ ।

2 वी० एन० मिश्रा तथा एम० एस० मते द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रीहिस्ट्री, १९६४, पृ० १६६ ।

3 इं० आ० रि०, १९५६-५७, पृ० १९ ।

4 इ० आ० रि०, १९५६-५७, पृ० १९ ।

लोहे को विभिन्न उपकरणों का रूप देने में धौंकनी[1] का प्रयोग महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ होगा[2]। इस सन्दर्भ में उज्जैन के एन० बी० पी० स्तर से प्राप्त लोहार की भट्ठी भी उल्लेखनीय है[3]। भट्ठी तथा धौंकनी की सहायता से लोहे को गला कर उपयोगी उपकरणों का रूप देने में सरलता होने लगी होगी।

सर्वप्रथम इसी काल में सिक्कों के प्रयोग के निश्चित प्रमाण मिलने लगते हैं[4]। अनेक स्थानों से चांदी तथा तांबे के आहत सिक्के (punch-marked coins) और लेखरहित ढली ताम्र-मुद्राएं (uninscribed cast coins of copper) प्राप्त होती हैं। सिक्कों ने व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी विनिमय के लिये विशेष सुविधा प्रदान की होगी।

---

१ अष्टाध्यायी, ७.३. ७८ ; भाषावृत्ति (ए० एफ० रुडोल्फ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, १९१०), पृ० १०८ ।

२ आर० एस० शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमि, पृ० ६० ।

३ बी० एन० मिश्रा तथा एम० एस० मते द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रिहिस्ट्री, ६४, पृ० १६७ ।

४ आर० एस० शर्मा, ऐस्पैक्ट्स आफ पालिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २७७ ; ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, पृ० १३-१४ ।

नगरों एवं भवनों के अवशेष तक्षशिला,[1] शिशुपालगढ़,[2] कौशाम्बी,[3] अहिच्छत्र,[4] एरण,[5] उज्जैन,[6] राजघाट[7]

---

१ जान मार्शल, तक्षशिला, १, पृ० ६२ ।

२ बी० बी० लाल, "शिशुपालगढ़ १९४८ : ऐन अर्ली हिस्टारिकल फोर्ट इन ईस्टर्न इण्डिया", ऐंश्येण्ट इण्डिया, ५, १९४९, पृ० ६२-१०५ ।

३ अ० घोष, जी०आर० शर्मा, एक्सकैवेशन्स एट कौशाम्बी, १९५७-५९, पृ० २६-२९ ।

४ ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, पृ० ६० ।

५ के० डी० बाजपेयी, 'सागर थ्रू द एजेज़, सागर १९६४ ; इण्डियन आर्क्यालाजी १९६१-६२ : ए रिव्यू, पृ० २४ ।

६ इण्डियन आर्क्यालाजी १९५६-५७-ए रिव्यू, पृ० २४ ; एन० आर० बनर्जी, द आयरन एज इन इण्डिया, पृ० १५-२८ ; डी० पी० अग्रवाल, द कापर ब्रान्ज एज इन इण्डिया, पृ० ६६ ।

७ डी० पी० अग्रवाल, द कापर ब्रान्ज एज इन इण्डिया, पृ० १०३ ; इण्डियन आर्क्यालाजी १९६०-६१- ए रिव्यू, पृ० ३७ ।

राजगिर[१] तथा श्रावस्ती[२] से प्राप्त हुए हैं। प्रस्तुत काल में अशोक के अभिलेखों की एक लम्बी श्रृंखला मिलती है जिनमें से अधिकांश गिरनार, कालसी, रुम्मिनदेई, शहबाज़गढ़ी, मान्सेहरा, रामपुरवा तथा मिनाठीसागर आदि स्थलों से प्राप्त होते हैं[३]।

सामाजिक विकास

ई० पू० छठी शताब्दी ने सामाजिक विकास के इतिहास को नवीन मोड़ दिया। इस युग में घटित नवीन भौतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिवर्तनों ने सामाजिक विकास को नूतन गति प्रदान की। लौह उपकरणों के माध्यम से पहले की अपेक्षा अधिक क्षेत्रों

---

१ इण्डियन आर्कियालजी १९६१-६२- ए रिव्यू, पृ० ३७ ।

२ के० के० सिन्हा, एक्सकेवेशन्स एट श्रावस्ती, १९५९ ; ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया, पृ० ६५ ।

३ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १५-७२ ।

को काट कर कृषि-योग्य बनाया गया[1] जिसके फलस्वरूप पैदावार में और अधिक वृद्धि हुई । कृषि का उत्तरोत्तर विकास सिंचाई की उत्तम व्यवस्था के बिना सम्भव न था[2]। तत्कालीन साहित्य से राज्य द्वारा की गयी सिंचाई की व्यवस्था के संकेत उपलब्ध होते हैं[3]। अन्य

---

१ काम जातक सं० ४६७ तथा व्यग्घ जातक सं० २७२ में प्राप्त विवरण से आशय निकलता है कि मनुष्यों द्वारा वन को काट कर खेत बनाया जा सकता था । वशिष्ठ धर्मसूत्र (१६,१२) में कहा गया है कि राजा यज्ञ के लिये अथवा कृषि-कार्य के लिये फल-फूलों वाले वृक्षों को हानि पहुंचा सकता था । महाभारत १,२१५-२१८ में प्राप्त खाण्डवदहन का प्रसंग इस बात का द्योतक है कि जंगलों को जला कर भूमि को कृषि-योग्य बनाने की प्रथा अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई थी ।

२ एन० सी० फ्रेडरिक, 'प्रि-कैपिटलिस्ट क्लास सोसायटीज़', आर०पी० गैराफिलोव तथा अन्य विद्वानों द्वारा सम्पादित, मैन, सोसायटी एण्ड एन्वायरनमेन्ट, पृ० ३६ ।

३ शाक्यों तथा कोलियों द्वारा रोहिणी नदी पर बनवाये गये बांध का प्रसंग कुणाल जातक, सं० ५३६ में प्राप्त होता है । नहरनिर्माण करने वाले नेत्तिकों (इंजीनियरों) का उल्लेख धम्मपद ८० तथा थेरगाथा १९, ८७७ में प्राप्त होता है । अर्थशास्त्र में सिंचाई के कर के रूप में कृषकों द्वारा उत्पादन का $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{5}$ अंश, राज्य को देने का नियम निर्धारित किया गया था ; द्रष्टव्य, अर्थशास्त्र २, २४ ।

के अतिरिक्त ने नगरों के विकास[1] में योगदान किया। आहत सिक्कों के रूप में पहले-पहल प्रतिष्ठित मुद्राप्रणाली[2] ने व्यापार तथा वाणिज्य के लिये विनिमय का नवीन माध्यम प्रस्तुत किया। बढ़े हुए उद्योग-धन्धों के रूप में श्रम-विभाजन का अपेक्षाकृत अधिक विकसित रूप सामने आता है। व्यापारिक मार्गों की संख्या में वृद्धि हुई[3] तथा पकायी हुई ईंटों के कारण भव्य भवन तथा दुर्गों का निर्माण सम्पन्न हुआ। अन्नातिरेक के कारण विकसित नगर, व्यापार वाणिज्य एवं उद्योग-धन्धों के विकास तथा सुप्रतिष्ठित मुद्राप्रणाली ने व्यापारियों, श्रेष्ठि-गहपतियों तथा महाजनों के वर्ग के उद्भव तथा विकास की आधारशिला निर्मित की, जो अपने अन्य सहयोगी वैश्य वर्ग की तुलना में धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा[4]। फलस्वरूप स्वयं

---

१ पालि साहित्य में ६० पुर और नगरों के नाम आते हैं इनमें से छः: चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी तथा वाराणसी का उल्लेख महानगरों के रूप में हुआ है, द्रष्टव्य, एस० के० दास, इकनामिक हिस्ट्री आफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० १७६-१८३।

२ टी० डब्ल्यू० रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०३-२०५।

३ व्यापारिक मार्गों के लिए द्रष्टव्य, ५, १. १०, जा० २. २४८ ; ३.३६५ ; अर्थशास्त्र २. ११-१२ तथा ७. १२।

४ देखिये आगे, पृ०

की अपेक्षा देश तत्व अधिक महत्वशाली हो गया था[१]। फलतः जनों का स्थान जनपदों ने ले लिया था जिनमें कुछ राजाधीन थे कुछ गणाधीन। राजाओं का पारस्परिक संघर्ष उतना ही तीव्र था जितना कि राजाधीन तथा गणाधीन जनपदों का। बड़े राज्यों में कौसल तथा मगध सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बने चुके थे। बुद्ध के समय तक काशी कौसल के साम्राज्य का अंग बन चुकी थी। ऐसे ही बिम्बिसार के समय में मगध में अंग जनपद को आत्मसात कर लिया था। शाक्य गण कौसल की अधीनता स्वीकार करता था फिर भी विदूडभ ने उस पर सांघातिक आक्रमण किया और अजातशत्रु ने लिच्छवियों से संग्राम ठाना। इन घटनाओं में गण राज्यों का ह्रास, राजतन्त्र का उत्कर्ष तथा मगध साम्राज्य का प्रसार स्पष्ट देखे जा सकते हैं[२]।

बड़े राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली कौसल तथा मगध क्षात्रिय सम्राटों (Monarchs) की आनुवंशिक परम्परा द्वारा शासित थे। इन राज्यों में नवीन आर्थिक व्यवस्था के समुचित संचालन तथा आन्तरिक सुव्यवस्था के लिये सेना तथा कर-विभाग जैसे राज्य

---

१ गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १८।

२ गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० १८-१९।

सम्बन्धी विशिष्ट अंगों का उत्कर्ष एक अनिवार्य आवश्यकता बन गयी । विशाल सेना का नियोजन निरंकुश राज्यशक्ति के विशेष सम्वर्धन की ओर संकेत करता है । राज्य पदाधिकारियों में पदानुसार छोटे तथा बड़े का विभाजन स्पष्ट होने लगा[2] ।

गणतन्त्रों में सत्ता जनजातियों के कुलीन अधिकारियों (Tribal oligarchs) के अधिकार में थी[3] । शाक्य तथा लिच्छवियों के गण राज्यों में शासक वर्ग प्रायः उसी वर्ण तथा गोत्र से सम्बद्ध होता था । गणतन्त्र कुछ अंशों में राजतन्त्र से भिन्न थे । मगध तथा कोशल में कृषकों से कर लेने का एकमात्र अधिकारी राजा था परन्तु गणतन्त्रों में प्रत्येक जन के कुलीन अधिपति (Tribal oligarch) को यह अधिकार प्राप्त था । ७७०७ लिच्छवि राजाओं के स्वयं अपने कोष थे । लिच्छवि राजाओं की यह संख्या काल्पनिक प्रतीत होती है । राजतन्त्र में एक ही विशाल सेना होती थी परन्तु गणतन्त्र में प्रत्येक राजा के पास सेनापति के नेतृत्व में एक सेना होती थी । गणतन्त्रों में सभी सभा-समिति

---

१ आर० एस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० २८८ ।

२ आर० एस० शर्मा, वही ।

३ आर० एस० शर्मा, वही ।

का अस्तित्व शेष था वो नवीन राजतन्त्रों में समाप्त हो चुका था । मौर्य काल में निरंकुश राजतन्त्र का विशेष उन्नयन तथा बलपीड़क शक्ति (Coercive power) का विकास सम्भव हुआ[1] ।

बदली हुई आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ धार्मिक क्षेत्र में भी बौद्ध तथा जैन धर्मों के रूप में नवीन धर्मों का आविर्भाव हुआ । वैसे तो छठी शताब्दी ई० पू० में आलार कालाम, पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजितकेसकम्बलि, निगंठनातपुत्त जैसे कई विचारक अपने-अपने सिद्धान्तों के प्रचार में लगे हुए थे परन्तु जनता को सबसे अधिक आकृष्ट किया बौद्ध तथा जैन धर्म ने । विशेष रूप से बौद्ध धर्म अधिक लोकप्रिय हुआ ।

बौद्ध धर्म ने ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार किया तथा संघ में ऊँच-नीच सभी को समान स्थान देकर सामाजिक असमानता को समाप्त करने का प्रयास किया[2] । दासों के साथ उदार व्यवहार[3] का सन्देश बौद्ध धर्म के माध्यम से आया[4] । बौद्ध तथा जैन

---

1 आर० एस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आफ पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २८९ ।

2 राहुल सांकृत्यायन, 'बुद्धिस्ट डायलेक्टिक्स', बुद्धिज़्म—ए मार्क्सिस्ट एप्रोच, पृ० २-३ ।

3 देखिये आगे, पृ०

4 डी० डी० कोसम्बी, ऐन इंट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० १५७ ।

धर्म की लोकप्रियता का एक पहलू आर्थिक भी था । आर्थिक दृष्टि से कुछ क्षेत्रों में ब्राह्मण धर्म अनुपयोगी हो चला था । उदाहरण के लिये 'पशुबलि' का ब्राह्मण धर्म में विशेष महत्व था और पशु कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था तथा सम्पत्ति की एक आवश्यक निधि थे[1]। व्यापार के प्रति ब्राह्मण धर्म का दृष्टिकोण कुछ विशेष अच्छा नहीं था । यद्यपि आपत्ति-काल में ब्राह्मणों को व्यापार करने की अनुमति प्रदान की गयी थी, परन्तु उस अवसर पर भी उन्हें कुछ विशेष वस्तुओं के बेचने का निषेध किया गया, जैसे- अन्न, पेय पदार्थ, सुगन्धित द्रव्य आदि[2]। इसी प्रकार समुद्र यात्रा तथा सूदखोरी के प्रति भी ब्राह्मणों का दृष्टिकोण अच्छा नहीं था । इसके विपरीत बौद्ध धर्म में इन्हें उपेक्षा अथवा घृणा की दृष्टि से नहीं देखा गया[3]। इसी प्रकार नगर-जीवन की

---

१ आर० एस० शर्मा, 'मैटीरियल बैकग्राउण्ड आफ द औरिजिन आफ बुद्धिज्म', दास कैपिटल सेन्टीनरी वाल्यूम : ए सिम्पोज़ियम, सम्पादक मोहितसेन तथा एम० बी० राव, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० ६२-६३ ।

२ आर० एस० शर्मा, वही ।

३ आर० एस० शर्मा, वही ।

एक विशिष्ट देन 'वारांगनायें' ब्राह्मणों द्वारा हीन दृष्टि से देखी गई, परन्तु बुद्ध ने ससम्मान आम्रपाली का आतिथ्य ग्रहण किया। ऐसे 'सेट्ठियों' से भी बुद्ध के घनिष्ठ सम्बन्ध थे जो सूदखोर थे[1]।

सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप

प्रस्तुत काल में वर्ण-व्यवस्था के आधार पर समाज का स्तरीकरण परिलक्षित होने लगता है। अलग-अलग जीवनविधियों तथा सामाजिक एवं धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित होकर वर्णों का एक दूसरे से पार्थक्य और स्पष्ट होने लगा। धर्मसूत्रों में वर्ण-धर्म पर अलग-अलग खण्ड (Sections) मिलते हैं, जिनमें वर्णों के कर्तव्यों और अधिकारों का क्रमबद्ध विवरण प्राप्त होता है। वर्णों को जन्म[2] पर आधारित ही मानने की प्रवृत्ति भी दिखायी देने लगती है

---

१ आर० एस० शर्मा, 'मैटीरियल बैकग्राउण्ड आफ द ओरिजिन आफ बुद्धिज्म', दास कैपिटल सेन्टीनरी वाल्यूम : ए सिम्पोज़ियम, सम्पादक मोहित सेन तथा एम० बी० राव, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ० ६२-६३।

२ 'कृष्णजातीय' शब्द निरुक्त में तथा 'ब्राह्मणजातीय' शब्द अष्टाध्यायी में मिलता है। देखिये, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ५५।

जो जाति-व्यवस्था के विकास के एक पक्ष की द्योतक है। इससे वर्णों को एक दूसरे से अलग ठोस समुदायों के रूप में बनने में सहायता मिली होगी।

ब्राह्मण

प्रस्तुत काल में विशेषाधिकारों के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण में एक प्रकार का अनुक्रम (Hierarchy) दृष्टिगोचर होने लगता है। सूत्रों में ब्राह्मणों को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है[१]। इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थों में क्षत्रियों को प्रथम स्थान तथा ब्राह्मणों को द्वितीय स्थान दिया गया है[२]; पर बलवती विचारधारा के अनुसार ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वोपरि था। सूक्ष्म दृष्टि से

---

१ आप० ध० सू० २.२.४.१८ ; तु० विष्णु धर्मसूत्र ३२, १७,
जी० एस० घुर्ये, कास्ट, क्लास एण्ड अक्यूपेशन, पृ० ७४-७५
ई०ए० एच० ब्लण्ट, द कास्ट सिस्टम आव नार्दन इण्डिया, पृ०१४-१५।

२ मज्झिम निकाय २, १७७, अंगुत्तर निकाय ४, २६, ३४ तथा ५, २६०-६१ ; रीज़ डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० ५३; [illegible], फ़िक, द सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्ध्स टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० १७।

देखने पर ज्ञात होता है कि सूत्रों में उन ब्राह्मणों का उल्लेख भी मिलता है जो अशिक्षित थे तथा वर्णधर्म का पालन न कर अन्य हीन व्यवसायों द्वारा जीवनयापन कर रहे थे। दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थों में भी गुणी एवं विद्वान् ब्राह्मणों की महिमा वर्णित है। इस तथ्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बौद्ध एवं ब्राह्मण परम्परायें ब्राह्मणों की तत्कालीन वास्तविक स्थिति की परिचायक हैं। गुणी, विद्वान् तथा सच्चरित्र ब्राह्मणों का स्थान समाज में अभी भी सर्वोपरि था। उन्हीं में से कुछ ब्राह्मण, जो वेदज्ञान से रहित थे तथा अन्य व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन कर रहे थे, अपकर्ष की ओर उन्मुख होने लगे थे। अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए बौद्ध लेखकों ने इन्हीं हीन ब्राह्मणों का संश्लिष्ट चित्र जनता के सामने रखा। अष्टाध्यायी (५. ४. १०५) में आये `कुब्राह्मण` तथा `महाब्राह्मण` से भी कुछ इसी प्रकार की स्थिति का आभास मिलता है[1]।

ब्राह्मणों के कर्तव्यों में वेदाध्यापन, यज्ञ कराने तथा दान लेने की चर्चा पहले भी की जा चुकी है[2]। पुनः इनका उल्लेख

---

१ द्रष्टव्य, वी० एस० अग्रवाल, इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि, पृ० ७३।

२ देखिये पीछे, अध्याय २।

धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है[1]। गौतम ने लिखा है कि राजा ब्राह्मणों को छोड़ कर सबका शासक है[2]। गौतम ने ब्राह्मणों को ६ प्रकार के दण्ड से भी मुक्त किया है। उनके अनुसार ब्राह्मणों को पीटा न जाय, उन्हें हथकड़ी बेड़ी न लगायी जाय, उन्हें धन-दण्ड न दिया जाय, उन्हें ग्राम अथवा देश से न निकाला जाय, उनकी भर्त्सना न की जाय एवं उन्हें त्यागा न जाय[3]। बौधायन ने ब्राह्मणों को अवध्यनीय मानते हुए भी अनैतिक ब्राह्मणों के लिये शरीरदण्ड तथा निष्कासन का नियम निर्धारित किया[4]।

आपस्तम्ब ने श्रोत्रिय को करों से मुक्त किया है[5]। कौटिल्य ने भी ब्रह्मदेय भूमि को ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित तथा श्रोत्रिय

---

१ द्रष्टव्य, पी०वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० १४२ (हिन्दी)।

२ गौ० ध० सू० ११. १ ; यही तरह की बात शतपथ ब्राह्मण में भी कही गयी है। देखिये पीछे, अध्याय २।

३ गौतम० ८, १२-१३ ।

४ बौधायन० १, १०, १८-१६ ।

५ आपस्तम्ब० २, १०,२६, १० ।

को दान करने के सम्बन्ध में यह बताया कि वह भूमि उपजाऊ तथा करमुक्त होनी चाहिये[1]।

पाये गए धन के सम्बन्ध में अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों को अधिक छूट दी गयी[2]। भर्त्सना सम्बन्धी प्रसंगों में ब्राह्मणों के लिये न्यूनतम जुर्माने की व्यवस्था थी[3]। अवरुद्ध मार्ग में जाने के लिये ब्राह्मण को राजा से भी अधिक प्राथमिकता दी गयी है[4]। इसी प्रकार ब्रह्महत्या को जघन्य पाप बताया गया है[5]। ब्राह्मणों के लिये मृत्यु-सम्बन्धी अशौच काल भी अन्य वर्णों की अपेक्षा कम था।

क्षत्रिय

ऊपर कहा जा चुका है कि धर्मसूत्रों में सामाजिक अनुक्रम में क्षत्रियों को द्वितीय स्थान दिया गया है और बौद्ध ग्रन्थों में

---

१ अर्थशास्त्र २, १ ।

२ गौ० १०, ४३-४५ ।

३ गौ० १२, ८-१० ।

४ आप० २, ५, ११, ५-६ ।

५ गौ० २१, १ ; वसि० १, २० ।

प्रकृम । इस वर्ग[1] के अन्तर्गत उन सभी राजपरिवारों और व्यक्तियों को सम्मिलित किया गया है जो या तो स्वयं राजा थे या उनके परिवार से सम्बन्धित थे । इस वर्ग में सैनिक लोग भी सम्मिलित थे[2]। युद्ध करना तथा प्रजाजन की रक्षा करना क्षत्रियों का मुख्य कर्तव्य बताया गया है ।

वैश्य

वैश्यों का सामाजिक-धार्मिक (Ritual) स्थान ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के बाद था[3]। परन्तु इस काल में वैश्य वर्ण में से ही एक सम्पन्न समुदाय उभरने लगा था जिसमें पालि ग्रन्थों के सेट्ठि गहपति, कुटुम्बिक तथा सम्पन्न व्यापारी और सार्थवाह सम्मिलित थे । आर्थिक सम्पन्नता के कारण इनका स्थान समाज में अन्य वैश्यों की अपेक्षा ऊपर उठने लगा था । गृह्यसूत्रों[4] में भी इस बात की चर्चा आई है कि

---

१ ई० डब्ल्यू० हापकिन्स, द सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आव रूलिंग कास्ट इन इण्डिया, पृ० १७ ।

२ ई० डब्ल्यू० हापकिन्स, वही, पृ० १७ ।

३ रामगोपाल, इण्डिया आव वैदिक कल्पसूत्रज़, पृ० १४४ ।

४ गौ० गृ० सू०, १. १. १५ ; पा० गृ० सू०, १. २. ३ ।

गार्हपत्याग्नि की स्थापना के समय अग्नि उस वैश्य के घर से लायी जाय जो पशुधन से सम्पन्न हो[1]।

वैश्यों में गहपतियों का स्थान महत्वपूर्ण था[2]। गहपतियों के इस समुदाय में सम्पन्न वैश्यों के अतिरिक्त सम्पन्न क्षत्रिय तथा ब्राह्मण भी सम्मिलित थे। गहपतियों को राजदरबार में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था[3] जो अन्य वैश्यों की अपेक्षा उनके उत्कर्ष का सूचक है।

कुटुम्बिक से भी धनी परिवार के स्वामी का बोध होता है[4]। ये वाणिज्य-व्यापार[5], अनाज का व्यवसाय[6] तथा कृषि

---

१ एम० एम० सिंह, *लाइफ इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन प्रि-मौर्यन टाइम्स*, पृ० ११-१२।

२ द्रष्टव्य, *महावग्ग* ६, २८, ४ ; *दी० नि०*, १, ६० ; २,१४५-४६, *म० नि०* १, १७६, ३६५, ५०२।

३ *जातक* १, पृ० १५२ तथा ४७० ; २, पृ० १२४ तथा २४९ ; ४, पृ० २२७ (फाउसबाल)।

४ *जातक* २, पृ० २६७ ; फिक, *द सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया इन बुद्धस टाइम*, पृ० २५७।

५ जातक ४, पृ० ३७०।

६ जातक २, पृ० २६७।

-कार्य करते थे[1]। ये धन उधार देने का कार्य भी करते थे[2]।

वैश्यों का सर्वाधिक सम्पन्न वर्ग श्रेष्ठियों का था[3]। नगर-जीवन के विकास में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है[4]। राजगृह के एक श्रेष्ठि गहपति का उल्लेख मिलता है जिसने राजा तथा निगम के साथ बहुत उपकार किये थे[5]। अनाथपिण्डिक नामक महाश्रेष्ठि ने बौद्ध भिक्षुओं के आवासों के निमित्त प्रचुर धनराशि प्रदान की थी। श्रेष्ठियों को भी राजदरबार में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था[6]।

---

१ जा० १, पृ० १९६ ।

२ जा० २, पृ० ३८८ ।

३ फ़िक, सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम, अनुवादक एस० के० मैत्र, पृ० २५५-२५७ ।

४ आर० एस० शर्मा, आयरन एण्ड अर्बनाइज़ेशन इन द गंगा बेसिन, द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम १, नं० १ मार्च, १९७४, पृ० १०० ।

५ जा० १, पृ० २७०, महावग्ग ८. १. १६
अयं सो सेट्ठिगहपति बहूपकारो देवस्स च नेगमस्स च ।

६ जा० १, पृ० ३४५ ; ३, २९९ ; ३, ४७५ ; ५, ३८४ ।

महाजनक जातक में उन्हें अमात्यमण्डल तथा ब्राह्मणों के समकक्ष आसीन बताया गया है।[1] सांसारिक वैभव त्याग देने वाले सेट्ठियों के उल्लेख भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं।[2] उन्हें स्थान-स्थान पर 'असीतिकोटिविभवो' (अस्सी करोड़ सम्पत्ति वाला) कहा गया है[3]। अस्सी करोड़ सम्पत्ति के इन सन्दर्भों में मुद्राविशेष का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। अति-शयोक्ति पूर्ण होने के बावजूद ये विवरण उनकी सम्पन्न स्थिति का आभास अवश्य देते हैं। उनके पुत्र क्षत्रिय तथा ब्राह्मण कुमारों के साथ शिक्षा प्राप्त करते थे तथा आचार्यों को दक्षिणा में पर्याप्त धन दिया करते थे।[4]

महाभारत में श्रेणिमुख्यों का उल्लेख प्राप्त होता है और उनके महत्वपूर्ण स्थान की पुष्टि उस प्रसंग से होती है जब दुर्योधन गन्धर्वों से पराजित होने के कारण राजधानी लौटने से इनकार करता है क्योंकि हार के कारण वह श्रेणिमुख्यों को अपना मुंह दिखाने में असमर्थ पाता है (महाभारत ३.२४.६.१६)[5]।

---

१ जा० ६, ४२ ।

२ जा० २, ६४ ।

३ जा० १, ३४५ ; ३, १२८, ३००, ४४४ ; ५, ३८२ ।

४ जा० ५, ३८ ।

५ हापकिन्स, द सोशल एण्ड मिलिटरी पोज़ीशन आफ रूलिंग कास्ट इन इण्डिया, पृ० २५-२६ ।

शूद्र

सामाजिक अनुक्रम में शूद्र वर्ण का स्थान अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा हीन था । आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार शूद्रों को उपनयन, वेदाध्ययन तथा अग्न्याधान का अधिकार नहीं था[1]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में शूद्रों की उपस्थिति में वेदपाठ निषिद्ध बताया गया है[2]। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि शूद्र के लिये पुरोहित का कार्य करने वाले ब्राह्मण का अपकर्ष हो जाता था[3]। शूद्रों पर आरोपित विभिन्न निर्योग्यतायें[4] इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस काल में तीन उच्च वर्णों, विशेष कर ब्राह्मणों, तथा शूद्रों के मध्य का अन्तर और अधिक गहरा हो गया था ।

तीन उच्च वर्णों की सेवा शूद्रों के जीवन-यापन का साधन बतायी गयी है[5]। पहले-पहल धर्मसूत्रों में इस विचार का उल्लेख

---

१ आप० १, १, १,५ ।

२ आप० १,३, ९,९ ; तु० मनु० ४, ९९ ।

३ गौ० २०, १ ।

४ विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन एंश्येण्ट इण्डिया, अध्याय ४ ।

५ वसि० २, १, ३

मिलता है कि शूद्र द्वारा छुवा हुवा भोजन अपवित्र हो जाता था[१]। आपस्तम्ब ने कहा है कि शूद्र का स्पर्श हो जाने पर ब्राह्मण को भोजन का परित्याग कर देना चाहिये[२]।

बौधायन के अनुसार शूद्रापुत्र को पिता की सम्पत्ति में केवल एक भाग का अधिकार था जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यपुत्र क्रमशः चार, तीन तथा दो भागों के अधिकारी थे[३]। सम्पत्ति के सम्बन्ध में वसिष्ठ ने केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को अधिकार प्रदान किया, शूद्र को नहीं[४]। इस प्रकार की निर्योग्यतायें सामाजिक अनुक्रम में अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा हीन स्थान की द्योतक हैं। यदि यह कहा भी जाय कि गंगा घाटी के पिछले भाग में नन्दों के रूप में कुछ शूद्रों का उत्कर्ष हो गया था तब भी, वर्ग के रूप में शूद्रों पर आरोपित निर्योग्यताओं

---

१ आप० १.५.१६.२१-२६ ; गौ० ५.४१-४२

आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ११३ ।

२ आप० १. ५. १७. १ ।

३ बौ० २. २. ३. १० ।

४ वसि० १८. ५७-६० ।

में कोई कमी हुई, यह नहीं कहा जा सकता । पाणिनि ने शूद्रों का वर्गीकरण दो भागों में किया है : `निरवसित` और `अनिरवसित`। (२.४.१०)। पतञ्जलि के अनुसार पाणिनि ने चाण्डाल तथा मृतपों को उन शूद्रों (निरवसित) के अन्तर्गत रखा है जो नगरों तथा ग्रामों के बाहर रहते थे।[1]

व्यावसायिक एवं जनजाति-समुदाय : मिश्रित जातियाँ

विभिन्न व्यावसायिक एवं जनजातीय समुदायों को एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रखने का सर्वप्रथम प्रयास धर्मसूत्रों के काल में मिलता है । धर्मसूत्रों में विभिन्न व्यावसायिक एवं जनजातीय समुदायों को, मिश्रित जातियों के रूप में अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों के परिणामस्वरूप उत्पन्न बताया गया है अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों के माध्यम से मिश्रित जातियों की उत्पत्ति की इस अवधारणा में अधिकांश अंश कल्पित प्रतीत होता है । वास्तव में इनका उद्भव श्रम-विभाजन के आनुवंशिक तकनीकी विशिष्टीकरण, विजय एवं जनजातियों के उत्संस्करण के फलस्वरूप सम्भव हुआ होगा । मौर्य-काल में राजनीतिक केन्द्रीकरण के फलस्वरूप बढ़ी हुई नियमन की शक्ति ने भी इनके उद्भव और विकास में योगदान किया होगा[2]।

---

१ महाभाष्य १, ४७५ ; वी० एस० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ६४ ।

२ एवा एण्ड मैरिया रीतशिल, स्टडिएन जु कौटिल्य अर्थशास्त्र रिव्यूड, ए रिव्यू बाई फियोडोर बर्गीन, जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री, वाल्यूम ५४, दिसम्बर १९७६, पृ० ७७३ ।

गौतम धर्मसूत्र के अनुसार अनुलोम-क्रम में उत्पन्न वर्णसंकर जातियां अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौष्यन्त तथा पारशव थीं[1]। बौधायन के अनुसार अम्बष्ठ, निषाद, उग्र तथा रथकार थीं[2]। वशिष्ठ ने अनुलोम-क्रम में अम्बष्ठ, उग्र, निषाद तथा पारशव का उल्लेख किया है[3]। गौतम ने अपने धर्मसूत्र में कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार बतायी गयी जातियों का नामोल्लेख भी किया है। अनुलोम-क्रम में उत्पन्न ये जातियां मूर्धावसिक्त, भृज्यकण्टक, माहिष्य, पारशव, यवन तथा करण थीं[4]। यवन इस तालिका में हैं। पर ये विदेशी थे।

प्रतिलोम-क्रम में गौतम ने सूत, मागध, आयोगव, वैदेहक, चाण्डाल तथा क्षत्तृ का उल्लेख किया है[5]। बौधायन ने आयोगव, मागध, वैण, पुल्कस, कुक्कुट, सूत, वैदेहक तथा चाण्डाल का उल्लेख किया है[6]। वशिष्ठ ने अन्त्यावसायिन, वैण, चाण्डाल, पुल्कस तथा सूत का उल्लेख किया है[7]।

---

१ गौ० ४, १४ ।

२ बौ० १.९.३-५ ; २. २. २९ ।

३ व०, १८,१-६ ।

४ ब्यूलर, सैक्रेड लाज़ आफ द आर्याज़, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० १९८ ।

५ गौ० ४,१५ ।

६ बौ० १, ८८ ; १.९.७-८ ।

७ व० १८, ६ ।

मिश्रित जातियों की विस्तृत तालिका महाभारत के अनुशासनपर्व में मिलती है परन्तु यह बाद का माना गया है इसलिये अनुशासनपर्व में उल्लिखित जातियों का उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा । अर्थशास्त्र में आयोगव, अम्बष्ठ, क्षत्ता, चाण्डाल, मागध, वैदेहक, सूत, कुक्कुट, उग्र, निषाद, पुल्कस, वेण, कुशीलव तथा श्वपाक का उल्लेख हुआ है[1]।

मिश्रित जातियों में से पांच जातियों को बौद्ध ग्रन्थों में विशेष घृणा की दृष्टि से देखा गया । इनके नाम चाण्डाल, पुक्कुस, निषाद, वेण तथा रथकार बताये गए हैं ।

चाण्डाल

इनमें सर्वाधिक हीन स्थिति चाण्डालों की थी[2]। इनका उद्भव जनजातीय (tribal) बताया गया है[3]। आर्येतर लोगों

---

१ अर्थ० ३. ७ ।

२ पूर्ववर्ती काल से ही चाण्डालों की हीन स्थिति का आभास मिलने लगता है, यद्यपि प्रस्तुत काल में मिलने वाली अस्पृश्यता का आभास पहले नहीं मिलता है । पूर्ववर्ती काल में चाण्डालों की हीन स्थिति के लिये द्रष्टव्य, वाज० सं० ३०,२१; तै०ब्रा० ३.४.१७.१ ; छां० उप० ५,१०७ ; २४.४ ; प्रश्न उप०. ४. १. २२ ।

३ फ़िक, सोशल आर्गनाइज़ेशन आव नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम, अनु० आर० एन० मैत्र, पृ० ३१६-३१७ ।

के समूहों का आर्य-समाज में स्थान इस आधार पर उठा और गिरा कि वे शक्ति, सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा में किस सीमा तक आर्य अधिपतियों के समकक्ष खड़े होने में समर्थ हुए अथवा आर्य-संस्कृति के तत्वों को अपनाने में कहां तक सफल हुए । जो समूह स्वयं आर्येतरों में ही पिछड़े हुए थे तथा जो आर्य-संस्कृति को अपनाने में असफल रहे उन्हें आर्य-समाज से बाहर निष्कासित कर अस्पृश्यता का बाना पहना दिया गया ।

गौतम धर्मसूत्र में चाण्डालों की उत्पत्ति शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री से बतायी गयी,[1] जो प्रतिलोम विवाह का निकृष्टतम रूप था । यह धारणा केवल सैद्धान्तिक प्रतीत होती है जिसके माध्यम से उन्हें सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया गया । वास्तविकता उनके देशीय समुदाय से सम्बन्धित होने की ही अधिक है । चाण्डालों की अस्पष्ट भाषा[2] तथा द्रविड़, कलिंग, शबर, गौड़ तथा गान्धार के साथ चाण्डालों का उल्लेख[3] उनके जनजातीय उद्भव को ही प्रमाणित करता है ।

---

१ गौ०ध० सू० ४.१५ तथा २३ ; पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० १७९ ।

२ जा० ४. ३९१ ।

३ सूत्रकृत् २. २. २७ (एस० बी० ई० सीरीज़) ; आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १२६ ।

धीरे-धीरे चाण्डाल अस्पृश्य समझे जाने लगे[1]। इस युग के ग्रन्थ उन्हें छूना तथा देखना भी पाप बताते हैं[2]। उनकी दयनीय स्थिति की झलक कई स्थलों पर प्राप्त होती है[3]। चाण्डालों में हीनतम विचार तथा भीख से उनकी कुलों[4] तथा नगरों में वर्जित प्रवेश[5]

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १२६ ।

२ आप० ध० सू० २. १.२.८-९, जातक ३, २३३ ; ४, ३९०-९१ ; आर० एस० शर्मा, वही, पृ० १२६ ।

३ आप० ध० सू० १. ३. ९. १५-१७ ; गौ० ध० सू० ; १६,१९ ; विवेकानन्द झा, 'वर्ण-संकर इन द धर्मसूत्र : थियरी एण्ड प्रैक्टिस; जर्नल आव द इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आव द ओरिएन्ट, वाल्यूम १३, पार्ट ३, १९७०, पृ० २८२ ।

४ जातक २, ६ ; ४, २४६ ; फ़िक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३१९ ।

५ जा० ४, ३९० ; द्रष्टव्य, कावेल, भाग ४, पृ० २४४ ।

उनकी शोचनीय स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिये पर्याप्त हैं। उनकी अस्पृश्य तथा घृणित स्थिति के कारण ही सम्भवतः उनका निवास-स्थान नगरों से बाहर[1] अथवा श्मशान के पास[2] निर्धारित किया गया होगा। उनकी इस स्थिति का कारण आर्थिक-सांस्कृतिक पिछड़ापन प्रतीत होता है।

चाण्डालों को दूर से ही पहचान कर उनके स्पर्श से बचा जा सके इसीलिये उनकी वेशभूषा भी अन्य लोगों से भिन्न होती थी। उनके हाथों में मिट्टी का बर्तन और अशोभनीय लाल तथा गन्दा होता था, जिसके चारों ओर लाल पट्टी बंधी होती थी[3]। रामायण में उनके वस्त्र तथा वर्ण दोनों ही नीले (श्याम) बताये गये हैं। सिर के बाल छोटे, शरीर रूखा, चिता की भस्म से लिपटा तथा लोहे के आभूषणों से युक्त होता था[4]।

---

१ जा० ४, ३७६ ; ४, २००, ३९० ; फिक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धस टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३१८।

२ कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ३९
'पाषण्डचण्डालानां श्मशानान्ते वासः'।

३ जा० ४, ३९७।

४ वाल्मीकि रामायण १, ५८, १०-११
'नीलवस्त्रधरो नीलः परुषो ध्वस्तमूर्धजः।
चित्यमाल्यानुलेपश्च आयसाभरणोऽभवत् ॥'

उनके व्यवसाय अथवा जीविकोपार्जन के साधन के सन्दर्भ में जातक उन्हें 'अवधातक'[1] 'चण्डालपाटि-संवारिक' तथा कभी-कभी 'रज्जुघातिक'[2] भी बताते हैं। कुछ ग्रन्थों में उनका कार्य अपराधियों को शूल-दण्ड देना बताया गया है जिसमें प्राण-दण्ड भी सम्मिलित था।

---

१ जातक ५, ४४६ ।

२ जातक ५, ४४६ ।

३ जातक ४, ३८८ । द्रष्टव्य, एम० एम० सिंह, लाइफ इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन प्रि-मौर्यन टाइम्स, पृ० १८ ।

४ 'स्त्रीणां ग्राममध्ये चण्डालः कटान्तरे पञ्चशिफा दद्यात् ।'
आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० १०१ ।

'रज्जुशस्त्रविषैर्वापि कामक्रोधवशेन यः
घातयेत्स्वयमात्मानं स्त्री वा पापेन मोहिता
रज्जुना राजमार्गे तांश्चण्डालेनापकर्षयेत् ।
—आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० १४० (४, ७, २२-२३) ।

आर० शामशास्त्री का अंग्रेजी अनुवाद भी द्रष्टव्य, कौटिल्यज़ अर्थशास्त्र, पृ० १७६ तथा २४६ ।

५ विष्णु धर्मसूत्र १६, ११ ; द्रष्टव्य, ए० एन० बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० २२७ ।

पुक्कुस

सम्भवत: चाण्डालों की भाँति पुक्कुस भी आर्येतरों के ही एक वर्ग थे[1]। इनकी गणना भी चाण्डालों के ही समान घृणित जातियों में हुई है[2] परन्तु सम्भवत: चाण्डालों की भाँति ये उतने घृणित नहीं समझे जाते थे क्योंकि कभी-कभी इन्हें शिकार के अतिरिक्त मन्दिरों तथा राजमहलों की सफ़ाई कर जीवननिर्वाह करते

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १२८ ; फ़िक, सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धस टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३११ ; ए० एन० बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानमी आव नार्दर्न इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० २२५, रतिलाल एन० मेहता, प्रि-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० २५३ ; एम० एम० सिंह, लाइफ़ इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया इन प्रि-मौर्यन टाइम्स, पृ० २० ।

२ एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० २३० ।

दूर देखा जा सकता है[1]। मन्दिरों तथा राजमहलों में उनका प्रवेश ही उनकी चाण्डालों की अपेक्षा अच्छी स्थिति का द्योतक है । चाण्डालों का तो प्रवेश ही नगर में वर्जित था ।

पालि ग्रन्थों के ये 'पुक्कुस' ब्राह्मण ग्रन्थों के पुल्कस अथवा पुक्कस ही हैं । बौधायन ने इन्हें निषाद पुरुष तथा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न बताया है[2]। गौतम ने क्षत्रिय स्त्री तथा शूद्र पुरुष की सन्तान बताया है[3]। वशिष्ठ ने वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री की सन्तान,[4] तथा अर्थशास्त्र में इन्हें निषाद पुरुष तथा उग्र स्त्री की सन्तान बताया गया है[5]। इस विषय में फ़िक का मत ही अधिक

---

१ <u>जातक</u> ३, १९५ ; द्र० फ़िक, <u>सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम</u>, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३२१ ।

२ <u>बौ० ध० सू०</u> १, ९,१४ ; पी० वी० काणे, <u>हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र</u>, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ८८ ।

३ <u>गौ० ध० सू०</u> ४, १६ ।

४ <u>वशि० ध० सू०</u> १८, ५ ; तुलनीय, <u>वि० ध० सू०</u> १६, ५ ।

५ <u>अर्थशास्त्र</u> ३, ७, ३१ ; कांगले द्वारा सम्पादित <u>कौटिलीय अर्थशास्त्र</u>, पृ० १०७ ; शामाशास्त्री, <u>कौटिल्य अर्थशास्त्र</u>, पृ० १९० ।

अर्वाचीन प्रतीत होता है । उनके अनुसार यह एक प्रजातीय व्यावसायिक वर्ग था जो शिकार तथा अन्य घृणित कार्यों द्वारा जीवन-यापन करता था[1]। पालि ग्रन्थों में इनका कार्य मुरझाये हुए फूलों को बटोरना था[2]। सुनीथ नामक थेर इसी जाति का था, उसने अपनी हीन स्थिति का वर्णन स्वयं किया है[3]।

निषाद

चाण्डाल तथा पुक्कुस की भांति निषाद भी जनजातीय (Ethnic caste) ही बताये गये हैं[4]। ये अपनी जीवन-

---

१ फ्रिक, सोशल आर्गनाइजेशन आव नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्ध टाइम अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३११ ।

२- जा० ३, १६५ ।

३ जा० ३, २३३-३५ ; थेरगाथा ६२०, ६२१ ।

४ फ्रिक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्ध टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३२४ ; रामगोपाल, इण्डिया आव वैदिक कल्पसूत्रज़, पृ० ११५-११६, विवेकानन्द झा, 'फ्राम ट्राइब टु अनटचेबुल, द केस आव निषादज़,' इण्डियन सोसायटी हिस्टारिकल प्रोबिंग्स इन मेमरी आव डी० डी० कोसम्बी ; सम्पादक, आर० एस० शर्मा, पृ० ६८।

निर्वाह शिकार द्वारा तथा मछली पकड़ कर किया करते थे। चूंकि शिकार तथा मछली पकड़ने का व्यवसाय मानव के पिछड़ेपन का प्रतीक है[1] तथा कृषि, पशुपालन एवं अन्य उद्योगों की अपेक्षा इन कार्यों द्वारा अधिक धनोपार्जन भी सम्भव नहीं था इसीलिये निषादों की स्थिति भी हीन हो गई[2]।

पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों में हम न केवल निषादग्रामों[3]

---

१ विवेकानन्द झा, 'फ्राम ट्राइब टु अनटचेबुल ; द केस आव निषादज़'; इण्डियन सोसायटी हिस्टारिकल प्रोबिंग्स इन द मेमरी आव डी० डी० कोसम्बी, आर० एस० शर्मा द्वारा सम्पादित, पृ० ७५।

२ डी० डी० कोसम्बी, द कल्चर एण्ड सिविलाइज़ेशन आव ऐंश्येण्ट इण्डिया इन हिस्टारिकल आउटलाइन, पृ० ५१ ; द्रष्टव्य, 'अर्ली स्टेजेज़ आव द कास्ट सिस्टम इन नार्दर्न इण्डिया', जर्नल आव द बाम्बे ब्रान्च आव रायल एशियाटिक सोसायटी, न्यू सीरीज़, १२, १९४६, पृ० ३७।

३ जातक १, २३४ में ऐसे निषादग्राम का उल्लेख है जिसमें एक प्रधान के अन्तर्गत ५०० से १००० शिकारी तथा मछली पकड़ने वाले परिवार रहते थे।

का ही उल्लेख पाते हैं अपितु राज्यों, राजाओं तथा सेनाओं का भी विवरण प्राप्त होता है[1]। ऐसे ही एक निषादराज्य का उल्लेख महाभारत में प्राप्त होता है[2]।

पाणिनि के गणपाठ में एक निषाद गोत्र का उल्लेख है[3]। इस पर कोसम्बी की धारणा है कि निषाद गोत्र का अस्तित्व तब तक सम्भव नहीं है जब तक कुछ देशज पुरोहित आर्य-समाज में ग्रहण न किये गये हों[4]। सम्भवतः कुछ निषादों ने पुरोहित वर्ग में स्थान

---

१ निषधराज नल का उल्लेख महाभारत ३. ५५. ८-९ में प्राप्त होता है ।

२ महाभारत १. २४. २ ; ३. ५४. १७ ; ३. ५४. १६ ; ३. ५५. १ ; द्रष्टव्य, ए० एन० बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानामी आफ नार्दर्न इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० २३४ ।

३ अष्टाध्यायी, ४. १. १०० ; एन० वागले, सोसायटी एट द टाइम आफ बुद्ध, पृ० १२४ ।

४ डी० डी० कोसम्बी, द बेसिस आफ इण्डियन हिस्ट्री, (१), जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी, जनवरी-मार्च, १९५५, पृ० ४४ ।

पा लिया था[1]। यह बहुत स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक काल की अपेक्षा इस समय समाज में निषादों की स्थिति हीन हो गयी थी[2]। ब्राह्मण ग्रन्थ इन्हें ब्राह्मण पिता तथा शूद्रा माता[3] अथवा ब्राह्मण पिता अथवा वैश्या माता[4] की सन्तान बताते हैं परन्तु यह तथ्य कल्पना मात्र प्रतीत होता है। पहले कहा जा चुका है कि ये आर्येतर जनों से सम्बन्धित थे।

वेण

फ्रिक तथा ए० एन० बोस ने वेण को व्यावसायिक जाति अथवा आर्येतरों का वह वर्ग माना है जो मछली पकड़ने वाले वर्गों तथा शिकारियों की अपेक्षा सुसंस्कृत था[5]। विष्णु धर्मसूत्र में

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंशियेण्ट इण्डिया, पृ० १३० ।

२ वही ।

३ बौ० ध० सू०, १. ९. १७. ३ ; २. २. ३. २९ ; वशि० ध० सू०, १८. ८ ; अर्थशास्त्र, ३. ७. २१ ।

४ गौ० ध० सू० ४. १४ ।

५ फ्रिक, सोशल आर्गनाइज़ेशन आफ नार्दर्न इण्डिया इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३२६ ; ए० एन० बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानमी आफ नार्दर्न इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० २३४ ।

इन्हें कर्मकार, निषाद तथा पुल्कस के साथ रखा गया है[१]।
ललितविस्तर में इनका उल्लेख चाण्डाल, पुक्कुस, तथा रथकार आदि 'हीनकुलों' के सम्बन्ध में हुआ है जिनमें बोधिसत्व ने जन्म नहीं लिया था[२]।

बौधायन ने वेण को क्षत्रिय माता तथा वैदेहक पिता की सन्तान बताया है[३]। विष्णु धर्मसूत्र इसे प्रतिलोम जाति बताते हुए शूद्र पुरुष तथा क्षत्रिय माता की सन्तान बताता है[४]। अर्थशास्त्र[५] में 'वेण' अम्बष्ठ तथा वैदेहक स्त्री की सन्तान बताये गये हैं। एक बाद के जातक[६] में यद्यपि 'वेणि' शब्द अपमानित करने के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है पर ऐसा कोई सन्दर्भ प्राप्त नहीं होता है जिसके आधार पर इन्हें

---

१ विष्णु ध० सू० १८, २ ; पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ९५ ।

२ ललितविस्तर, खण्ड ३ ।

३ बौ० ध० सू०, १. ९. १७. १२ ।

४ वि० ध० सू० १८, २ ।

५ ३, ७, ३२ ; आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० १०७ ; आर० शामाशास्त्री, कौटिल्यस् अर्थशास्त्र, पृ० १९० ।

६ जातक ५, ३०६ ।

चाण्डालों की तरह अस्पृश्य बताया जा सके[1]।

बांस की डलिया एवं बांसुरी बनाना इनका व्यवसाय बताया गया है[2]। धम्मपाल ने इन्हें बांस अथवा लकड़ी का काम करने वाला बताया है[3]।

<u>रथकार</u>

बौद्ध ग्रन्थों में रथकारों का उल्लेख चाण्डाल, पुक्कुस, निषाद, वेण आदि घृणित जातियों के साथ हुआ है परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में उनका स्थान अपेक्षाकृत अधिक सम्मान-पूर्ण है। प्रारम्भिक सूत्रों में उन्हें उपनयन का अधिकार भी प्राप्त था परन्तु बाद के सूत्रों में उपनयन के सन्दर्भ में रथकारों का नाम नहीं मिलता है[4]। पूर्व-

---

१ आर० एस० शर्मा, <u>शूद्राज इन एंशेण्ट इण्डिया</u>, पृ० १२८।

२ <u>सुत्तविभंगपाचित्तिय</u>, २, २, १ ; फिक, <u>द सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धज़ टाइम</u>, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ३२६।

३ <u>पेतवत्थुअट्ठकथा</u>, पृ० १७५।

४ <u>बौधायन गृह्यसूत्र</u> २. ५. ६ में तथा <u>भारद्वाज गृह्यसूत्र</u> में १. १ में रथकारों को उपनयन का अधिकार दिया गया है परन्तु हिरण्यकेशी तथा आपस्तम्ब गृह्यसूत्र उपनयन के सन्दर्भ में रथकारों का नाम नहीं लेते हैं।

वैदिक काल में रथ बनाने की कला का महत्व बहुत अधिक था[१]। उत्तर-वैदिक काल में भी रथकारों के महत्वपूर्ण स्थान को अस्वीकार नहीं किया जा सकता[२]। रथकार प्रारम्भ से ही द्विज थे तथा आर्य समूह से सम्बन्धित थे, यह श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों से स्पष्ट है[३]। तीन उच्च वर्णों के समान ही रथकारों को श्रौतयज्ञों के सम्पादन का अधिकार था[४]। पूर्वमीमांसासूत्र[५] में भी रथकारों को तीन वर्णों के समान अग्न्याधान का अधिकार था। उनके उपनयन के निमित्त वर्षा ऋतु निर्धारित की गयी थी[६]।

---

१ पूर्व-वैदिक काल में रथ बनाने वाले ऋभुओं को देवताओं के समकक्ष स्थान दिया गया है।

२ आर० एस० शर्मा, ऐस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ११० ।

३ रामगोपाल, इण्डिया आव वैदिक कल्पसूत्राज़, पृ० ११७ ।

४ कात्यायन श्रौतसूत्र, १. १. ६, ४. ७. ७, ४. ६. ३ ; श्रौ० श्रौ० सू० २४, १६ ; आप० श्रौ० सू० ५. १३. १८ ।

५ ६. १. ४४-४५ ।

६ श्रौ० गृ० सू० २. ५. ६ ; भारद्वाज गृ० सू० १. १ ।

धर्मसूत्रों ने रथकारों को वैश्य पिता तथा शूद्रा माता की सन्तान बता कर मिश्रित जातियों के मध्य स्थान दिया है[1]। कौटिल्य ने भी इन्हें मिश्रित जातियों के मध्य स्थान दिया है[2]। सम्भवत: धर्मसूत्रों के समय तक आते-आते रथकारों का उपनयन का अधिकार समाप्त हो गया।

शारीरिक श्रम की ओर ब्राह्मणों की बढ़ती हुई अरुचि तथा दस्तकारों के शूद्रों के समकक्ष हो जाने के कारण रथकारों का अपकर्ष हुआ होगा[3]। जातक में आयी पंक्ति के आधार पर यह अनुमान किया गया है कि रथकार चमड़े का कार्य भी करते रहे थे[4]।

---

1 बौ० ध० सू० १, ९, १७, ६।

2 अर्थशास्त्र ३, ७, ३५।

3 विवेकानन्द झा, 'स्टेटस आफ रथकारस इन अर्ली इण्डियन हिस्ट्री'; अर्ली इण्डियन हिस्ट्री, पार्ट १, अप्रैल, १९७४, पृ० ४२।

4 जा० ४, ५९ (रथकारो वा परिकन्तं उपाहनं)

जा० ४, १७२ (रथकारो वा चम्मस्स परिकन्तं उपाहनं)

पेतवत्थु (३, १, १३) के टीकाकार ने रथकारिन् का अर्थ 'चम्मकारिन्' से लिया है, द्रष्टव्य, ए० एन० बोस, सोशल एण्ड रूरल इकानमी आफ नार्दर्न इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० २३७।

इसीलिये रथकारों का स्थान समाज में गिरने लगा होगा परन्तु दूसरी ओर रथकारों ने रथ बनाने का काम बन्द नहीं किया था । निष्कर्ष रूप में केवल इतना कहा जा सकता है कि रथकार एक व्यावसायिक जाति थे जिनका नामकरण व्यवसाय विशेष के आधार पर हुआ । रथ विशेष रूप से युद्ध में प्रयुक्त होते थे और बौद्धों का धार्मिक दृष्टिकोण युद्ध और हिंसा के विरुद्ध था । रथकारों के प्रति बौद्धों के घृणित दृष्टिकोण का एक कारण सम्भवतः रथों का निर्माण भी रहा होगा ।[1]

दास

दासों का वर्ग अपेक्षाकृत बड़ा हो गया था । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि अतिथि के अकस्मात आ जाने पर अपने को, स्त्री या पुत्र को भूखा रखा जा सकता है किन्तु उस दास को नहीं, जो सेवा करता है[2]। बौद्ध ग्रन्थों में स्त्री तथा पुरुष, दोनों ही प्रकार के दास-दासियों का विवरण प्राप्त होता है । दास राजकर्मों,[3]

---

१ आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १२६ ।

२ 'काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्', आप०, २.४.९.११ ।

३ अं० नि०, २. १०. १ ; बुद्धचरित, ४.४.६-७, दी० नि०, १.६४ ।

नगरश्रेष्ठियों[1] के घरों में तथा ग्रामीण कुटुम्बों[2] में भी कार्य करते हुए प्रदर्शित हैं।

पहले-पहले इस काल के ग्रन्थों में दासों के प्रकारों का उल्लेख मिलता है। दासों के इन प्रकारों की संख्या भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न मिलती है[3]। यहां केवल अत्यावश्यक उल्लेख करना

---

१ जात०, सं० ६२।

२ चुल्लवग्ग, ६. ४. २।

३ प्राय: अधिकांश विद्वानों ने इन प्रकारों का संकलन किया है। द्रष्टव्य, एन० सी० बनर्जी, 'स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', द कैलकटा रिव्यू, वाल्यूम ३६, नं० १-३, जुलाई-सितम्बर, १९३०, पृ० २५९ ; यू० एन० घोषाल, 'स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', बिगनिंग आव हिस्टोरियोग्राफि एण्ड अदर एसेज में, पृ० ६३ ; देवराज चनना, स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १४६ ; के० एम० सरन, लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २५ ; एन० एन० सिंह, लाइफ इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया इन प्रि-मौर्यन टाइम्स, पृ० २७; संध्या मुकर्जी, सम ऐस्पेक्ट्स आव सोशल लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १०६-१०७।

ही अधीन होना । विनयपिटक में तीन प्रकार के दासों का उल्लेख हुआ है -- क्रीतदास, युद्धदास तथा स्वामी के गृह में उत्पन्न दास[1]। विधुरपण्डित जातक में चार प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है, जन्म-दास, क्रीतदास, स्वेच्छा से बना हुआ दास, तथा भय से बना हुआ दास (भया पवन्ति)। किसी आर्थिक आवश्यकता के कारण[2], युद्ध में हार जाने के कारण[3] अथवा कर्ज न दे पाने के कारण[4] लोग जबर्दस्ती भी दास बना लिये जाते थे। ऐसा उल्लेख भी मिलता है जब मृत्युदण्ड दासत्व में बदल दिया गया[5]। कौटिल्य ने कई प्रकार के दासों का वर्णन किया है यथा -- ध्वजाहृत (युद्ध-बन्दी), आत्म-विक्रयी, उदरदास (भोजन के लिए बना हुआ दास), आहितक (ऋण के कारण दासत्व की प्राप्ति)

---

१ विनयपिटक ४, २२४ ; तु० एन० घोषाल, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ४६२ ।

२ महावग्ग, १, ३९ ।

३ मज्झिम निकाय, १२९ ; तु० महाभारत, १, १६, २० ।

४ जा० ६, पृ० ५२१ ; थेरीगाथा, ४४३-४४४, महाभारत, १२, १०६, १८ ।

५ जा० १, पृ० २००, २०१ ; ६, पृ० ३८६; ४५३ ।

तथा दण्डप्रणीत (राजदण्ड के कारण दासत्व को प्राप्त)।[१]

पूर्ववर्ती काल के समान इस समय भी दास-दासी उपहार अथवा दान में दिये जाते थे[२]। घरेलू कार्यों के अतिरिक्त दास कृषि-कर्म में नियुक्त किये जाने लगे थे[३]। उत्पादन कार्य में इनके नियोजन के प्रमाण वैदिक काल के अन्तिम चरण से ही प्राप्त होने लगते हैं, इसका संकेत पीछे किया जा चुका है[४अ]। पालि ग्रन्थों में दास, वेस्स तथा कम्मकरों का उल्लेख मिलता है[५]। ऐसे कई भू-स्वामियों का वर्णन है जिनके पास सौ करीष से ऊपर भूमि रहती थी[६]। इनमें से अधिकांश अपने खेतों में

---

१ अर्थशास्त्र, ३. १३ ।

२ मिताक्षरा याज्ञ ; महाभारत, सभापर्व ५२, ४५ ; वनपर्व १८५, ३४ ; २३३, ४३ ; विराटपर्व, १८, २१, द्रोणपर्व ५७,५-९ ।

३ आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ६३ ।

४ देखिये पीछे, अध्याय २,

५ दी० नि० १, १४९ ; अं० नि० २, २०७-८ ; ३, ३७ ; ४, २६६, ३६३ ।

६ जा० ४, पृ० २७६ ; बुद्धप्रकाश, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइज़ेशन, पृ० १८४ ; यू० एन० घोषाल, स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ४६३ ।

वेतन भोगी मजदूर

काम करने के लिए किराये के दास रखते थे[1]। कोसल तथा मगध की काफी भूमि इन्हीं कृषक-श्रमिकों के माध्यम से कृषि-योग्य बनायी गयी होगी[2]। कृषि-कार्य में दासों की नियुक्ति की व्यवस्था कौटिल्य ने भी की है[3]।

साधारण रूप से दासों की स्थिति समाज में अच्छी नहीं थी। बहुधा स्वामियों द्वारा उन पर शारीरिक अत्याचार भी किये जाते थे[4]। सम्भवतः दासों की इसी दयनीय अवस्था से प्रभावित

---

१ विनयपिटक, ४, २६२ ; द्रष्टव्य, देवराज चनन, स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४२ ।

२ डी० डी० कोसम्बी, 'ऐंश्येण्ट कोसल एण्ड मगध' जर्नल आफ द बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम २७, पृ० १६५-२०१ ।

३ अर्थशास्त्र, २.२४ ।

बहुहलपरिकृष्टायां च स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत् ।।

४ जा० १, पृ० २६५ ; १, ४०२ (अथ एकं दासीं नातिं अवक्कमानं सामिका द्वारे निपज्जापेत्वा रज्जुया पहारन्ति) ; ३, ५४८ ; ६, ५८३ । अं० नि० २, २०७-८ (दण्डतज्जिता भयतज्जिता अस्सुमुखा रुदमाना परिकम्मानि करोन्ति) ।

होकर बुद्ध ने गृहस्थों को दासों के साथ मानवीय व्यवहार करने का उपदेश दिया । उन्होंने दासों को समय पर उचित वेतन तथा भोजन देने का आग्रह तो किया ही, रुग्णावस्था में उचित उपचार प्रदान करने तथा छुट्टी देने का उपदेश भी दिया[1]। उनके उपदेश का कुछ प्रभाव अवश्य हुआ होगा तभी पूर्णा दासी तथा दासक नामक दास अपने स्वामियों द्वारा मुक्त कर दिये गये[2]। अशोक के 'धम्म' में अपनाये गये दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण पर भी सम्भवत: बौद्ध धर्म का ही प्रभाव अधिक रहा होगा[3]।

इस सम्बन्ध में कौटिल्य द्वारा अपनाया गया उदार दृष्टिकोण विशेष उल्लेखनीय है । पुरुष दास से मुर्दा उठवाने

---

१ दी० नि० ३, १९१ ; डल्लन डी गोपाल, 'दास स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', जर्नल आव आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, वाल्यूम २७, पृ० ७२ ।

२ डल्लन डी गोपाल, वही ।

३ शिलालेख ९, ११, १३ तथा स्तम्भ लेख ७ ; डा० भण्डारकर, अशोक (हिन्दी) अध्याय ५, पृ० ९० ।

वाले, जूठन उठवाने वाले, स्त्री दास को अनुचित दण्ड देने वाले तथा दासी के सतीत्व भंग करने वाले के धन को ज़ब्त कर लिये जाने का विधान कौटिल्य ने निर्धारित किया[1]। 'यदि यही व्यवहार धात्री, परिचारिका अथवा अर्धसीतिका के साथ किया जाय तो उन्हें दासीत्व से मुक्ति दी जाये।'[2] उचित मूल्य पाने पर भी जो व्यक्ति दास को मुक्त नहीं करता था उसे १२ पण दण्ड देना होता था[3]। स्वामी से दासी स्त्री को सन्तान होने पर माता तथा सन्तान दोनों को दासत्व से मुक्त करने की बात भी कही गयी है[4]। यदि यही दासी कुटुम्बी जनों के हितों की चिन्ता करते हुए घर में भार्या के समान रहना चाहे तो उसके परिवार को भी दासत्व से मुक्त करने का नियम अर्थशास्त्र में मिलता है[5]।

कौटिल्य ने दासों को सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार भी प्रदान किये हैं। अपने मालिक की आज्ञानुसार वह स्वयं कमाये हुए धन को अपने पास रख सकता था, तथा मालिक पिता की सम्पत्ति का

---

१ अर्थशास्त्र, ३, १३।

२ अर्थशास्त्र, वही ।

३ वही ।

४ वही ।

५ वही ।

दायभागी भी हो सकता था[1]। अपने आप को बेच देने वाले दास की सन्तान को आर्य ही समझने का उल्लेख कौटिल्य द्वारा किया गया[2]। 'जनपदनिवेश' के अध्याय में राजा को यह आदेश दिया गया है कि वह लोगों को दासों, आहितकों के हित का ध्यान रखने के लिये बाध्य करे[3]। उपर्युक्त सन्दर्भों में दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। बहुत सम्भव है कि बौद्ध धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप उदारता का यह दृष्टिकोण प्रचलित हुआ हो।

समाज का द्विविभाजन

विभिन्न संस्कारों की दृष्टि से प्रस्तुत काल में द्विज तथा शूद्र के मध्य आनुष्ठानिक अन्तर स्पष्ट हो गया था। दूसरा जन्म उपनयन के पश्चात् माना जाता था[4]। चार वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य उपनयन के अधिकारी थे[5]। शूद्रों का उल्लेख उपनयन के सन्दर्भ में प्राप्त नहीं होता है। उपनयन सम्बन्धी आयु, वस्त्र, दण्ड तथा

---

१ अर्थशास्त्र ३, १३ ।

२ वही ।

३ वही, २, १ ।

४ गौ० १,८, बौ० १,२,३,६ ।

५ वासि० २, १-२ ।

मौञ्जीबन्धन के सम्बन्ध में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए विभिन्न व्यवस्थायें निश्चित की गयी हैं[1]। द्विजों की सेवा शूद्रों के लिये जीविका-यापन का साधन निर्धारित की गयी थी[2], यह पहले भी कहा जा चुका है । ब्राह्मण चार पत्नियों से विवाह कर सकता था पर शूद्र केवल एक पत्नी से विवाह का अधिकारी था[3]। शूद्र तीन उच्च जातीय स्त्रियों से विवाह का अधिकारी नहीं था, जब कि अन्य तीनों वर्ण शूद्र वर्ण की स्त्रियों से विवाह कर सकते थे । ब्राह्मण का अशौच-काल दस दिन, क्षत्रिय का पन्द्रह दिन, वैश्य का बीस दिन तथा शूद्र का अशौच-काल एक महीना निर्धारित किया गया है[4]।

शूद्रहत्या तथा जानवरों की हत्या के सम्बन्ध में प्रायश्चित के नियम एक समान थे जो शूद्रों की हीनतम स्थिति की ओर संकेत करते हैं[5]। शूद्रहत्या के लिए दस गायें देनी पड़ती थीं । इसके विपरीत क्षत्रिय के लिये हजार तथा वैश्य के लिये सौ गायें देनी पड़ती थीं[6]।

---

१ गौ० १, ११-२६ ; आप० १. १. १ ; बौ० १. २.३.६-१७ ; वसि० ११.४९-७९ ।

२ देखिये पीछे, पृ०

३ बौ० १.१८, १६, १-६ ; वसि० १. २० ।

४ आप० १.९.२४, १३ ; वसि० ४, २६ ।

५ आप० १.९.२६.७ ।

६ आप० १.९.२४.१-४ ; बौ० १.१०.१९.२ ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में शूद्र को श्मशान भूमि के समान बताया गया है तथा श्मशान भूमि में वेदाध्ययन वर्जित था[1]। बौधायन के अनुसार पिता की सम्पत्ति के दस भागों में शूद्रापुत्र केवल एक हिस्से का अधिकारी था[2]। इस प्रकार समाज में द्विज तथा शूद्र के रूप में समाज का वह द्विविभाजन स्पष्ट होने लगा था जो पूर्व-वैदिक काल में आर्य-दास तथा उत्तर-वैदिक काल में आर्य-शूद्र के रूप में परिलक्षित होता है ।

स्वतन्त्र तथा दास

दासों के विभिन्न प्रकारों[3] का वर्णन प्रस्तुत काल में उनके वर्ग में वृद्धि की ओर संकेत करता है । स्वतन्त्र स्वामियों तथा दासों के बढ़ते हुये वर्गों के मध्य का अन्तर भी गहरा हो चला था, क्योंकि दासों की प्राकृत स्थिति[4] की ओर संकेत करने वाले सन्दर्भ भी प्राप्त होते हैं । उनकी इस प्राकृत स्थिति ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया और इसीलिये सम्भवतः बुद्ध तथा कौटिल्य को उनका शोषण न

---

१ आप० १, ३, ९, ६ तथा ९ ।

२ बौ० २. २. ३. १० ।

३ देखिये पीछे,

४ देखिये पीछे,

करने की आवाज़ उठानी पड़ी[1]।

शासक-शासित अथवा प्राधिकृत-अप्राधिकृत वर्ग

इस काल में व्यापारिक और औद्योगिक विकास, मुद्रा के आविर्भाव तथा नागरिक जीवन के विकास ने व्यक्तिगत सम्पत्ति के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया। फलस्वरूप, सम्पत्ति के अर्जन में समर्थ तथा समृद्ध लोगों ने सम्पत्ति के आधार पर विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त की। इससे एक ओर तो प्राधिकृत वर्ग की रूपरेखा स्पष्ट होने लगी तो दूसरी ओर निर्धन, हीन तथा अप्राधिकृत वर्ग का रूप स्पष्ट हो उठा। प्राधिकृत तथा शासक वर्ग के अन्तर्गत शासन और युद्ध से सम्बन्धित लोग, पुरोहित तथा सम्पन्न व्यापारी एवं कुछ सम्पन्न शूद्र[2] रहे होंगे। हीन तथा अप्राधिकृत वर्ग में निर्धन तथा अधिकारहीन शूद्र, दास तथा अन्य हीन व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन करने वाले सम्मिलित थे। इस वर्ग में कुछ अंश उन ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का भी था जो आर्थिक विपन्नता के कारण स्वधर्मपालन द्वारा जीविकोपार्जन में असमर्थ हो हीन व्यवसायों द्वारा जीविकोपार्जन कर रहे थे[3]।

---

१ देखिये पीछे,

२ 'धनागमो मनुष्यो वै शूद्रो बहुधनः प्रभो'

—महाभारत १२, ११७, १६।

३ देखिये आगे,

<u>सामाजिक गतिशीलता का प्रेरक तत्व : आर्थिक घटक</u>

प्रस्तुत काल में कृषि, उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्रों में आर्थिक प्रगति देखने को मिलती है। इसके साथ ही साथ मुद्रा का विकास, नगरों का विकास तथा व्यावसायिक संघों एवं श्रेणियों का विकास भी दृष्टिगोचर होता है[1]। लोहे के प्रचुर प्रयोग से ऐसे उपकरणों का बनना भी सम्भव हुआ[2] जिनकी सहायता से अपेक्षाकृत अधिक जंगली भूमि को सरलता से कृषि-योग्य बनाने में सहायता मिली। लोहे के औजारों के प्रयोग के साथ ही श्रम-विभाजन और अधिक बढ़ा। इसके फलस्वरूप कृषि सम्बन्धी एवं औद्योगिक उत्पादन में और अधिक वृद्धि हुई, जिसके अतिरेक से जहां एक ओर व्यापार-वाणिज्य का विकास सम्भव हुआ वहां दूसरी ओर एक ऐसे सम्पत्तिशाली वर्ग का उदय हुआ जिसमें धनी सौदागर[3], व्यापारी, भूस्वामी, श्रेष्ठि तथा कर्ज देने में समर्थ धनी व्यक्ति सम्मिलित थे। सम्पत्तिशाली व्यापारियों के उत्कर्ष में मुद्रा के रूप में विनिमय के नवीन साधन ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया। व्यापारी

---

१ यू० एन० घोषाल, 'इण्डस्ट्री, ट्रेड एण्ड करेन्सी', नीलकण्ठ शास्त्री द्वारा सम्पादित <u>एज आफ द नन्दाज़ एण्ड मौर्याज़</u>, पृ० २७६।

२ आर० एस० शर्मा, <u>लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी</u>, पृ० ६०।

३ वी० पी० गोखले, 'द मर्चेन्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया', द जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी, वाल्यूम ९७, नम्बर २, अप्रैल-जून, १९७७, पृ० १२९।

वर्ग के विकास के लिये नगर विशेष आधार बने जिनकी बहुलता में आधार-शिला अतिरेक ने निर्मित की[1]। वास्तव में नगरों का अस्तित्व सामाजिक अतिरेक (Social Surplus) के बिना सम्भव न था[2]।

उद्योगों में वस्त्रोद्योग विशेष रूप से विकसित हुआ[3]। जहाज बनाने, रथ तथा गाड़ियां बनाने एवं गृह के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के निर्माण के लिये बढ़इयों की प्रशंसा मिलती है[4]। विभिन्न व्यापारिक मार्ग तथा व्यापारियों के विवरण समुन्नत व्यापारिक अवस्था

---

१ ए० घोष, द सिटी इन अर्ली हिस्टॉरिकल इण्डिया, पृ० ८६ ; कृष्णकान्ति गोपाल, पूर्व-ऐतिहासिक काल में भारत में नगर, पृ० ८६।

२ आर० एस० शर्मा, प्राब्लम्स आफ सोशल फार्मेशन्स इन अर्ली इण्डिया, जनरल प्रेसीडेन्शल ऐड्रेस, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस सेशन ३६, अलीगढ़, ३१ दिसम्बर, १९७५, पृ० ७ ।

३ अंगुत्तर निकाय १, २४८, विनयपिटक १, २७८, २८० ; जातक ४.४०१ ; ६. ५१ ; अर्थशास्त्र २.११-१२ ; द्रष्टव्य, मैक्रिंडल, ऐंश्येण्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड एरियन, पृ० ६६

४ जातक २.१८ ; ४.२०७ ; ५. १५९ ; ६.४२७ ।

की ओर संकेत करते हैं।[1] विभिन्न उद्योगों का स्थानीयकरण भी इस युग की महत्वपूर्ण विशेषता है।[2]

व्यापारिक तथा औद्योगिक विकास के कारण ही शिल्पकारों तथा व्यापारिक संस्थाओं का संगठन आवश्यक हो उठा था। बढ़ते हुए आर्थिक दबाव के कारण छोटे-छोटे शिल्पकारों का वर्गीय संगठन इसलिये भी आवश्यक हो उठा था कि बड़े-बड़े व्यापारी और सेठ उनके साथ अन्याय न कर सकें। श्रेणियां इस काल के आर्थिक

---

१ अर्थशास्त्र ७, १२ में व्यापारिक मार्गों की प्रशंसा मिलती है। व्यापार तथा व्यापारिक मार्गों से सम्बन्धित विस्तृत विवरणों के लिए द्रष्टव्य ; बलराम श्रीवास्तव, ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ७२-९४ तथा एम० एम० सिंह, लाइफ इन नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया इन प्रि-मौर्यन टाइम्स, पृ० २२५ से २४६।

२ नगर की विशेष वीथियों में तथा अनूठे गांव में एक ही वर्ग के शिल्पियों को बसाया जाता था। जातक १, ३२० (दन्तकारवीथी), जातक ४, ८१ (रजक-वीथी) ४, १५९, २०७ (ओदनिकवीथियां) ;

जातक २, १८ (कम्मारगाम), जातक २, १८ ; ३, २८१

(महावड्ढकिगाम) ।

विकास की प्रमुख विशेषता है[1]। ये श्रेणियां ग्रामों तथा नगरों में स्थित थीं। इनका एक अध्यक्ष होता था जिसके लिए जातकों में 'पमुख' तथा 'जेट्ठक' शब्दों का प्रयोग मिलता है[2]। ये जेट्ठक कभी-कभी राज्य के उच्च पदों पर भी आसीन होते थे तथा राजा एवं धनिकों के प्रिय होने के कारण बड़ी हस्ती वाले होते थे[3]।

फ़िक[4] की मान्यता के अनुसार व्यवसाय की पैतृकता, उद्योग की विभिन्न शाखाओं का स्थानीयकरण और जेट्ठक का पद -- ये तीनों बातें उस संगठन के अस्तित्व का प्रमाण देती हैं जिसकी तुलना मध्यकालीन यूरोपीय श्रेणियों से की जा सकती है।

---

१ यू० एन० घोषाल, *ए हिस्ट्री आव इण्डियन पब्लिक लाइफ़*, जिल्द २, पृ० ७।

२ *जातक* ३, २८१ (कम्मकार जेट्ठक) ; जातक ३, ४०५ (मालाकार-जेट्ठक) ; *जातक* ४, १६१ (वड्ढकिजेट्ठक), *जातक* २, १२ तथा ५२ (पमुख)।

३ *जातक* २, १२।

४ फ़िक, *सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धस टाइम*, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० २८४।

गौतम धर्मसूत्र में व्यापारियों, महाजनों तथा शिल्पियों को अपने-अपने समुदायों के लिये नियम-निर्धारित करने का अधिकार दिया गया है[1]।

आर्थिक विकास के फलस्वरूप अर्थ की महत्ता बढ़ी और मुद्रा के आविर्भाव तथा विकास से समृद्ध व्यापारियों (सार्थवाह)[2] गहपतियों[3] तथा सेट्ठियों[4] के सम्पत्तिशाली वर्ग के उदय की आधारशिला

---

१ गौतम ११,२१।

२ जातक १,८५ ; १, १०९ ; १, १२४ ; २, ३१ (उत्तरापथकास्सा वणिजा) २, २८८, ३, ३४५ ; दीघनिकाय २,३४२, बुद्धिस्ट, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट १३,५ । जातक १,९९ तथा ३३२ तथा ३३ में सार्थवाहों के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन है । सार्थवाहों के मार्ग-प्रदर्शन में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन १, १०८ ; ३,२६५ (सुरुन्न जातक) में भी प्राप्त होता है ।

३ देखिये पीछे, इसी अध्याय का पृ० २० ।

४ महसार जातक सं० ४६५, पीठ जातक सं० ३३७ ; केसव जातक सं० ३४६ ; सुजाता जातक सं० २६९ ; महापनाद जातक सं० २६४, भद्रघट जातक सं० २९१ ; विसय्ह जातक ३४० , मय्हक जातक सं० ३९० ; गंगमाल जातक सं० ४२१ ; द्रष्टव्य आर० सी० मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ८२ (१९२२) ; मोतीचन्द्र सार्थवाह, पृ० ५७ तथा ६५ ।

निर्मित की[१]। उत्पादन का अधिकांश भाग इस अर्थसंचयिता वितरक वर्ग के हाथों में केन्द्रित होने लगा। फलस्वरूप अन्य वैश्यों की अपेक्षा, तथा सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे के सन्दर्भ में भी इस वर्ग का उत्कर्ष स्वाभाविक था। सम्पत्ति के कारण इस वर्ग के लोगों को कुछ ऐसे विशेषाधिकार[२] प्राप्त हुए जो प्राधिकृत वर्ग के ब्राह्मण तथा क्षत्रियों को प्राप्त थे। व्यापारी इतने सम्पन्न हो गये थे कि नगरों का महत्वपूर्ण व्यक्ति श्रेष्ठि अथवा सेट्ठि ही समझा जाता था[३]। ग्रामों में भी सेट्ठियों का स्थान

---

१ एस० ए० डाँगे, *इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज्म टु स्लेवरी*, पृ० १७९ ; डी० डी० कोसम्बी, *प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता*, अनु० नेमिचन्द्र जैन, पृ० १६७ ।

२ कुछ सेट्ठियों को अमात्यों तथा ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्राप्त हुआ, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

३ डी० डी० कोसम्बी, *प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति*, अनु० नेमिचन्द्र जैन, पृ० १२६ ; आर० एस० शर्मा, *आयरन एण्ड अर्बनाइजेशन इन द गंगा बेसिन*, *द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू*, मार्च, १९७४, वाल्यूम १, नं० १, पृ० १०० ।

महत्वपूर्ण था । श्रेष्ठियों में 'महाश्रेष्ठि'[1] अन्य श्रेष्ठियों की अपेक्षा अधिक सम्पत्तिशाली थे । इस बात का उल्लेख पहले किया जा चुका है कि इन श्रेष्ठियों को राजदरबार में अमात्यों तथा ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्राप्त था, तथा इनके पुत्र क्षत्रिय तथा ब्राह्मण युवकों के साथ शिक्षा ग्रहण किया करते थे[2]। गहपतियों के सम्पत्तिशाली वर्ग की चर्चा भी पीछे की जा चुकी है[3]। इन्होंने भी कुलीन वर्ग के रूप में साधारण जनता से पृथक् अस्तित्व प्राप्त कर लिया था । इसमें भूमि के स्वामी तथा बड़े नगरों के उच्च एवं मध्यमवर्गीय परिवार भी सम्मिलित थे[4]।

श्रेष्ठि-गहपतियों तथा सार्थवाहों के समुदाय का निर्माण पूरी तरह सम्पत्ति के आधार पर हुआ था । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्पादन के अतिरेक तथा वैयक्तिक सम्पत्ति की एवं उपलब्धि ने आनुष्ठानिक एवं विध्यात्मक सामाजिक स्तरीकरण के

---

१ अनाथपिण्डिक को महाश्रेष्ठि की संज्ञा प्रदान की गयी है -- सुजाता जातक सं० २६९ ; महावणिज जातक सं० २५४ (महर्षि कुमार) ।

२ देखिये पीछे, इसी अध्याय का पृ०

३ देखिये पीछे, इसी अध्याय का पृ०

४ डी० डी० कोसम्बी, प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति, अनु० नेमिचन्द्र जैन, पृ० १२६ ।

अन्तर्गत सामाजिक प्रतिष्ठा के एक लौकिक मानदण्ड का विकास किया । सम्पत्ति पर आधारित इस समुदाय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी वर्णों के कुछ लोग सम्मिलित थे । ब्राह्मण गृहपतियों, व्यापारियों, सार्थवाहों, महाधनवान श्रेष्ठियों तथा महाशालों के उल्लेख जातकों में

---

१ पंचगरुक जातक तथा कुम्भकार जातक ।

२ महासुतसोम जातक सं० ५३७ ।

३ जयद्दिस जातक सं० ५१३ ।

४ संकप्प जातक सं० २५१ ; मणिकण्ठ जातक सं० २५३ ; पदकुसलमाणव जातक सं० ४३२ ; संख जातक सं० ४४२; चुल्लबोधि जातक सं० ४४३ ; मट्ठकुण्डली जातक सं० ४४९; चुल्लनारद जातक सं० ४७७ ; 'असीतिकोटिविभव' ब्राह्मणों के लिये द्रष्टव्य, खन्तिवादी जातक सं० ३१३ ; अननुसोचिय जातक सं० ३२८ ; अट्ठसद्द जातक सं० ४१८ ; हारित जातक सं० ४३१ ; अकित्ति जातक सं० ४८० ; भिस जातक सं० ४८८ ।

५ दूत जातक सं० ४७८ ; चुल्लनारद जातक सं० ४७७ ।

यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। सम्पत्ति के कारण ही कुछ शूद्र वर्गीय सदस्यों का भी सामाजिक उत्कर्ष हुआ होगा पर वे अधिक न रहे होंगे। सद्दालपुत्र नामक कुम्हार के पास ५०० दुकानें थीं, तथा अनेक कुम्हार उसके नीचे काम करते थे[1]। चुन्द नामक लोहार भी इतना समृद्ध था कि उसने गौतम बुद्ध तथा उनके अनुयायियों को भोज पर आमन्त्रित किया था[2]। यहाँ राजसेवा में नियुक्त उन शिल्पियों[3] का स्थान भी स्मरणीय है जिनकी स्थिति उनके अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अवश्य ही ऊपर उठी होगी।

सम्पत्ति ने जहाँ एक ओर अपेक्षाकृत निम्न वर्ग के तथा हीन वर्गीय सदस्यों की सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाया, वहाँ दूसरी ओर इसका अभाव कुछ उच्च वर्गीय ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के

---

१ उपासक० १८४ ।

२ सूची जातक सं० ३८७ ।

३ जातक १, १२१ ; ५, २९० (राजकुम्भकार)

जातक ५, २९१ (राजकुल्ठाक मलकार)

जातक ५, २९२ (राजकाठाकार)

जातक १, १२८ में राजा द्वारा अपनी सेवा में नियुक्त नापित को ग्रामदान दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।

सामाजिक अपकर्ष (downward social mobility) का कारण भी बना । बौधायन धर्मसूत्र में हीन व्यवसायों को अपनाने वाले ब्राह्मणों को शूद्रवत् मानने का निर्देश किया गया है[1]। उनका अन्न भी वर्जित था[2]। इस प्रकार के हीन ब्राह्मणों का स्पष्ट चित्र दसब्राह्मण जातक में प्राप्त होता है । वे वैद्य, परिचारक, लकड़ी काटने वाले, शिकारी, व्यापारी, वैश्य तथा राजा की सेवा में नियुक्त परिचारकों के रूप में दिखायी देते हैं[3]। कृषक[4] तथा शिल्पी ब्राह्मणों[5] के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । एक ब्राह्मण लकड़हारे का उल्लेख मिलता है जो जंगल से लकड़ी काट कर तथा उससे गाड़ियां बना कर जीवन निर्वाह करता था[6]। आर्थिक अभाव के कारण कुछ क्षत्रियों को भी क्षत्रियोचित कर्म का

---

१ बौ० ध० सू० १. ५. १०. २४ ; ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आव द आर्याज़, २, १७५ ।

२ आप० ध० सू० १. ६. १८ ; ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आव द आर्याज़, १, ६८।

३ जातक ४, ३६३ ।

४ उरग जातक सं० ३५४ ; सुवण्णकक्कटक जातक सं० ३८९ ।

५ चुल्लनारद जातक सं० ४७७ ।

६ फन्दन जातक सं० ४७५ ।

त्याग कर अन्य व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन करने के लिए बाध्य होना पड़ा । वे कुम्हार, डलिया बनाने वाले, रसोइये, तथा श्रमिक के रूप में जीवन-यापन कर रहे थे[1] । उपर्युक्त तथ्य समाज में विद्यमान आर्थिक असमानता की ओर भी संकेत करते हैं ।

युद्ध तथा संघर्ष की समाप्ति के कारण अब रथों की आवश्यकता अपेक्षाकृत बहुत कम हो गयी थी । फलस्वरूप रथ बना कर जीवन-निर्वाह करने वाले रथकारों की आर्थिक स्थिति गिरने लगी । इस आर्थिक गिरावट का प्रभाव रथकारों के सामाजिक स्तर पर भी पड़ा । पूर्ववर्ती काल में द्विजों के विशेष अधिकार उपनयन के अधिकारी रथकार प्रस्तुत काल में हीन वर्ग में परिगणित होने लगे । जैसे-जैसे वैश्यों से के श्रेष्ठियों तथा धनी व्यापारिक वर्ग का स्तर स्वयं अपने वर्ग में तथा सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे के सन्दर्भ में ऊपर उठने लगा शिल्पियों के वर्ग की स्थिति उनकी तुलना में नीचे गिरने लगी । स्वाभाविक था कि शिल्पियों तथा शूद्रों के मध्य का अन्तर क्षीण होता । बहुत शीघ्र शिल्पियों के प्रति समाज का दृष्टिकोण शूद्रों के प्रति दृष्टिकोण के समान बनने लगा और बौद्ध ग्रन्थों ने स्पष्ट रूप से रथकारों को घृणित जातियों में परिगणित कर, निषाद, चाण्डाल, पुक्कुस तथा वेण के समान स्तर पर रखा कर

---

१ जातक ४, ८४, १६६ ; ५, २६०-६३ ।

किया । हम पीछे देख चुके हैं कि रथ-निर्माण द्वारा पूरी तरह जीवन-निर्वाह न हो पाने के कारण रथकारों ने सहायक साधन के रूप में बढ़ई का कार्य भी अपना लिया था । बहुत सम्भव है कि रथकारों के अपकर्ष में इस कार्य का भी कुछ हाथ रहा हो ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रमुख तत्व : विवाह की अवधारणा

व्यष्टिविषयक ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता

क्षत्रिय कन्याओं का ब्राह्मण वर्ण में उत्कर्ष

विवाह के माध्यम से कुछ क्षत्रिय कन्याओं के ब्राह्मण वर्ण में उत्कर्ष के उदाहरण महाभारत में प्राप्त होते हैं । आदि-पर्व में यह प्रसंग उपलब्ध होता है कि राजा दक्ष ने अपनी दस कन्यायें महर्षि कश्यप को विवाहविधि के अनुसार अर्पित की थीं[1] । ये सभी क्षत्रिय-कन्यायें कश्यप के ब्राह्मण होने के कारण ब्राह्मण वर्ण में आ गयीं । यही प्रक्रिया अन्य क्षत्रिय-ब्राह्मण अनुलोम विवाहों में दोहराई गयी । शकुन्तला-दुष्यन्त का उदाहरण लोकविश्रुत है । शकुन्तला यद्यपि मेनका अप्सरा एवं राजर्षि विश्वामित्र की कन्या थी, किन्तु पालन-पोषण कण्व ऋषि की पुत्री के रूप में हुआ था । ब्राह्मण ग्रन्थों ने वर्णानुक्रम में ब्राह्मणों को प्रथम तथा क्षत्रियों को द्वितीय स्थान दिया । हापकिन्स ने ब्राह्मणों

---

१ महाभारत, १, ६, १०-१२ ।

२ ई० डब्ल्यू० हापकिन्स, द सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आव रूलिंग कास्ट इन एंशेण्ट इण्डिया, पृ० ९६-९७ ।

की विवेचना करते समय क्षत्रियों को प्रथम तथा ब्राह्मणों को द्वितीय स्थान दिया है। क्षत्रिय कन्याओं के ब्राह्मण-वर्ग में विवाह उत्कर्ष के ही सूचक रहे होंगे। आदिपर्व में एक ऐसा प्रसंग है जब जमदग्निनन्दन परशुराम ने व इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन कर दिया था[१]। सभी क्षत्रियों का अन्त हो जाने के बाद क्षत्रिय-नारियों ने पुत्र की इच्छा से ब्राह्मणों की शरण ली। इस प्रसंग के अनुसार परशुराम के बाद के सभी क्षत्रिय मिश्रित वर्ण के माने जायेंगे। यद्यपि यह एक पौराणिक आख्यान है जिसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि नहीं की जा सकती, किन्तु इसमें वर्णित वस्तु-स्थिति निश्चय ही उस परिस्थिति की परिचायक है जब क्षत्रियों का नितान्त अभाव हो गया था और जब क्षत्रिय पत्नियों ने ब्राह्मणों के सम्पर्क के माध्यम से 'ब्रह्म-क्षत्र' नामक एक नूतन क्षत्रिय-वर्ग को जन्म दिया। अर्जुन ने जिस समय द्रौपदी से विवाह किया था, वे ब्राह्मण वेश में ही थे[२] और समाज के सम्मुख यह विवाह ब्राह्मण एवं क्षत्रिय राजकुमारी के ही मध्य हुआ था। यह स्पष्ट कहा गया है कि 'पांचालराजकुमारी को ब्राह्मणों ने प्राप्त किया'[३]।

---

१ महाभारत १,५८, ३-४ (पूना सं०)।

२ महाभारत १,१८०, १ (पूना सं०)।

३ महाभारत १, १८९, ३४ ।

राजा कल्माषपाद की पत्नी एवं ब्राह्मण वसिष्ठ के नियोग से राजर्षि अश्मक की उत्पत्ति हुई थी[1]। ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेव को माहिष्मती के राजा नील ने अपनी कन्या सुदर्शना अर्पित की थी[2]। अंगदेश के राजा लोमपाद ने अपनी पुत्री शान्ता का विवाह ऋष्यशृंग से किया था[3]। इसी प्रकार राजा गाधि की कन्या ऋचीक मुनि से तथा प्रसेनजित की कन्या रेणुका जमदग्नि मुनि से विवाह के कारण ब्राह्मण वर्ण में आ गयीं थी[4]। गालव मुनि ने काशिराज ययाति की अत्यन्त सुन्दरी कन्या माधवी को पत्नी के रूप में ग्रहण किया था[5]।

ऐसा प्रतीत होता है कि यदि कन्या उच्च वर्ण की हो और पुरुष उससे हीन वर्ण का तो उनसे उत्पन्न सन्तान को सांकर्य दोष का भाजन बनना पड़ता था। यह विचारधारा राजा ययाति के शब्दों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है जब शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री

---

१ महाभारत, १,१६८, २१-२५ ।

२ महाभारत, २,२८, १७-२० ।

३ महाभारत, ३,११३, ११-१६ ।

४ महाभारत, ३,११५, १६-१८ ।

५ महाभारत, ५, ११६, १-२ ।

देवयानी के विवाह का प्रस्ताव उनके सम्मुख रखा --

> 'अधर्मो न स्पृशेदेवं महान्तमपि भार्गव ।
> वर्णसंकरतो ब्रह्मन्निति त्वां प्रवृणोम्यहम् ।।'[1]

सामाजिक हीनता के दोष से मुक्त रहने का आश्वासन पाकर ही ययाति ने देवयानी के साथ विवाह किया ।

आर्येतर कन्याओं का आर्य वर्ग में उत्कर्ष

महाभारत में नाग, यक्ष, राक्षस, सुपर्ण जैसे आर्येतर कबीलों की चर्चा भी प्राप्त होती है । इन नाग, यक्ष, राक्षस तथा सुपर्ण आदि को मनुष्य माने बिना इन वैवाहिक सम्बन्धों के सामंजस्य की रक्षा नहीं की जा सकती[2]। ये सम्भवत: आर्येतर वर्ग के ही अपेक्षाकृत उन्नतमना लोग रहे होंगे जिन्होंने अवसर पाकर पुन: संघटित हो कर पृथक् वर्गों का स्वरूप धारण कर लिया होगा (ये ही आर्येतर लोग, जिन्होंने पहले आर्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण न कर भाग कर जंगली अथवा पर्वतीय प्रदेशों की शरण ली थी) । इन विवाहों के उदाहरण महाभारत में

---

1 महाभारत, १.७६.२१ ।

2 सुखमय भट्टाचार्य, महाभारतकालीन समाज, अनु० पुष्पा जैन, पृ० २१ ।

इस प्रकार मिलते हैं जो आर्यों के साथ सम्बन्ध द्वारा उत्कर्ष के सूचक हैं --

नागराज वासुकि की बहन का विवाह जरत्कारु मुनि के साथ हुआ था[1]। भृगुवंशी च्यवन के पुत्र प्रमति का विवाह घृताची अप्सरा के साथ[2] तथा भीम का विवाह हिडिम्बा[3] राक्षसी के साथ हुआ था। क्षत्रिय वर्णीय पाण्डव अर्जुन ने नागकन्या उलूपी से विवाह किया था[4]। स्वयं व्यास की माता निषाद जाति की कन्या थी[5]। निषाद-जातीय सत्यवती ने राजर्षि शान्तनु की प्रधान महिषी का पद ग्रहण किया तथा उसी का पुत्र विचित्रवीर्य आगे चल कर सिंहासन का अधिकारी हुआ।

---

१ महाभारत १, ४३, १-५ ।

२ वही, १, ८, २ ।

३ वही, १, ५७, १०३ ।

४ वही, १, २०६, १-३४, नागराज आर्यक ने भीम को दौहित्र का दौहित्र बताया है, देखिये १, १२७, ६३-६५ (गीताप्रेस सं०) ।

५ वही १, ६६, १-२३ ।

६ वही १, १००, ५८-१०० (गीता प्रेस) ।

दासियों का उत्कर्ष ।

कुछ दासी स्त्रियों के उत्कर्ष के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं । महाभारत में विदुर की माता के ऋषि के संयोग से दासीत्व से मुक्ति पा जाने का वर्णन मिलता है[1]। कोसलराज की पत्नी 'वासभखत्तिया' महानाम नामक दासी की पुत्री थी । वासभखत्तिया को राजमहिषी का पद प्राप्त हुआ तथा उसका पुत्र विडूडभ राज्य का अधिकारी हुआ ।

व्यष्टिविषयक अधोमुखी सामाजिक गतिशीलता

जिस प्रकार विवाह के द्वारा व्यष्टिविषयक सामाजिक उत्कर्ष के उल्लेख प्राप्त होते हैं उसी प्रकार विवाह के द्वारा व्यष्टिविषयक सामाजिक अपकर्ष के भी कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं । महाभारत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि निषाद कन्या से विवाह के कारण एक ब्राह्मण को बहिष्कृत कर दिया गया था जो उस निषादी के साथ निषाद ग्राम में ही निवास करने लगा था[2]। इसी प्रकार का अपकर्ष कृतघ्नोपाख्यान में भी वर्णित है, जहाँ एक मध्यदेशी ब्राह्मण अपना परिचय देते हुए कहता है -- 'मैं शबरों के बीच में रहता हूं । मेरी भार्या शूद्रा है[3]।'

१

२ महाभारत, १. २५, १-५ ।

३ वही, १२. १६५. ५ ।

'मध्यदेशप्रसूतोऽहं वासो मे शबरालये ।
शूद्रापुनर्भूर्भार्या मे सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥'

शूद्रा के साथ विवाह करने पर द्विजातियों के अपकर्ष का समर्थन कुछ धर्मसूत्र ग्रन्थों में भी किया गया है[1]। ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र स्त्री के साथ विवाह की अनुमति यद्यपि सूत्रकारों ने प्रदान अवश्य की है, परन्तु यह स्पष्ट कर दिया है कि शूद्रा के साथ होने वाला विवाह बिना वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के होगा[2]। इससे इन विवाहों की धार्मिक पवित्रता पहले ही नष्ट हो जाती थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति की स्त्री शूद्र जाति की है, उसका भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिये[3]। श्राद्ध संस्कार में ऐसे व्यक्ति का निमन्त्रण वर्जित था जिसका पिता शूद्र तथा माता ब्राह्मणी हो[4]। हरदत्त ने यहां शूद्र का अर्थ शूद्र हो गये ब्राह्मण से लिया है[5]। ब्यूहलर[6] ने भी इसका समर्थन किया है, शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री की सन्तान चाण्डाल होती थी जो सबसे अधिक घृणित तथा सामाजिक दृष्टि से हीन मानी गयी। वशिष्ठ धर्मसूत्र में कहा गया है कि शूद्र स्त्री के साथ

---

१ वशि० ध० सू० १, २५-२७ ; विष्णु० ३५,३-५ ।

२ वशि० १,२५-२७ ।

३ आप० १, ६, १८, ३३, ब्यूहलर, सै० बु० ई० भाग १, पृ० ६९ ।

४ आप० २, ७, ७१, २१ ।

५ उद्धृत, ब्यूहलर, सै० बु० ई०, भाग १, पृ० १४५ का फुट नोट ।

६ वही ।

विवाह करने वाले व्यक्ति का हविष्यान्न देवता ग्रहण नहीं करते[1]। बौधायन धर्मसूत्र में शूद्र स्त्री से पुत्र प्राप्त करना ऐसा अपराध बताया गया जिससे व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था[2]। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से उत्पन्न शूद्रा स्त्री की सन्तान कभी धार्मिक गुणों को प्राप्त नहीं कर सकती थी क्योंकि ऐसा विवाह कामान्ध हो कर किया जाता था। विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार तीन उच्च-जातियों के पुरुष यदि शूद्रा स्त्री से विवाह करने की मूर्खता करते थे तो वे शीघ्राति-शीघ्र परिवार की अवनति कर शूद्र की निम्न स्थिति में पहुंच जाते थे[3]। जिसने शूद्रा स्त्री के साथ विवाह करने का अपराध किया, उसके लिये वरुण अथवा रुद्र को सम्बोधित किये गये मन्त्रों का उच्चारण करते हुए स्नान करने का विधान किया गया था,[4] जो उसके शूद्र के समान अपवित्र हो जाने का द्योतक है।

इसी प्रकार जहाँ ब्राह्मण पुरुष द्वारा तीन उच्च जातियों से उत्पन्न सन्तानों को पिता के वर्ण में स्थान मिलता था वहाँ शूद्र से उत्पन्न सन्तान को मातृ-वर्णीय माना जाता था[5]। तीन उच्च

---

१ वशिष्ठ १४, ११ ।

२ बौधा० ध० सू० २. १. २. ७ ।

३ विष्णु० १६, ४-६ ; कु० बौ० ध० सू० २. ३. ६. ३२ ।

४ आप० १, ६, २६, ७ ।

५ गौ० १५. ७ ।

जातियों से उत्पन्न पुत्रों को जहां यज्ञ-सम्बन्धी तथा अन्य धार्मिक अधिकार प्राप्त थे वहां शूद्रा माता की सन्तान इनसे पूर्णत: वंचित रखी गयी । शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तानों के लिए केवल सान्त्वना का एक ही विषय था । लगातार सात पीढ़ियों तक ब्राह्मण परिवारों में विवाह करते रहने पर वे सभी सामाजिक कलंकों से मुक्त होकर ब्राह्मण वर्ग में प्रवेश पा सकते थे[1]। इस प्रकार किसी को ब्राह्मण वर्ग में प्रवेश मिला, इसका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है क्योंकि इस तरह का नियम बना देना जितना सरल था उसे कार्यरूप में परिणत करना उतना ही कठिन ।

जाति-बहिष्कृत व्यक्तियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध महापातकों में से एक बताया गया है[2]। विष्णु ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जातिच्युत लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध रखने से स्वत: सामाजिक अपकर्ष हो जाता था[3]। चाण्डाल तथा पौल्कस जातियों का स्थान समाज में शूद्रों से निम्न था । यही कारण है कि स्त्रियों के साथ इनका विवाह अत्यन्त घृणित समझा गया । इस प्रकार की जातियों से विवाह

---

१ गौतम० ४, २२ ।

२ वसिष्ठ० १, १९-२१, विष्णु ध० सू० ३५, ३-५

बृ० मनु० ११, १८१ ।

३ ब्यूलर, से० बु० ई०, भाग २, पृ० ५ का आवश्यक फुटनोट ।

करने पर पूरे एक साल तक कृच्छ्र प्रायश्चित्त का विधान गौतम ने किया[1]। आपस्तम्ब ने भी इसका समर्थन अपने धर्मसूत्र में किया[2]। वशिष्ठ ने इस प्रायश्चित्त की अवधि तीन महीने निर्धारित की[3]। विष्णु ने तो स्पष्ट कहा है कि जानते हुए चाण्डाल स्त्री के साथ समागम करने वाला पुरुष स्त्री की ही जाति को प्राप्त हो जाता है[4]। ऐसे व्यक्ति को मृत्युदण्ड दिये जाने का विधान विष्णु ने निर्धारित किया[5]।

उपर्युक्त उदाहरणों में हम सोरोकिन[6] का यह सिद्धान्त पूर्णतः चरितार्थ हुआ देखते हैं कि प्राचीनकाल में दास अथवा निम्न-जाति के सदस्य से विवाह करने पर उच्च जाति की सन्तति अवनति को प्राप्त हो जाती थी।

सामाजिक अपकर्ष का एक प्रमुख तत्व प्रतिलोम विवाह था। प्रतिलोम विवाहों के प्रति क्षमा का कोई भाव तत्कालीन समाज में नहीं था। गौतम ने उच्च वर्ण की स्त्री तथा निम्नजातीय पुरुष की सन्तान को धर्मशास्त्र से बाहर बताया है अर्थात् ऐसी सन्तानों

---

१ गौ० ध० सू० २३, ३२-३३।

२ आ० ध० सू० १,६, २७, ७।

३ वशि० ध० सू० २०, १७।

४ विष्णु० ५३, ५-६।

५ वही, ५, ४२।

६ पी० ए० सोरोकिन, सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी, पृ० १७६।

को उपनयन का अधिकार नहीं था[1]। दूसरे स्थान पर ऐसी सन्तानों को उन्होंने वही स्थान प्रदान किया जो ब्राह्मण पुरुष तथा शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान को दिया[2]। विष्णु ने प्रतिलोम सन्तान को निन्दित बताते हुए सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार से वंचित कर दिया[3]।

जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष का सिद्धान्त

धर्मसूत्रों में विवाहों के माध्यम से जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष सम्बन्धी सिद्धान्त का निर्धारण किया गया था किन्तु यह सिद्धान्त समाज में वास्तविक रूप में व्यवहृत होता था या नहीं यह एक सन्दिग्ध विषय है। सात अथवा पांच पीढ़ियों तक वंशावली के विवरण का स्मरण रखना कठिन था[4]। गौतम ने कहा है कि 'आचार्यों के मतानुसार यदि उच्च जाति का पुरुष अपने से निम्न जाति की कन्या के साथ विवाह करता है तो सात अथवा पांच पीढ़ी तक ऐसा ही करने पर संतति का जात्युत्कर्ष हो जाता है। यदि पुरुष की अपेक्षा स्त्री उच्च वर्ण

---

१ गौ० ध० सू० ४, २५।

२ वही, १८, ४५।

३ विष्णु० १६, ३ तथा १५, ३७।

४ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ६१।

की है तो सात तथा पांच पीढ़ी तक यही क्रम निरन्तर चलते रहने पर संतति का जात्यपकर्ष हो जाता है।' हरदत्त ने इस श्लोक पर टीका लिखते हुए कहा है कि यदि 'ब्राह्मण पुरुष क्षत्रिय स्त्री से विवाह करता है और उससे पुत्री का जन्म होता है तो वह सवर्णा कहलायेगी। यदि इस सवर्णा पुत्री का विवाह ब्राह्मण के साथ हो और पुनः पुत्री उत्पन्न हो तथा उसका भी विवाह ब्राह्मण से हो तो सात अथवा पांच पीढ़ी तक इसी क्रम के निरन्तर चलते रहने पर जो भी सन्तान उत्पन्न होगी वह ब्राह्मण कहलायेगी'।' यद्यपि सातवीं पीढ़ी के पूर्व के वंशवृक्ष में केवल पिता ही ब्राह्मण रहे और मातायें ब्राह्मणी न होकर सवर्णा थीं, किन्तु इन विवाहों से उत्पन्न संततियों को जात्युत्कर्ष का उदाहरण माना गया। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय स्त्री के विवाह के फलस्वरूप पुत्र उत्पन्न होता है तो वह पुत्र सवर्ण कहलायेगा। इस सवर्ण पुत्र का विवाह क्षत्रिय कन्या से होने पर पुनः पुत्र के उत्पन्न होने एवं उसका विवाह पुनः क्षत्रिय कन्या से होने पर जो पुत्र उत्पन्न होगा, यदि पुनः उसका विवाह क्षत्रिय कन्या से हो और सात अथवा पांच पीढ़ी तक इसी क्रम के चलते रहने पर जो भी सन्तान होगी वह क्षत्रिय वर्ण की मानी जायगी। इन सभी विवाहों में पिता का वर्ण क्षत्रिय पत्नी से उच्च रहा, केवल पत्नी ही निम्नतर वर्ण की थी। इसे जात्यपकर्ष कहा गया। यही नियम क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र स्त्री के वैवाहिक सम्बन्धों एवं उनसे उत्पन्न संततियों पर भी लागू किया गया है।

अनुलोमज सन्तानों के लिये भी यही नियम निर्धारित किया गया[1]। यदि पुरुष अम्बष्ठ कन्या से विवाह करता है तो उससे उत्पन्न पुत्री का विवाह पुनः 'सवर्ण' पुरुष से किया जाय, और यही क्रम सात अथवा पांच पीढ़ी तक दुहराने पर उत्पन्न सन्तान सवर्ण कहलायेगी जो जात्युत्कर्ष का द्योतक है[2]। यदि सवर्ण पुरुष और अम्बष्ठ कन्या से पुत्र उत्पन्न होता है तो सातवीं अथवा पांचवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तान अम्बष्ठ मानी जायेगी । यह अनुलोमज सन्तानों के अपकर्ष का सूचक है ।

जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष के सम्बन्ध में मनु तथा याज्ञवल्क्य ने भी कुछ इसी प्रकार की बात कही है, जिसका विवेचन परवर्ती अध्याय में किया जायगा[3]। बौधायन धर्मसूत्र में जात्युत्कर्ष का एक अन्य उदाहरण उपलब्ध होता है । यदि निषाद पुरुष (ब्राह्मण पिता तथा शूद्रा माता की सन्तान) निषादी कन्या से विवाह करता है और यही क्रम निरन्तर चलता है तो पांचवी पीढ़ी शूद्र स्तर के दोष से मुक्त हो जायेगी[4]।

---

१ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ६२ ।

२ काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० ६७ ।

३ काणे, वही ।

४. बौ०, १.८.३.१४ ।

अन्तर्वर्ण एवं अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न मिश्रित जातियों की अवधारणा

पीछे कहा जा चुका है कि अन्तर्वर्ण एवं अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न मिश्रित जातियों की अवधारणा के माध्यम से व्यवस्थाकारों ने विभिन्न व्यावसायिक एवं जनजातीय समुदायों को एक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत लाने का प्रयास किया ।

धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र को प्राचीनतम माना गया है[१]। इसके अनुसार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान सवर्ण ब्राह्मण तथा शूद्र से उत्पन्न सन्तान पारशव थी । क्षत्रिय तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान दौष्यन्त तथा वैश्य एवं शूद्र स्त्री से उत्पन्न सन्तान उग्र बतायी गयी[२]। गौतम द्वारा प्रतिलोम क्रम में विवाहित क्षत्रिय पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री की सन्तान सूत थी । वैश्य तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान मागध, शूद्र तथा वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान आयोगव, वैश्य तथा ब्राह्मणी से उत्पन्न क्षत्तु, शूद्र तथा क्षत्रिया से उत्पन्न वैदेहक तथा शूद्र और ब्राह्मणी से उत्पन्न सन्तान चाण्डाल थी ।

---

१ सुरेश चन्द्र बनर्जी, धर्मसूत्र, ए स्टडी इन देयर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट, पृ० ४६ ।

२ गौ० ४. १४ ।

बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार समान वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र सवर्ण (सजाति के) कहलाते थे। द्वितीय अथवा तृतीय निम्नतर वर्ण से उत्पन्न पुत्र अम्बष्ठ, उग्र तथा निषाद कहलाये। प्रतिलोम क्रम में विवाहित स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र आयोगव, मागध, वैण, क्षत्र, पुल्कस, कुक्कुट, वैदेहक तथा चाण्डाल हुए। अम्बष्ठ द्वारा प्रथम जाति की स्त्री से उत्पन्न सन्तान श्वपाक, उग्र द्वारा द्वितीय जाति की स्त्री से उत्पन्न वैण, तथा निषाद द्वारा तृतीय जाति की स्त्री से उत्पन्न पुल्कस कहलायी। रथकार, अम्बष्ठ, सूत, वैण, आयोगव, क्षत्तृ, पुल्कस, कुक्कुट, वैदेहक तथा चाण्डालों में भी अपने वर्ण की स्त्री से विवाह करने पर सजाति की सन्तानें उत्पन्न हुई। इस प्रकार ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही कहलायेगा, ऐसा बौधायन का विचार था[1]।

इसी प्रकार वैश्य स्त्री से ब्राह्मण का पुत्र अम्बष्ठ, शूद्र स्त्री से ब्राह्मण का पुत्र निषाद तथा किसी-किसी के अनुसार पारशव माना गया[2]। वैश्य स्त्री से क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय, शूद्र स्त्री से क्षत्रिय

---

१ बौ० ध० सू० १, ८, १६, ६-११ ; १, ८, १७, १ तथा २।

२ बौ० १, ६, १७, ३-४।

का पुत्र उग्र तथा शूद्र स्त्री से वैश्य का पुत्र रथकार कहलाया[1]।

प्रतिलोम क्रम में विवाहित वैश्य स्त्री से शूद्र का पुत्र मागध, क्षत्रिय स्त्री से शूद्र का पुत्र क्षत्तृ, तथा ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न क्षत्रिय पुत्र सूत माना जाता था[2]। इनमें से यदि अम्बष्ठ पुरुष का सम्बन्ध उग्र जाति की स्त्री से होता था तो उसका पुत्र अनुलोम क्रम में उत्पन्न माना जाता था। यदि क्षत्तृ पुरुष का संयोग वैदेहक जाति की स्त्री से होता था तो उत्पन्न सन्तान प्रतिलोमक मानी जाती थी। उग्र जातीय पुरुष तथा क्षत्तृ जातीय स्त्री से वैण, निषाद पुरुष तथा शूद्र जातीय स्त्री से कुक्कुट का जन्म माना गया[3]।

शूद्र पिता तथा ब्राह्मण माता की सन्तान को वसिष्ठ ने भी बौधायन की ही भाँति चाण्डाल ही माना। शूद्र पिता तथा क्षत्तृ माता की सन्तान को वैण और शूद्र पिता तथा वैश्य माता की सन्तान को अन्त्यावसायिन्, वैश्य पिता तथा ब्राह्मणी माता की सन्तान रामक, वैश्य पिता और क्षत्रिय माता की सन्तान पुल्कस तथा क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता की सन्तान सूत बताई गई[4]।

---

१ बौ० १. ९. १७, ५-६ ।

२ बौ० १. ९. १७. ७-८ ।

३ बौ० १. ९. १७, ९-१४ ।

४ वशि० १८,१-६ ; गु० पि० १६, ६ ।

वसिष्ठ ने अनुलोम क्रम में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य से अगली निम्नतर जातीय स्त्री में उत्पन्न सन्तान को क्रमशः अम्बष्ठ, उग्र तथा निषाद बताया। ब्राह्मण पिता तथा शूद्रा माता की सन्तान पारशव बताई गई[1]।

अन्तर्जातीय विवाहों के फलस्वरूप इन मिश्रित जातियों की उत्पत्ति काल्पनिक प्रतीत होती है जिसके माध्यम से सर्वप्रथम विभिन्न सामाजिक समूहों को एक व्यवस्था के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया गया। वस्तुतः इनकी उत्पत्ति लौकिक आधार पर हुई होगी। श्रम-विभाजन का तकनीकी विशिष्टीकरण ही इनकी आधारशिला बना होगा[2]। धीरे-धीरे एक विशिष्ट श्रम में कौशल्य कुछ परिवारों की आनुवंशिक निधि बन गया होगा, जिससे शनैः शनैः ये विभिन्न जातियां उत्पन्न हो गयीं[3]। यह धारणा किसी हद तक सही इसलिये प्रतीत होती है, क्योंकि रथकार, वेण तथा इसी प्रकार की अन्य जातियों को किसी न किसी व्यवसाय से सम्बन्धित किया गया है। जब यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी होगी तब विजय एवं उत्संस्करण (Acculturation) के फलस्वरूप समाज में मिलने वाले जनजातीय समूहों को भी जाति के रूप में समझने का प्रयास किया गया होगा।

---

१ वसि० १८, ८-९ ; तु० गौ० ४, १६।

२ कार्ल मार्क्स, कैपिटल, वाल्यूम १, पृ० ३२१।

३ वही।

गतिशीलता के महत्वपूर्ण माध्यम बने। बौद्ध धर्म को अंगीकार करने के कारण ही मातंग नामक चाण्डाल ने 'महाब्रह्म' पद की प्राप्ति की[१], एक अन्य मन्त्र-बल से युक्त 'महाचाण्डाल' का उल्लेख अम्ब जातक में प्राप्त होता है[२]। इस जातक के अन्त में कही गयी गाथा विशेष उल्लेखनीय है ; 'क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, पुक्कुस में से जिस किसी मनुष्य से किसी को धर्म का ज्ञान प्राप्त हो, वही उसके लिए उत्तम नर है।' इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस भी धर्मोपदेश देने में समर्थ बन सकते थे। एक अन्य धार्मिक चाण्डाल[३] तथा 'चम्मसाटक' परिव्राजकों[४] का विवरण भी प्राप्त होता है। सिरि जातक में जाति तथा वर्ण के स्थान पर शील की श्रेष्ठता पर बल देते हुए कहा गया है कि 'अधार्मिक क्षत्रिय हो, चाहे अधार्मिक वैश्य, वे दोनों लोकों (देवलोक तथा मानवलोक) को छोड़ दुर्गति को प्राप्त होते हैं। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी इस लोक में धर्माचरण करने से देवताओं के समान होते हैं[५]।" गंगमाल जातक में

---

१ मातंग जातक सं० ४९७ ।

२ अम्ब जातक सं० ४७४ ।

३ छवक जातक संख्या ३०९ ।

४ चम्मसाटक जातक सं० ३२४ ।

५ सिरि जातक सं० ३६२ ।

गंगमाल नामक नाई के द्वारा प्रत्येक बुद्धत्व प्राप्त किये जाने पर राजा ने राजमाता तथा राजपरिषद के सहित उसे प्रणाम किया । इसी प्रकार उपालि नामक नाई ने भी संघ में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया[1]। एक गृध्रशिकारी के भिक्षु हो जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है[2]। थेर तथा थेरीगाथाओं के रचयिताओं में दस थेर तथा आठ थेरियां शूद्र वर्ग से सम्बद्ध थी[3]। इनमें नट, चाण्डाल, डलिया बनाने वाले तथा शिकारी के अतिरिक्त दासी एवं नर्तकी का उल्लेख भी प्राप्त होता है[4]।

<u>उत्तरपूर्वी भारत में दासियों का उत्कर्ष</u>

बौद्ध तथा जैन धर्म ने दासियों की स्थिति को प्रभावित किया । यद्यपि बुद्ध ने जन्म पर आधारित जाति की जटिलता पर प्रहार कर शील तथा कर्म को ही अधिक महत्व दिया[5], संघ में ऊंच-नीच

---

१ <u>विनयपिटक</u> ४. ३०८ ।

२ <u>डिक्शनरी आव पाली प्रापर नेम्स</u>, १, १७५ ।

३ उद्धृत, आर० एस० शर्मा, <u>शूद्राज इन ऐंशियेण्ट इण्डिया</u>, पृ० १३४ ।

४ वही ।

५ <u>चुल्लवग्ग</u> ६. १. ४ ।

सभी को समान स्थान भी मिला पर संघ के बाहर जहां कहीं भी क्षत्रिय-ब्राह्मण श्रेष्ठता का प्रसंग आया स्पष्ट रूप में क्षत्रियों को श्रेष्ठ बताया गया[1]। अरिन्दम नामक राजा अपने पुरोहित के पुत्र सोनक को हीन-जातीय (हीनजच्च) तथा स्वयं को 'असम्भिन्न क्षत्रिय वंश वाला' बताता है जिसके परिवार के सदस्य माता तथा पिता दोनों की ओर से क्षत्रिय थे[2]। वे किसी भी ऐसे व्यक्ति को अपने बराबर का स्थान देने को तैयार नहीं थे जो माता तथा पिता दोनों की ओर से क्षत्रिय नहीं था। वर्णों के उल्लेख में भी क्षत्रियों को प्रथम स्थान दिया गया[3]। क्षत्रियों का यह उत्कर्ष बौद्ध धर्म के प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। जैन कल्पसूत्र में इस बात का उल्लेख प्राप्त होता है कि क्षत्रियों की श्रेष्ठता के कारण महावीर स्वामी को ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से हटा कर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया गया। निदान कथा में यह प्रसंग आया है कि बुद्ध ने अपने अन्तिम जन्म के लिए क्षत्रिय जाति को चुना क्योंकि उस समय क्षत्रिय जाति श्रेष्ठ थी[4]। क्षत्रियों की श्रेष्ठता बुद्ध तथा अम्बट्ठ ब्राह्मण के मध्य हुए वार्तालाप से भी ज्ञात होती है जिसमें

---

१ दीघनिकाय १, ९७-९९ ।

२ जातक ५, २५७ ; फिक, सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया इन बुद्धस टाइम, अनु० एस० के० मैत्र, पृ० ८३ ।

३ जातक ३, १९ ; ४, २०५, ३०३ आदि ।

४ निदानकथा १, ४९ ।

जिसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान को ब्राह्मण अपनी जाति में सम्मिलित कर सकते थे परन्तु क्षत्रिय नहीं[1]। क्षत्रिय होने के लिये दोनों ओर की पवित्रता बुद्ध ने अनिवार्य बतायी। अन्यत्र बुद्ध ने यह स्पष्ट कहा है, 'निम्नतम स्तर को प्राप्त क्षत्रिय ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ है'[2]। कोई अन्य जाति वंश-परम्परा में क्षत्रियों की बराबरी नहीं कर सकती थी[3]। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि क्षत्रियों के समाज में सर्व श्रेष्ठ होने का सिद्धान्त प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित लोगों को मान्य नहीं था।

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक उत्थान-पतन में शिक्षा का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है[4]। प्राचीन भारत में तो सबसे ही वेदज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। वेदों का अध्ययन करने वाले की सामाजिक वरीयता उपनयन से होने वाले उनके द्विजत्व द्वारा

---

१ दीघ० ३. १. २४ ।

२ दीघ० ४. ४ ।

३ दीघ० १, ९०-९१ ; १, ९९ ; १, १०३ ; संयु० ५. ३२७-२८ ।

४ पी० ए० सोरोकिन, सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी, पृ० १४०, १६६ ।

प्रतिपादित की गई है। उपनयन का अधिकार न होने के कारण शूद्र को 'एकजाति' कहा गया है।

उपनयन के सम्बन्ध में विशिष्ट आयु का निर्धारण किया गया है। वशिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मणों का उपनयन सोलहवें साल तक, क्षत्रियों का बाइसवें वर्ष तक तथा वैश्यों का चौबीसवें वर्ष तक अवश्य हो जाना चाहिये, नहीं तो इसके बाद उनका पतन हो जाता था[1]। इस प्रकार पतित हुए व्यक्तियों को जाति-बहिष्कृत के समान बताया गया है। ऐसे व्यक्तियों का उपनयन तथा शिक्षा तो वर्जित की ही गयी, उनके लिये यज्ञ कराने तथा उनके साथ विवाह-सम्बन्ध का भी निषेध किया गया है[2]।

जिन व्यक्तियों के पिता, पितामह तथा प्रपितामहों के उपनयन के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है, उन्हें इस श्मशान भूमि कहा गया है[3]। उनके साथ खान-पान तथा विवाह सम्बन्ध

---

१ वशि० ध० सू०, ११. ७१-७४ ; ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आव द आर्याज़, पार्ट २, पृ० ५८ ।

२ वशि० ध० सू०, ११, ७५ ; आप० ध० सू० १. १. १.२८ ।

३ आप० ध० सू०, १.१. २. ५-६ ; आप० गृ० सू० १. ११.८.६ ।

वर्जित किये गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि द्विजातियों में जिनका उपनयन संस्कार नहीं होता था उनका स्थान समाज में गिर जाता था। जिस प्रकार शूद्रों के साथ खानपान तथा विवाह-सम्बन्धों का निषेध मिलता है, उसी प्रकार का निषेध अनुपनीत द्विजातियों के लिये होना उनके सामाजिक अपकर्ष का द्योतक है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ही एक स्थान पर शूद्र तथा 'बाह्य' जाति के लिये श्मशानभूमि का प्रयोग किया गया है[1] और इसी शब्द का प्रयोग अनुपनीत द्विजातियों के लिये किया जाना उनके सामाजिक अपकर्ष का द्योतक है।

अनुपनीत व्यक्ति से जो पुत्र उत्पन्न होते थे उन्हें व्रात्य की संज्ञा दी गई है[2]। वेदों से अनभिज्ञ ब्राह्मण काष्ठ निर्मित हाथी तथा चमड़े द्वारा निर्मित हरिण के समान बताये गये हैं[3]। वेदों की अवज्ञा करने वाला सन्यासी भी शूद्रवत् हो जाता था[4]। बौधायन के अनुसार

---

१ आप० ध० सू० १.३.९.९ ; तुलनीय याज्ञ, १.३.९.९ ।

२ बौ० १.८. १६, १६ ।

३ बौ० १. १. १. १० ; वसि० ३. ११ ।

४ वसि० १०.४ ; ब्यूलर, सैक्रेड लाज आफ द आर्याज़, भाग २, ४६ ।

वेदाध्ययन तथा विद्वान् ब्राह्मण की अवज्ञा करने पर उच्च परिवारों का अपकर्ष हो जाता था[1]। यह विचार भी मिलता है कि द्विजाति व्यक्ति यदि वेदाध्ययन नहीं करता था तो वह जीवितावस्था में ही शूद्रावस्था को प्राप्त हो जाता था[2]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पन्न उपनयन के अभाव में सामाजिक अपकर्ष स्थायी नहीं होता था, क्योंकि सावित्रीपतितों के लिए व्रात्यस्तोम, उद्दालक प्रायश्चित्त तथा अन्य[3] प्रायश्चित्तों का विधान निर्धारित किया गया है। यह अपकर्ष स्थायी तभी होता होगा जब किसी कारणवश व्यक्ति इन प्रायश्चित्तों को करने में असमर्थ होता होगा।

शिक्षा के माध्यम से उत्कर्ष की सम्भावना भी थी। आपत्तिकाल में अब्राह्मण आचार्य द्वारा अध्ययन करने की छूट प्रदान की गयी है[4], जो इस सम्भावना की ओर संकेत करती है कि शिक्षा के माध्यम से अब्राह्मण भी आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो सकते थे।

---

१ बौ० १.५. १०.२४ ; ब्यूहलर, सैक्रेड लाज़ आफ द आर्यज़, पृ० १७५।

२ वसि० ११, ७४-७९।

३ वसि० ३, २।

४ आप० २. २. ४. २५ ; बौ० १. २. ३. ४१।

एक पण्डित चाण्डालपुत्र का उल्लेख सेतकेतु जातक में मिलता है, जिसके सम्मुख उदीच्यकुलोत्पन्न श्वेतकेतु नामक ब्राह्मण को पराजय स्वीकार करनी पड़ी[१]। इसी प्रकार चित्त तथा सम्भूत नामक दो चाण्डाल भाइयों द्वारा तक्षशिला में शिक्षा ग्रहण करने तथा प्रव्रज्या लेने का विवरण चित्तसम्भूत जातक में प्राप्त होता है[२]। बौद्ध धर्म के कारण कुछ निम्न स्तर के लोगों को भी शिक्षा का अवसर मिला होगा। इस सम्बन्ध में दिव्यावदान में प्रकृति नामक चाण्डाल कन्या की कथा मिलती है जिसने भिक्षुणी बन जाने के बाद बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा में प्रवीणता प्राप्त की[३]।

धर्म तथा शिक्षा जहां एक ओर व्यक्ति अथवा वर्ग के उत्कर्ष (upward mobility) का कारण रहे हैं वहां दूसरी ओर अपकर्ष (downward mobility) का कारण भी बने। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण विवेच्य काल में स्त्रियों के अपकर्ष का प्रारम्भ है जो अनुगामी काल में विशेष रूप से सामने आया। अपकर्ष की प्रारम्भिक प्रवृत्ति को बताने से पूर्व यह संकेत कर देना आवश्यक है कि पूर्व-वैदिक तथा उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियों का वर्ग समाज में सम्मान, प्रतिष्ठा तथा गौरव का अधिकारी था। उन्हें कहीं भी यज्ञ, उपनयन तथा वेदों के अध्ययन-अध्यापन के

---

१ जा० सं० ३७७।

२ जातक सं० ४९८।

३ उद्धृत, विन्टरनित्स, ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिट्रेचर, २, २८६।

अधिकार से वंचित नहीं किया गया अन्यथा हमें घोषा, सिकता निवावरि, विश्ववारा, लोपामुद्रा आदि विदुषी स्त्रियाँ तथा 'ब्रह्मवादिनी' और 'सद्योद्वाहा' के प्रसंग उपलब्ध न होते[1]। कुछ ऐसे यज्ञ भी थे जिनका सम्पादन स्त्रियाँ अकेले ही कर सकती थीं जैसे -- सीतायाग, रुद्रयाग तथा रुद्रबलि[2]।

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के लगभग स्त्रियों की दशा में अपकर्षात्मक परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। स्त्रियों के सम्बन्ध में उपनयन संस्कार अभी समाप्त नहीं हुआ था किन्तु व्यवहार की दृष्टि से अन्तर झलकने लगा था। जिस प्रकार का दृष्टिकोण शूद्रों के प्रति था लगभग वैसा ही दृष्टिकोण स्त्रियों के लिए भी बनने लगा था, इसके छिटपुट उदाहरण गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में ही प्राप्त होने लगते हैं[3]।

---

1 ए० एस० अल्तेकर, पोज़ीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन, पृ० १०-११।

2 ए० एस० अल्तेकर, वही, १९८।

3 पारस्कर गृह्यसूत्र २. ८. ३, शांखायन गृह्यसूत्र ४, २७ ; वसिष्ठ ३, ३४ ; बौ० ४.५.४ ; आप० २.११.२६० ; बौ० ध० सू० २.१.११-१२ में शूद्र तथा स्त्री की हत्या के लिए एक ही प्रायश्चित्त निर्धारित किया गया है।

(प्रथम द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व) के [illegible] भगवद्गीता में यह स्थिति और अधिक स्पष्ट हो उठी है --

'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।'

देखिये, भगवद्गीता, ९.३२।

शूद्रों के समकक्ष स्त्रियों को रखने की प्रवृत्ति की सर्वप्रथम झलक शतपथ ब्राह्मण १४. १.१.३१ में ही मिलती है जिसे लगभग ५वीं शताब्दी ई० पू० का माना गया है। वहाँ यह स्पष्ट कहा गया है -- 'स्त्री शूद्रः श्व कृष्णाः शकुनिस्तानि न प्रेक्षेत्'।

स्त्री वर्ग की अपकर्षोन्मुख स्थिति[1] के कारणों में यज्ञ-पद्धति की जटिलता में वृद्धि तथा कन्यापक्ष के सन्दर्भ में विवाह की आयु का घट जाना ही प्रधान कारण रहे। विवाह की आयु के घट जाने का एक कारण जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण बड़े पैमाने पर भिक्षुणी बन जाने की प्रवृत्ति भी रही। यज्ञ-पद्धति की जटिलता में

स्त्रियों के अपकर्ष की लगभग यही स्थिति ग्रीस में पेरीक्लीज काल (लगभग ५०० ई० पू०) में भी दिखाई पड़ती है। इसके पहले होमर काल (लगभग १००० ई० पू०) में उनकी दशा पेरीक्लीज़ काल की अपेक्षा अच्छी थी। वे समाज के महत्वपूर्ण उत्पादक वर्ग का एक अंग थीं। प्राचीन भारत की ही भाँति पोशाकों का निर्माण कार्य उनके ही अधीक्षण में होता था। वे सम्पूर्ण गृहकार्य पुरुषों तथा दासों के बिना परिश्रम से करती थीं परन्तु पेरीक्लीज़ के काल में दास प्रथा पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ चुकी थी तथा गृहों में किया जाने वाला शारीरिक कार्य अब दास करने लगे थे अतः पत्नियों को सभी कार्य छिन गये। वे मात्र पराश्रयी (Parasite) बनकर रह गईं तथा समाज ने उनका सम्मान करना भी प्रायः बन्द कर दिया।

१ ए० एस० अल्टेकर, <u>पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन</u>, पृ० ३४२।

वृद्धि पर विचार किया जाय तो पहला और दूसरा कारण एक प्रकार से अन्योन्याश्रित प्रतीत होते हैं । सोलह-सत्रह[1] वर्ष की आयु में विवाहित हो जाने वाली युवतियों के लिए क्रमश: जटिलतर होती हुई यज्ञ-पद्धति को आत्मसात करने का समय केवल सात-आठ वर्ष बचता था जो पूर्ण ज्ञान के लिये बहुत कम था । सम्भवत: इसीलिए धीरे-धीरे यज्ञ में भाग लेना स्त्रियों के लिये मात्र औपचारिकता रह गया और कुछ समय पश्चात् आगामी काल में यह औपचारिकता भी समाप्त हो गयी । अपकर्ष के एक कारण के रूप में आर्य-गृहों में आर्येतर पत्नियों के प्रवेश की सम्भावना भी व्यक्त की जा सकती है । जहां तक आर्येतर पत्नियों के शैक्षिक धार्मिक अधिकारों का प्रश्न है, वे यज्ञ में भाग लेने तथा वेदाध्ययन के योग्य नहीं थीं क्योंकि

---

१ स्त्रियों के विवाह के सन्दर्भ में यह उम्र लगभग ५ वीं शताब्दी ईसा-पूर्व तक चलती रही परन्तु लगभग चतुर्थ शताब्दी ईसा-पूर्व से यह विचार ज़ोर पकड़ रहा था कि कन्याओं का विवाह वय: सन्धि से पूर्व ही हो जाना चाहिये । वशि० ध० सू० १७. ६६ ; बौ० ध० सू० ४. १. १४, गौ० ध० सू० १८. २० फलस्वरूप विवाह की आयु के घट जाने का प्रभाव उपनयन पर पड़ा और वह मात्र एक औपचारिक संस्कार रह गया, जिसके फलस्वरूप वेदाध्ययन तथा यज्ञ की गम्भीरता भी गौण हो गयी ।

वे वैदिक संस्कृत भाषा से पूर्णरूपेण अनभिज्ञ थीं । फलस्वरूप, आर्य गृहों में विवाहित विभिन्न वर्ण की पत्नियों में विभेदीकरण की अहितकर स्थिति से बचने के लिये ही व्यवस्थापकों ने सम्पूर्ण स्त्री वर्ग को शैक्षिक-धार्मिक अधिकारों से वंचित करने का विचार किया । यह प्रवृत्ति कर्मसूत्रों के काल में प्रकट हुई और क्रमशः विकसित होती हुई मनु तथा याज्ञवल्क्य के काल में साफ़-साफ़ सामने आ गयी[1]।

यद्यपि वर्ग की दृष्टि से स्त्री वर्ग का अपकर्ष होने लगा था पर जहां तक वैयक्तिक उत्थान और पतन का प्रश्न है बौद्ध धर्म ने स्त्रियों के लिये भिक्षुणी संघ की व्यवस्था कर उन्हें अपनी स्थिति सुधारने का अवसर प्रदान किया । बौद्ध धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता रही है कि उसने पुरुष और नारी दोनों को समान रूप से उत्कर्ष का अवसर दिया । इससे लाभ उठाने वालों में एक ओर जहां राजवंशों की कन्यायें थीं[2] तो दूसरी ओर सेठों की कन्यायें भी थीं[3]।

---

१ देखिये आगे, अध्याय ४

२ राजवंश से सम्बन्धित सुमा, अनोपमा, सुमेधा तथा संघमित्रा ने सम्पत्ति तथा विवाह के प्रलोभन को अस्वीकार कर भिक्षुणी जीवन स्वीकार किया । थेरीगाथा ५४, ५६, ७२, इसी प्रकार कौशाम्बी के राजा शतानीक की पुत्री जयन्ती ने राजसी पोशाक त्याग कर भिक्षुणी के वल्कल धारण किये ।

३ थेरी पटाचारा श्रावस्ती के सेठ की कन्या थी --थेरीगाथा, ४७ ।

इसी प्रकार ब्राह्मण[1] तथा गृहपति अथवा वैश्य वर्ग से सम्बन्धित स्त्रियां भी भिक्षुणी बनने लगी थीं। सर्वाधिक लाभ निर्धन तथा निम्न वर्ग की स्त्रियों को हुआ जो संघ में प्रवेश पा कर अन्य भिक्षुणियों के समान स्तर पर आ खड़ी हुई। शुभा नामक थेरी एक सुनार की पुत्री थी[2] तो बहेलिये की कन्या चापा भी थेरी कहलायी। कृशा गौतमी निर्धन परिवार की थी[3]। निर्धन परिवार की ही सुमंगलमाता[4] नाम की स्त्री ने प्रव्रज्या ग्रहण की तथा कोसल जनपद के एक दरिद्र ब्राह्मण की कन्या मुक्ता भी भिक्षुणी बन कर सम्मानित हुई।

श्रावस्ती की पुर्णिका पहले एक साधारण पनिहारिन थी जो बाद में भिक्षुणी बन गयी[5]। अंबपाली[6] नामक

---

१ श्रावस्ती के राजपुरोहित ब्राह्मण की कन्या संतिका के भिक्षुणी बन जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। थेरीगाथा, २२ ।
इसी प्रकार मुक्ता कोसल जनपद के दरिद्र ब्राह्मण की कन्या थी। थेरीगाथा, ११ ।

२ थेरीगाथा, ७० ।

३ थेरीगाथा, ६३ ।

४ थेरीगाथा, २९ ।

५ थेरीगाथा, ६५ ।

६ थेरीगाथा, ६६ ।

वारांगना को बुद्ध द्वारा किया गया सम्मान लोकविश्रुत है। जनपद कल्याणी नन्दा ने थेरीपद का सम्मान प्राप्त किया[1]। बड्ढेसी प्रजापति गोतमी की सेविका थी[2]। यह भी कहा गया है कि महावीर की प्रथम स्त्री शिष्या दासी थी। इस प्रकार कतिपय उदाहरण वैयक्तिक सामाजिक गतिशीलता के प्रवर्तक तत्व के रूप में धर्म का योगदान दिखाते हैं।

व्यष्टिविषयक शिक्षा की दृष्टि से भी कुछ ऐसी विदुषी स्त्रियों के प्रसंग जातक कथाओं में उपलब्ध हैं। भगवान बुद्ध के प्रधान शिष्य सारिपुत्त को चार स्त्रियों ने शास्त्रार्थ के लिए श्रावस्ती में चुनौती दी[3]। इससे ज्ञात होता है कि कुछ स्त्रियां शिक्षा के माध्यम से भी सम्मान प्राप्त करती थीं[4]।

---

१ थेरीगाथा, ४९।

२ थेरीगाथा, ३८।

३ उद्धृत, आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १३५।

४ वही।

सामाजिक गतिशीलता का प्रतीक तत्व : अपराध और प्रायश्चित

धर्मसूत्रों में महापातकों[1], उपपातकों[2] के अन्तर्गत ऐसे अपराधों का वर्णन मिलता है जिसके कारण व्यक्ति जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था अथवा निम्नतम स्तर पर गिरा दिया जाता था। सुरापान, गुरुतल्प, भ्रूणहत्या, ब्राह्मणसुवर्णापहरण तथा पतितों के साथ किसी भी प्रकार का संयोग सामाजिक पतन के कारण थे[3]। पतितों के साथ वर्ष भर तक सम्बन्ध रखने वाला स्वयं भी पतित होता था। इन सम्बन्धों में पतितों के लिये यजन, अध्यापन तथा उनके साथ यौन सम्बन्धों की गणना की गयी है[4]। गौतम, वशिष्ठ तथा विष्णु चोरों के समान दूसरों की सम्पत्ति हड़पने वाला ब्राह्मण ब्राह्मणत्व से गिर जाता था[5]।

---

१ वशि० १, १९।

२ वही, १, २३।

३ वही, १,२०-२१।

४ वही, १, २२ ; ब्यूलर, सैक्रेड लाज़ आफ द आर्यज़, भाग २, पृ० ५।

५ वशि० ३, ३ ; ब्यूलर, वही, पृ० १७।

कुछ छोटे अपराध[1] भी बताये गये हैं जो सामाजिक अपकर्ष के कारण थे । ऐसे अपराधों में अग्नि का अपक्षेपन, गुरु का अपमान, नास्तिकता, नास्तिकों से जीविकार्जन तथा सोमविक्रय की गणना की गई है । वसिष्ठ के अनुसार शुल्क लेकर किया गया कन्यादान व्यक्ति की सातवीं पीढ़ी तक को नष्ट कर देता था[2]। इन पातकों से मुक्ति पाने के लिये बनाये गये प्रायश्चित्तों[3] के विधान इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अपराधों के कारण होने वाला यह अपकर्ष स्थायी नहीं था ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रवर्तक तत्व : स्वधर्मपालन तथा स्वधर्मप्रमाद की अवधारणा

धर्मसूत्रों में स्वधर्मप्रमाद तथा स्वधर्मपालन द्वारा होने वाले सामाजिक अपकर्ष तथा उत्कर्ष की अवधारणा प्रतिपादित की गई है । आपस्तम्ब के अनुसार अपने कर्तव्यों का पूर्णरूप से पालन करने वाले हीन-वर्णीय व्यक्ति अगले जन्म में वर्णोत्कर्ष को प्राप्त होते थे[4]। यह विश्वास

---

१ गौ० २१, ११ ; वसि० १, २३, विष्णु ३७, ६, ३१ ।

२ वसि० २८, ६ ; ब्यूहर, सैक्रेड बुक्स आफ द आर्यज़, भाग २, पृ० ५ ।

३ वसि० २५, ३ ।

४ आप० २, ५, १० ।

था कि अपने धर्म का पालन न करने वाले उच्चवर्णीय व्यक्ति अगले जन्मों में हीनवर्ण में जन्म लेकर अपकर्ष को प्राप्त होते थे[1]। यह विचार भी मिलता है कि द्विजाति व्यक्ति यदि वेदाध्ययन नहीं करता था तो वह जीवितावस्था में ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता था[2]। राजा के लिये ऐसे ग्राम को दण्ड देने का विधान वशिष्ठ ने निर्धारित किया जहाँ के द्विज अव्रत, अध्ययनरहित तथा भैक्षाचर थे[3]। कर्तव्यों की अवहेलना करने वाले श्राद्ध में निमन्त्रण के अधिकारी नहीं थे[4]। गौतम तथा वशिष्ठ के अनुसार वेद एवं यज्ञ की अवज्ञा करने वाले पुरोहित तथा आचार्य को जाति-बहिष्कृत कर दिये जाने का विधान था[5]। यज्ञों की अवज्ञा से उच्च परिवारों के सामाजिक अपकर्ष की बात बौधायन ने भी कही है[6]। इस प्रकार वर्णोचित धर्म की अवहेलना से उच्च वर्णों का अपकर्ष अधोमुखी सामाजिक गतिशीलता की ओर संकेत करता है।

---

१ आप० २.५. १०-११ ; ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आफ द आर्यज़, भाग १, पृ० १२९ ; तुलनीय मनु० १०, ६४-६५ ; याज्ञ० १. ९६ ।

२ वशि० ३, २, ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आफ द आर्यज़, भाग २, पृ० १६-१७।

३ वशि० ३, ४ ।

४ वशि० ११, १९ ।

५ गौ० २१, १२, वशि० १३, ५० ।

६ बौ० १. ५. १०. १६ ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रतीक तत्त्व : पतित-संगति

पतितों के साथ किसी भी प्रकार का संयोग सामाजिक पतन का कारण माना गया[1]। पतितों के साथ वर्ष भर तक सम्बन्ध रखने वाला स्वयं भी पतित होता था। इन सम्बन्धों में पतितों के लिये यजन, अध्यापन तथा उनके साथ वैवाहिक सम्बन्धों का उल्लेख किया गया है[2]। आपस्तम्ब तथा विष्णुधर्मसूत्र में भी पतितों के साथ यजन, अध्यापन तथा वैवाहिक सम्बन्धों का निषेध किया गया है[3]। किन्तु ये आदर्श नियम हैं और इनका पालन किस हद तक होता था यह नहीं कहा जा सकता।

सामाजिक गतिशीलता का प्रतीक तत्त्व : भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों का सिद्धान्त

हीन जातियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध अपकर्ष का कारण माना जाता था। इस काल में सर्वप्रथम कुछ निषिद्ध खाद्य पदार्थों का वर्णन मिलने लगता है। गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन तथा वशिष्ठ ने एक पूरा खण्ड निषिद्ध खाद्य पदार्थों के निमित्त अपने सूत्र-ग्रन्थों में नियोजित किया है[4]। अग्निहोत्री अथवा वैदिक होने के बावजूद

---

१ वशि० १. २०-२१ ।

२ वही १. २२ ; ब्यूलर, सेक्रेड लाज़ आव द आर्यज़, भाग २, पृ० ५ ।

३ आप० १. १. २८ ; विष्णु० ३५. ३-५ ।

४ गौ० अध्याय १७, आप० १. ५. १७. १८ ; बौधा० १. ५. १२ ; वशि० १४ ।

शूद्र द्वारा पोषित होने वाले ब्राह्मण का अपकर्ष अवश्यम्भावी बताया गया है[1]। इसके विपरीत शूद्रान्न न ग्रहण करने वाला ब्राह्मण दान के लिए योग्यतम पात्र कहा गया है[2]। निर्धारित प्रायश्चित द्वारा व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लेता था। चाण्डाल द्वारा प्रदत्त भोज्यान्न ग्रहण करने वाले के लिये कृच्छ्र प्रायश्चित का विधान किया गया है जिसके बाद पुनः उपनयन भी आवश्यक था[3]।

भौगोलिक गतिशीलता

गतिशीलता के प्रवर्तन में स्थानान्तरण का योगदान भी परिलक्षित होता है। समुद्दवाणिज जातक में यह प्रसंग आया है कि कर्ज के कारण निर्धन हुए ५०० बढ़ई सपरिवार नौका पर चढ़ कर समुद्र में विचरते हुए एक सम्पन्न द्वीप में जा कर बस गये थे[4]। इसी प्रसंग से मिलता जुलता प्रसंग वालाहस्स जातक में भी आया है जहाँ ताम्रपर्णी द्वीप के द्वीप सिरीवत्थु नामक यक्षों के नगर में ५०० ऐसे व्यापारिक के जाने का उल्लेख है

---

१ वशि० ६, २८-२९ ।

२ वशि० ६, २९ ।

३ वशि० २०, १७ ।

४ समुद्दवाणिज जातक, सं० ४६६ ।

जिनकी नौकायें सामान सहित समुद्र में विनष्ट हो गयी थीं[1]। कटाहक जातक में कटाहक नामक दास की कथा मिलती है जो प्रत्यन्त देश में जाकर सेठ की पुत्री से विवाह कर स्वयं भी सेठ बन सुख से रहने लगा था[2]।

जाति के उदय एवं विकास का सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव

पीछे इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि वर्णों को जाति के रूप में समझने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। निरुक्त में प्रयुक्त शब्द 'कृष्णजातीय' तथा अष्टाध्यायी में प्रयुक्त शब्द 'ब्राह्मणजातीय' इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं[3]। इसी प्रवृत्ति के साथ विभिन्न सामाजिक समुदायों के जन्म पर आधारित होकर ठोस होने की प्रवृत्ति भी प्रारम्भ हो चुकी थी। विभिन्न सामाजिक समुदायों के लिये उपनयन, विवाह, मृत्यु आदि विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित नियम अलग-अलग निर्धारित किए गए जिसके फलस्वरूप उनमें पारस्परिक पार्थक्य की प्रवृत्ति

---

१ काळाहस्स जातक, सं० १९६।

२ कटाहक जातक, सं० १२५।

३ देखिये पीछे, पृ० १४।

बढ़ने लगी और जाति के रूप में उनका विकास होने लगा । व्यावसायिक अनुवंशीकरण ने व्यवसायों को जाति के रूप में दृढ़ करना प्रारम्भ किया । उपर्युक्त कारणों से ज्यों-ज्यों जाति का विकास होने लगा, सामाजिक गतिशीलता का दायरा कम होने लगा । अब सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया उतनी तीव्र नहीं रह गयी जितनी पूर्व-वैदिक काल में थी । पूर्व-वैदिक काल में एक ही परिवार के तीन व्यक्ति तीन विभिन्न प्रकार के कार्य कर सकते थे । परन्तु जाति के उदय एवं विकास की प्रक्रिया के साथ इस प्रकार का कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है । अब अपने वर्ण के लिए निर्धारित नियमों का पालन न करने पर अपकर्ष तथा दण्ड का विधान निर्धारित हो चुका था । विभिन्न वर्णों के लिये जीवनयापन के विशिष्ट व्यवसायों पर धर्मसूत्रों[१] में एक अलग खण्ड (Section) निर्धारित किया गया है । अपने वर्ण के लिये निर्धारित कार्य न करने पर व्यक्ति का अपकर्ष हो जाता था । वर्ण-सम्बन्धी नियमों के निर्धारण से जाति प्रथा बढ़ने लगी जिससे काफी हद तक व्यावसायिक गतिशीलता

---

१ गौतम० अध्याय १० ; आपस्तम्ब० १. ७. २० ;

वशिष्ठ० अध्याय २ ।

में रुकावट उत्पन्न की[१]। इसी प्रकार हीन वर्णों में वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा अपकर्ष की बात भी कही गई है। स्पष्ट है कि सामाजिक गतिशीलता जितनी तीव्र पहले के कालों में रही वह क्रमशः जाति के उदय और विकास के साथ क्रमशः क्षीण होने लगी।

---

१ जोसेफ के० स्पेन्गलर, इण्डियन इकनामिक थॉट, पृ० ६२ ।

अध्याय - ४

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक

अध्याय--४

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी तक

इस काल से सम्बन्धित साहित्यिक स्रोतों में प्रमुख रूप से मनुस्मृति (२०० ई०पू०- २०० ई०)[1], याज्ञवल्क्य स्मृति (१०० ई० - ३०० ई०)[2] तथा महाभारत के अनुशासनपर्व और शान्तिपर्व हैं । महाभारत (वनपर्व) तथा पुराणों में वर्णित कलियुग-वर्णन सम्बन्धी प्रसंग, जिनकी तिथि द्वितीय से लेकर तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी[3] के लगभग निर्धारित की गयी है, भी सामाजिक गतिशीलता के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएं प्रस्तुत करते हैं । 'सामाजिक व्यवस्था के नियम पुस्तकों में बाद में प्रविष्ट होते हैं परन्तु उनका प्रचलन पहले से ही प्रारम्भ हो जाता है,[4] इस आधार पर

---

१ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, क्रोनोलॉजिकल टेबुल ।

२ पी० वी० काणे, वही ।

३ हाज़रा, पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० १७४-७५ ।

४ कार्ल मार्क्स, द पावर्टी आव फिलासफी, पृ० ११८ ।

नारद स्मृति (१००-४०० ई०) तथा बृहस्पति स्मृति (३०० ई०-
५०० ई०) के उपयुक्त अंशों का उपयोग किया गया है ।

मनुस्मृति में रूढ़िवादी व्यवस्थाओं को ही कड़
रखने का प्रयास किया गया है परन्तु इसके विपरीत कुषाणकालीन जैन
ग्रन्थ अंगविज्जा[1] समाज की अधिक वास्तविक स्थिति का चित्र प्रस्तुत करता
है ।[2] इसके अतिरिक्त पतञ्जलि का महाभाष्य (१५० ई० पू०),
मिलिन्दपन्ह (१०० ई०)तथा महावस्तु (२०० ई० पू०- ४०० ई०) भी
इस काल की सामाजिक स्थिति के ज्ञान के लिये उपयोगी हैं ।

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से चतुर्थ शताब्दी ईसवी
के मध्य के काल की स्थिति पर कुछ प्रकाश पुरातात्विक अवशेषों से भी
पड़ता है । विशेषकर इस काल में हुए बाह्य आक्रमणों, धार्मिक तथा
सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का आभास अभिलेखों, सिक्कों, नगरों तथा
भवनों के ध्वंसावशेषों, उपकरणों, मिट्टी की मूर्तियों तथा बर्तनों आदि
से मिलता है । अभिलेखों में बेसनगर से प्राप्त गरुड़ स्तम्भ-लेख, इण्डो-यूनानी

---

१ गुप्तकाल में `अंगविज्जा` यत्र-तत्र अनुशीलित की गयी ।

२ बी० एन० एस० यादव, `सम ऐस्पेक्ट्स आफ चेन्जिंग आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज`, कुषाण स्टडीज, पृ० ७६ ।

राजाओं के सिक्कों पर प्राप्त लेख, शक पह्लवों के लेख, सातवाहन तथा कुषाण राजाओं के अभिलेख तथा खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के अतिरिक्त नासिक, कन्हेरी, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त ये गुहालेख तथा शिलालेख भी महत्त्वपूर्ण हैं जो विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों द्वारा किये गये धार्मिक दानों का उल्लेख करते हैं ।

अभिलेखों के अतिरिक्त सिक्के भी तत्कालीन आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं । सिक्कों में कुषाण राजाओं द्वारा चलाये गये सोने के सिक्के आर्थिक प्रगति के नवीन चरण की ओर संकेत करते हैं । कुषाण सिक्के अहिच्छत्र[1], पाटलिपुत्र[2], कुम्रहार[3], वैशाली[4], सोहगौरा[5], मसाँव[6] तथा

---

१ ऐंश्येण्ट इण्डिया, नं० ५, पृ० ६७ ।

२ इण्डियन आर्कियालजी : ए रिव्यू १९५५-५६, पृ० २३७ ।

३ रिपोर्ट्स आन कुम्रहार एक्सकेवेशन्स, १९५१-५५, पृ० २० ।

४ इण्डियन आर्कियालजी : ए रिव्यू, १९५८-५९, पृ० १२ ।

५ वही १९६१-६२, पृ० ५६ ।

६ बुलेटिन आफ न्यूमिस्मेटिक्स एण्ड आर्कियालजी इन यू० पी०, नम्बर १, पृ० ३१ ; इण्डियन आर्कियालजी : ए रिव्यू, १९६४-६५ (मैनस्क्रिप्ट कापी), पृ० [illegible] ।

अतरंजीखेड़ा[1] से प्राप्त होते हैं । इस सन्दर्भ में भीटा से प्राप्त सिक्कों के साँचे भी महत्वपूर्ण हैं ।

नगरों के ध्वंसावशेष कुरुक्षेत्र के राजा कर्ण का किला,[2] नई दिल्ली का पुराना किला,[3] राजस्थान के नोह,[4] उत्तर प्रदेश के हस्तिनापुर,[5] अतरंजीखेड़ा,[6] कौशाम्बी,[7] सोंख (मथुरा[8]), पिपरहवा,[9] राजघाट,[10] भैला (गाज़ीपुर[11]), बिहार में चिरांद[12] और वैशाली तथा

---

१ ऐंश्येण्ट इण्डिया नं० ९, पृ० ३६ ।

२ इण्डियन आर्किऑलजि : ए रिव्यू, १९७०-७१, पृ० १५ ।

३ वही, पृ० ८ ।

४ वही, पृ० ३१ ।

५ ऐंश्येण्ट इण्डिया नम्बर १०-११, पृ० १२ ।

६ इण्डियन आर्किऑलजि : ए रिव्यू, १९६२-६३, पृ० ३४ ।

७ जी० आर० शर्मा, एक्सकैवेशन्स एट कौशाम्बी, १९५७-५९, पृ० २६-३१।

८ इण्डियन आर्किऑलजि : ए रिव्यू, १९७०-७१, पृ० ३६ ।

९ वही, पृ० ३७ ।

१० वही, १९६५-६६, पृ० १०० ।

११ इण्डियन आर्किऑलजि : ए रिव्यू, १९६४-६५, पृ० ४३ ।

१२ वही, १९७०-७१, पृ० ७ ।

गंगा के दक्षिण में कुम्रहार[1] तथा उड़ीसा में शिशुपालगढ़[2] आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं।

उपर्युक्त स्थलों से उत्खनन में प्राप्त लोहे के विभिन्न उपकरण तथा औज़ार, मिट्टी की मूर्तियां तथा बर्तन उपयोगी वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं। मिट्टी के बर्तनों में `रेड वेयर` को विशेष रूप से सातवाहन-कुषाण काल से सम्बन्धित किया गया है।

राजनीतिक विकास

मौर्य साम्राज्य के विघटन के साथ-साथ भारतीय इतिहास के राजनीतिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति परिलक्षित होने लगती है[3]। दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व में भारत कई छोटे राज्यों में विभक्त हो गया और साम्राज्यवादी शासन का प्रथम दौर भी लगभग समाप्त हो गया। १८७ ई० पू०[4] के लगभग अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की मृत्यु के

---

१ *रिपोर्ट आन कुम्रहार एक्सकेवेशन्स*, १९५१-५५, पृ० १४-१८ ।

२ *इण्डियन आर्कियालजी : ए रिव्यू*, १९७०-७१, पृ० ३० ।

३ आर० एस० शर्मा, *ऐस्पेक्ट्स आफ पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया*, पृ० २९८ ।

४ आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, *द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी*, पृ० ९० ।

तत्काल बाद भारत के ऐतिहासिक रंगमंच पर हम शुंगों को आसीन पाते हैं। पाणिनि[1] के अनुसार शुंग भारद्वाज ब्राह्मण थे। शुंग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र का साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र, अयोध्या तथा विदिशा उसके राज्य के प्रधान नगर थे[2]। उसकी राजधानी भी पाटलिपुत्र ही थी। पुष्यमित्र को कई युद्ध करने पड़े। उत्तरी दक्कन में दक्षिणी पड़ोसियों के साथ, पश्चिमोत्तर में यवन आक्रमणकारियों के साथ तथा दक्षिणपूर्व में उन्हें कलिंग के साथ संघर्ष करना पड़ा। अन्तिम शुंगवंशी राजा देवभूति अपने मन्त्री वासुदेव द्वारा मार डाला गया और देवभूति के साथ ही शुंगवंश के अवशेष समाप्त हो गए।

लगभग ७५ ई० पू० में[3] वासुदेव ने नवीन राजवंश की नींव डाली जो कण्व वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वासुदेव के अतिरिक्त इस वंश में तीन राजा और हुए। भूमिमित्र, नारायण तथा सुशर्मन्। कण्ववंशी राजाओं का शासन काल ७५ ई० पू० से ३० ई०पू०

---

१ अष्टाध्यायी ४. १. ११७।

२ रायचौधरी, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० ३२६।

३ आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, द एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ११।

तक माना गया है[1]। कण्वों के अन्तर्गत भी मगध की शक्ति धीरे-धीरे घटती चली गयी।

ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ पहले ही सम्भवत: मगध तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों में मित्र वंश की सत्ता के विराजमान होने के प्रमाण मिलने लगते हैं[2]। इस मित्र वंश का कण्वों तथा शुंगों से क्या सम्बन्ध था, यह निश्चित नहीं है। कालान्तर में पाटलिपुत्र तथा मथुरा के क्षेत्र में सीथियन तथा शाक्य राजाओं का प्रभुत्व दृष्टिगोचर होने लगता है[3]।

लगभग इसी समय विन्ध्य क्षेत्र के पार दो नवीन राजवंशों का उदय होता है[4]। ये थे सातवाहन, जिन्हें आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य भी कहा जाता है। इनका राज्य दक्षिणापथ में स्थित था। दूसरी शक्ति थी कलिंग का चेति या चेदि राज्य। सातवाहनों में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने तथा चेति राज्य के शासकों में खारवेल ने विशेष ख्याति

---

१ आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, द एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० १०० ।

२ रायचौधरी, प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, पृ० ३५२-३५३ ।

३ वही ।

४ वही ।

अर्जित की । हाथीगुम्फा प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जब पश्चिम में शातकर्णि शासन कर रहा था तब खारवेल ने उत्तर की ओर बढ़ कर राजगृह के राजा को परास्त कर दिया था[1] ।

जिस समय सातवाहन तथा चेत राजवंशों के आक्रमण से मगध का राज्य विघटित हो रहा था उसी समय उत्तर-पश्चिम भारत में इण्डो-ग्रीक शासन की प्रभुता भी क्षीण हो रही थी । इण्डो-ग्रीक राजाओं में सर्वाधिक प्रसिद्धि मेनाण्डर को मिली इसका कारण सम्भवतः उसका बौद्ध मतावलम्बन था । उसका शासनकाल ११५ से ६० ई० पू० तक निर्धारित किया गया है[2]।

विदेशी आक्रमणों का सिलसिला इण्डो-ग्रीक राजाओं के साथ ही समाप्त नहीं हुआ । उसके बाद भी विदेशी आक्रमणों का दौर चलता रहा । बहुत शीघ्र ही शक तथा पह्लवों के आक्रमणों ने भारतीय जनता को झकझोर दिया ।

---

१ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, वाल्यूम १, पृ० २०६-२११ ।

२ डी० सी० सरकार, 'द यवनज', द एज आव इम्पीरियल यूनिटी, सम्पादक, आर० सी० मजूमदार, पृ० ११२ ।

शक-शासन की प्रमुख विशेषता उनकी क्षत्रप प्रणाली है जो बहुत कुछ ईरान की एकेमेनिड शासन प्रणाली से साम्य रखती है[1]। इसके अन्तर्गत पूरा राज्य प्रान्तों में विभक्त कर दिया जाता था और प्रत्येक प्रान्त का एक राज्यपाल होता था जिसे महाक्षत्रप कहते थे। इन क्षत्रपों के नाम से मिलने वाले शिलालेख तथा सिक्के इनकी अपेक्षाकृत स्वतन्त्र स्थिति का आभास देते हैं।

शीघ्र ही कुषाणों ने शकों को पीछे हटने के लिए बाध्य किया और वे पश्चिमी भारत में कच्छ, काठियावाड़ तथा मालवा के प्रदेश तक सीमित रह गये। यद्यपि यहां इनका अस्तित्व कुछ बाद की शताब्दियों में भी बना रहा परन्तु रुद्रदामन के नेतृत्व में हुए शकों के उत्थान के अतिरिक्त अन्य किसी महत्वपूर्ण उपलब्धि का वृत्तान्त नहीं मिलता है। कुषाणों में कनिष्क महानतम राजा के रूप में प्रख्यात हुआ। इसका राज्यारोहण ७८ से १४४ ई० के मध्य किसी समय बताया जाता है। उसका राज्य मध्यदेश, उत्तरापथ तथा अपरान्त तक विस्तृत था[2]।

---

१ आर० एस० शर्मा, *ऐस्पेक्ट्स आफ पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया*, पृ० २६५ ।

२ आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित, *द एज आफ इम्पीरियल यूनिटी*, पृ० १४१ ।

ये राजनीतिक घटनायें बहुत कुछ भ्रमोत्पादक हैं। किन्तु इस राजनीतिक उथल-पुथल के बावजूद आर्थिक प्रगति इस काल में देखने को मिलती है।

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य कुछ महत्वपूर्ण आर्थिक विकास हुए। इस युग में लोहे के नवीन उपकरण प्राप्त होने लगते हैं जो अपनी तकनीकी विशेषता के कारण कृषि एवं भूमि-व्यवस्था के विकास में अपेक्षाकृत अधिक सहायक सिद्ध हुए। उपकरणों में लोहे का अधिकाधिक प्रयोग तथा तकनीकी दृष्टि से पहले की अपेक्षा सुधार दिखाई देने लगता है। साथ ही इन उपकरणों में कृषि के उपकरण अपेक्षाकृत अधिक हैं। तकनीकी दृष्टि से महत्वपूर्ण विभिन्न प्रकार के हंसिये कौशाम्बी, हस्तिनापुर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं[1]।

लोहे के अधिक विकसित उपकरणों के माध्यम से कृषि के निमित्त पहले की अपेक्षा अधिक जंगलों को साफ कर कृषि योग्य बनाया गया होगा। भूमि को साफ कर कृषियोग्य बनाने का कार्य अब राज्य द्वारा सम्पादित न होकर स्वयं व्यक्तियों के द्वारा किया जाने लगा था, इसके संकेत उपलब्ध हैं। मिलिन्दपन्ह में इस बात का उल्लेख मिलता

---

१ बी० एन० एस० यादव, 'सम ऐस्पैक्ट्स आव द चेन्जिंग आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग द शक-कुषाण एज', कुषाण स्टडीज़, पृ० ८३ ।

है कि भूमि उसी की है जो उसे कृषि-योग्य बनाता है[1]। कुछ इसी प्रकार की बात मनु ने भी कही है[2]।

कृषि के विकास के साथ भूमि-व्यवस्था में भी परिवर्तन हुआ होगा जो इस काल के अन्त तक आते-आते स्पष्ट हो जाता है। पैतृक भूमि के बटवारे की व्यवस्था सर्वप्रथम बृहस्पति स्मृति में प्राप्त होती है[3]। नारद स्मृति में भी पैतृक भूमि के विभाजन का उल्लेख मिलता है[4]।

लोहे के उपकरणों से उद्योग के क्षेत्र में भी विकास हुआ होगा। पहले की अपेक्षा अधिक संख्या में मिलने वाले सिक्के विनिमय एवं व्यापार के क्षेत्र में विकास द्योतित करते हैं। प्रथम शताब्दी ईसवी से व्यापार में विशेष वृद्धि परिलक्षित होती है। समुद्री व्यापारियों के

---

१ मिलिन्दपन्ह ४. १४. २१६।

यथा वा पन महाराज कोचि पुरिसो वनं
सोधेत्वा भूमि नीहरति, तस्स सा
भूमीति जनो वोहरति, न चे सा
भूमि तेन पवत्तिता तं भूमिं कारणंकत्वा
भूमिसामको नाम होति।

२ मनु० ९. ४४। देखिये आगे, पृ० ७०।

३ बृ०, २६, १०, २८, ५३ तथा ६४।

४ नारद १३. ३८; बी०एन०एस० यादव, सोसायटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० १४०।

लिये साझेदारी के नियमों की विस्तृत व्याख्या याज्ञवल्क्य तथा नारद स्मृति में की गयी है[१]। सम्पूर्ण भारत में व्यापारिक मार्गों का जाल बिछ चुका था[२]। विदेशों के साथ व्यापारिक सम्पर्क में वृद्धि हो चुकी थी। विदेशों में भी रोम के साथ दक्षिण भारत के व्यापारिक सम्बन्धों की विशेष वृद्धि हुई। प्रारम्भ में यह व्यापार मुख्यत: स्थलमार्गों द्वारा होता था परन्तु प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रारम्भ होने वाले शक, पह्लव तथा कुषाणों के आगमन ने इसका अन्त सा कर दिया तथा प्रथम शताब्दी ईस्वी से व्यापार मुख्य रूप से समुद्री मार्गों से होने लगा[३]। ईस्वी ४६-४७ के लगभग हिप्पेलस द्वारा की गयी मानसून की खोज ने समुद्री व्यापार की प्रगति में सहयोग प्रदान किया[४]। रोम तथा भारत से होने वाला व्यापार

---

१ याज्ञ० २. २६० ; २. २६४ ; २.२६५ ;
नारद० ६. १ ; ६. ५ ; ६. ६ ; ६. ७, १७ तथा १८ ;
के० पी० जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २१ ।

२ बलराम श्रीवास्तव, ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया, अध्याय ४ तथा ५ ।

३ आर० एस० शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी, पृ० ७६ ।

४ आर० एस० शर्मा, लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी, पृ० ७६-७७ ; द्विजेन्द्र नारायण झा, ऐंश्येण्ट इण्डिया, एन इण्ट्रोडक्टरी आउट लाइन, पृ० ८१ ।

दैनिक जीवन के लिए आवश्यक सामग्रियों से सम्बन्धित न होकर विलास की सामग्री से सम्बन्धित था[1]। रोम के व्यापारी मसाले, मलमल तथा मोती, पन्ना आदि बहुमूल्य पत्थर भारत से ले जाते थे। अरिकामेडु से रोम के बाउन अम्फोरा तथा रेड ग्लेज्ड वेयर काफी संख्या में मिले हैं जिससे ज्ञात होता है कि रोम से भारत में बर्तन आयात किये जाते थे। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण भारत में रोम के सिक्कों के कोषों की उपलब्धि है जो व्यापारिक सन्दर्भ में ही भारत लाये गये होंगे। प्रथम शताब्दी ईसवी के रोमन सिक्कों के ६८ कोष प्रायद्वीप तथा ५७ से कुछ अधिक कोष विन्ध्य के दक्षिण से प्राप्त हुए हैं[2]।

कुषाण राजाओं ने सोने के सिक्के चला कर व्यापारिक विकास को एक नवीन आयाम दिया। पर ये सोने के सिक्के सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही प्रयुक्त किये जाते होंगे क्योंकि कुषाण राजाओं द्वारा निर्मित तांबे के सिक्के भी प्राप्त होते हैं।

---

१ ई० एच० वार्मिंग्टन, कामर्स बिटवीन द रोमन इम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ० ३०० ।

२ व्हीलर, रोम बियाण्ड द इम्पीरियल फ्रान्टियर्स, पृ० १४५ ।

कुषाण व्यापारियों ने चीन, रोम[1], सिन्धु, सौवीर[2], कपिशा, गान्धार, पुष्कलावती, मथुरा तथा वाराणसी के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये [3] विदिशा, उज्जयिनी, शूर्पारक, प्रभास, दशपुर तथा नासिक[4] के व्यापारिक केन्द्र पश्चिमी क्षत्रपों के अन्तर्गत थे ।

शिल्पकारों ([illegible]) की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी । महावस्तु[5] में केवल राजगृह में निवसित ३६ प्रकार के शिल्पकारों का उल्लेख मिलता है । मिलिन्दपन्ह[6] में इससे भी बड़ी सूची प्राप्त होती है जिसमें ७५ प्रकार के पेशे परिगणित हैं । इनमें से अधिकांश का सम्बन्ध शिल्पकारों से था । इससे ज्ञात होता है कि इस काल में नवीन हस्तकारियों ([illegible]) की संख्या भी बढ़ गयी थी । दीघनिकाय[7] में दो वर्ग व्यापारों ([illegible]) का उल्लेख है, और इसके

---

१ रायचौधरी, पालिटिकल हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ४६२ ।

२ वही, पृ० ४६७ ।

३ वही, पृ० ४७३-७६ ।

४ एपीग्रैफिका इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ७८-७९ ।

५ महावस्तु ३, ४४२-३ ।

६ मिलिन्द० पृ० ३३१ ।

७ दीघ० नि०, २, ५० ।

विपरीत मिलिन्दपन्ह[1] में पांच दर्जन व्यवसायों का विवरण प्राप्त होता है ।

भारतीय जीवन समृद्ध और विकसित हो गया था जिसकी पृष्ठभूमि में उत्पादन को नियोजित करने के कारण शिल्पकारों एवं व्यापारियों की श्रेणियां पहले की अपेक्षा विशेष महत्वपूर्ण हो उठीं । ये श्रेणियां बैंकों का काम भी करती थीं । नासिक से प्राप्त अभिलेख में (१२० ई०) जुलाहों की दो श्रेणियों में रुपया जमा किये जाने का विवरण प्राप्त होता है । एक में ब्याज की दर १ प्रतिशत प्रतिमास तथा दूसरी में ब्याज की दर ३।४ प्रतिशत प्रतिमास बतायी गयी है ।[2] श्रेणियों की सुदृढ़ स्थिति का आभास इसी से लगाया जा सकता है कि जनता धर्मदाय के रूप में अपना धन उन्हें पूर्ण विश्वास के साथ सौंप दिया करती थी । नासिक से ही प्राप्त एक दूसरे अभिलेख में गोवर्धन की श्रेणियों में जमा किये गए धर्मदाय का उल्लेख मिलता है । कुलरिक[3] (सम्भवत: कुम्हार), ओदयंत्रिक, तैलिक, कोणाचिक,[4]

---

१ मिलिन्द, पृ० ३३१ ।

२ लूडर्स लिस्ट, संख्या ११३३ ।

३ एपीग्रैफिका इण्डिका, वाल्यूम ८, पृ० ८८ ।

४ एपीग्रैफिका इण्डिका, वाल्यूम १०, परिशिष्ट, पृ० १३२ ।

बांस का तथा पीतल का काम करने वाले[1] तथा अनाज के व्यापारियों की श्रेणि में इस प्रकार के धर्मदाय जमा किये गये । इन औद्योगिक तथा व्यापारिक श्रेणियों में धर्मदाय विभिन्न प्रयोजनों से किये जाते थे जैसे --बीमार भिक्षुओं के लिए दवा का प्रबन्ध करना, कुआं खनाना आदि ।

प्रथम शताब्दी ईस्वी में श्रेणियां पुरों एवं जनपदों का एक आवश्यक अंग बन चुकी थी और उनके नियमों का रक्षण करना राजा का कर्तव्य बताया गया है[3]। इनके साथ किये गये करार (संविद, समय) को तोड़ने वाला व्यक्ति राज्य द्वारा निष्कासित कर दिया जाय, इसकी व्यवस्था मनु ने की[4]। याज्ञवल्क्य ने भी कुछ इसी प्रकार का नियम अपनी स्मृति में निर्धारित किया है[5]। श्रेणि अथवा अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति का हरण करने वाला अथवा उनके साथ हुए इकरारनामे को तोड़ने वाला सम्पत्तिहीन करके देश से निकाल दिया जाय, यह नियम

---

१ लूडर्स लिस्ट, संख्या ११६५ ।

२ वही, संख्या ११८० ।

३ याज्ञ० २, १९२ ; नारद० १३,२

४ मनु० ८, २१९ ।

५ याज्ञ० २, १८६ ।

बनाया गया था । बृहस्पति ने भी इस प्रकार के इकरारनामों को श्रेणि के हितों की रक्षा के लिए तथा उनके धर्म के उचित रूप से पालन के लिये आवश्यक समझा । इस प्रकार निर्धारित किये गए नियम इस ओर संकेत करते हैं कि श्रेणि के हितों की संरक्षा के लिये राजा किस प्रकार सचेष्ट था ।

श्रेणि अपने लिये स्वयं नियमों का निर्धारण करती थीं । राजा को इसके लिये भी आगाह किया गया है कि वह जाति, जनपद तथा कुल धर्म के समान ही श्रेणि-धर्म को भी भलीभांति समझ कर [illegible] धर्म का निर्धारण करे अर्थात् निर्णय ले । श्रेणियों से राजा यथाशक्ति उनके इकरारनामे (समय) का पालन करवाये इसका आग्रह भी बार-बार मिलता है[3] । अपने सदस्यों के मध्य हुए झगड़ों की निर्णायक वे स्वयं थीं और राजा अधिकतर उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य होता था[4] । श्रेणियों के सदस्यों द्वारा श्रेणिहित के लिए अर्जित सम्पत्ति पर श्रेणि का अधिकार था । यह सम्पत्ति यदि कोई सदस्य स्वयं श्रेणि

---

१ बृह० १७,५ ; से० बु० ई०, वाल्यूम ३३, पृ० ३४७ ; आर० सी० मजूमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० ४७ ।

२- मनु० ८, ४१ ।

३ याज्ञ० २, १९२ ; नारद १०, २ ; से० बु० ई० वाल्यूम ३३, पृ० १५३ ।

४ बृह० ७, १८ ; से० बु० ई०, वाल्यूम ३३, पृ० ३४६ ।

को अर्पित नहीं करता था तो उस पर अर्पित सम्पत्ति का ग्यारह गुना जुर्माना किया जाता था[1]।

याज्ञवल्क्य, नारद तथा बृहस्पति ने श्रेणि-सम्बन्धी नियमों की तथा श्रेणि-संविधान की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी ईसवी के बाद की दो-तीन शताब्दियों में श्रेणियां पूर्ण रूप से संगठित होकर जनजीवन का आवश्यक अंग मान ली गई थी। श्रेणि की सदस्यता प्राप्त करने के लिये भी कुछ नियम थे (कोष, लेखक्रिया तथा मध्यस्थ)[2]। जिस समिति द्वारा श्रेणियां अपने विभिन्न

---

१ याज्ञ० २, १८८-१९० ।

२ याज्ञ० २, १९२-९३ ; नारद० १, ३२६-३१ ; बृ० १७, ७ ।

कोष वह परीक्षा थी जिसमें श्रेणि की सदस्यता प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति को तीन घूंट वह पानी पीना पड़ता था जिसमें उसके इष्टदेव की प्रतिमा को स्नान कराया जाता था। इसके एक सप्ताह बाद भी यदि उस व्यक्ति का कोई अनिष्ट नहीं होता था तो वह श्रेणि का सदस्य मान लिया जाता था। लेखक्रिया उस इकरारनामे की द्योतक है जिसमें उन नियमों का ब्योरा रहता था जिनका पालन सदस्य को करना होता था। मध्यस्थ सम्भवतः वह व्यक्ति होता था जो सदस्यता ग्रहण करने वाले का उत्तरदायित्व ग्रहण करता था।

कार्य सम्पादित करती थीं उसमें दो, तीन अथवा पांच सदस्य (कार्यचिन्तका:) होते थे । एक प्रधान अधिकारी होता था । इन सदस्यों की सर्वतोमुखी योग्यता आवश्यक थी[1]। समय-समय पर सार्वजनिक कार्यों के लिये सदस्यों के एकत्रित होने के लिये कार्यालय भी होता था[2]। इन कार्यालयों में सदस्यों की उपस्थिति के नियम भी निर्धारित थे[3]। जिस किसी के द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जाता था वह सभी सदस्यों के मध्य विभाजित कर दिया जाता था[4]। उपर्युक्त उद्धरण श्रेणि-संविधान के गणतन्त्रवादी होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

बदली हुई राजनीतिक आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ा । विदेशी शासकों के राज्यकाल में रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था को गहरा धक्का लगा और उसकी आधारशिला हिल गयी[5]। राजनीतिक सत्ताधारी विदेशियों को 'वृषल' अथवा म्लेच्छ

---

१ याज्ञ० २. १९१ ; बृ० १७. ९-१० ।

२ बृ० १७. ११ ।

३ नारद १०. ३ ।

४ बृ० २७. २३ ।

ततोऽर्थेन यत्किंचित् सर्वेषामेव तत्समम् ।
षाण्मासिकं मासिकं वा विभक्तव्यं यथांशत: ।।

५ बी० एन० एस० यादव, 'सम ऐस्पेक्ट्स आव द चेन्जिंग सोशल आर्डर, इन इण्डिया ड्यूरिंग द शक-कुषाण एज ; कुषाण स्टडीज़, पृ० ७५।

कह कर उनके साथ हीन व्यवहार करना अब ब्राह्मण व्यवस्थाकारों के लिए सम्भव न था । फलस्वरूप रूढ़िवादी ब्राह्मण-व्यवस्था को भी इनके साथ सामंजस्य बिठाना पड़ा और वे जातियों के रूप में स्वीकृत हुए[1]। सैद्धान्तिक रूप से अभी भी चार वर्णों का अनुक्रम और उनकी व्याख्या निर्धारित की गयी थी परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से अनेक विपर्यय उत्पन्न हो गए थे ।

कुछ ब्राह्मण हीन व्यवसायों द्वारा जीवनयापन करने लगे थे फलस्वरूप, उनका सामाजिक स्तर निम्न होने लगा था । अपराध करने पर अन्य वर्ग के व्यक्तियों के समान ब्राह्मण भी दण्ड के पात्र थे[2]। शूद्रों की स्थिति पहले से कुछ अच्छी हो गयी थी[3]। वे अब

---

१ मनु० १०, ४३-४४ ।

२ के० पी० जायसवाल ने अपनी पुस्तक 'मनु एण्ड याज्ञवल्क्य' में कहा है कि याज्ञवल्क्य के समय में ब्राह्मणों के विशेष अधिकार पहले की अपेक्षा कम हो गये थे । परन्तु यहां हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणों के राज्यनिर्वासन तथा शरीर दागने का दण्ड, जिसकी ओर जायसवाल महोदय का संकेत है, अपराध विशेष के सन्दर्भ में निर्धारित किया गया है । ये दण्ड उसी ब्राह्मण के लिए निर्धारित किये गये जिसका अपराध सिद्ध हो जाता था, सभी ब्राह्मणों के लिए नहीं । साथ ही स्वयं याज्ञवल्क्य स्मृति में ही ऐसे कई वक्तव्य प्राप्त होते हैं जो ब्राह्मणों को मानवों में सर्वश्रेष्ठ तथा देवता के समान बताते हैं ।

३ आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, अध्याय ६ ।

वैश्यों के कार्य भी करने लगे थे[1]। इस काल के अन्त तक आते-आते शूद्रों की स्वाभाविक वृत्ति में वाणिज्यवृत्ति समाहित होने लगी थी[2]। वैश्य शूद्र के कार्य करने लगे थे, फलस्वरूप वैश्यों तथा शूद्रों के मध्य व्यवसाय सम्बन्धी अन्तर कम होने लगा था यद्यपि आनुष्ठानिक दृष्टि से वैश्य द्विज समझे जाते थे। वर्ण-व्यवस्था सम्बन्धी यह विपर्यय कलियुग वर्णन के सन्दर्भ में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'शूद्र धर्म का उपदेश देंगे, ब्राह्मण नीचे बैठकर उसे सुनेंगे'[3]; 'सम्पूर्ण लोक की क्रियायें उलट-पलट जायेंगी, नीचे वाले ऊपर तथा ऊपर वाले नीचे हो जायेंगे'[4]; 'शूद्र द्विजों की सेवा नहीं करेंगे'[5]; युगान्त होने पर केवल एक वर्ण रह जायगा[6], ब्राह्मण क्षत्रिय

---

१ याज्ञ० १, १२० ।

२ याज्ञ० १, १२० ; कू० संस्कार, श्लोक ५३० ।

३ शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ।।
—महाभारत, ३, १८८, ६३ ।

४ विपरीतश्च लोकोयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
- - - - - - - - - - - - - -
—महाभारत ३, १८८, ६४ क ।

५ महाभारत, ३, १८८, ६५ ।

६ महाभारत, ३, १८८, ४१ ।

वैश्य अपना-अपना धर्म छोड़कर दूसरे वर्णों के कर्म करने लगेंगे[1]। स्त्रियाँ के समान आचार-विचार, रहन-सहन अपना लेंगे[2], आदि वाक्यों में रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था के डगमगा जाने के संकेत उपलब्ध हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भागवत धर्मानुयायी हेलियोडोरस तथा बौद्धधर्मावलंबी मेनाण्डर विदेशी होने के कारण म्लेच्छ अथवा शूद्र समझे जाते होंगे इसमें सन्देह है। मिलिन्दपञ्हो में मेनाण्डर को स्पष्ट रूप से क्षत्रिय कहा गया है[3]।

युग बदला, परिस्थितियाँ बदलीं, राजनीतिक उतार-चढ़ावों तथा आर्थिक प्रगति के साथ सामाजिक व्यवस्था डगमगायी तो धर्मों को भी समय की गति के साथ नया बाना धारण करना पड़ा। धर्म के अधिकाधिक प्रचार के लिये उनमें नवीन संशोधन अनिवार्य प्रतीत होने लगे। प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व तथा द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य बौद्ध धर्म की नवीन शाखा `महायान` का

---

१ महाभारत, ३, १८६, ३१, ३७ ।

२ मत्स्यपुराण, २७२, ४६-७ ।

वायुपुराण, ५८, ३८-४६ ।

ब्रह्माण्ड पुराण, ३१, ३६-४६ ।

३ सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, ३५, पृ० २०६ ; सिबेश भट्टाचार्य, `सोशल मोबिलिटी इन ऐंश्येन्ट एण्ड अर्ली मिडीवल इण्डिया- एन एस्से', डी० डी० कोसम्बी कम्मेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १०८ ।

उद्भव और विकास सम्भव हुआ[1]। इसी समय में महायान से सम्बन्धित प्रज्ञा-पारमिता सूत्र-ग्रन्थ लिखे गये। हीनयान शाखा के अनुयायी बुद्ध की मूल शिक्षाओं से ही चिपके रहे परन्तु महायानियों ने नवीन सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से बौद्ध धर्म को नूतन कलेवर प्रदान किया। हीनयान बौद्धों का गढ़ श्री लंका, बर्मा तथा दक्षिण-पूर्व एशियायी देशों में स्थापित हुआ और महायान बौद्धों ने भारत, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा जापान में प्रधानता प्राप्त की। ईसा की प्रथम शताब्दी तक महायानियों ने बुद्ध की मूर्ति को पाषाण में उत्कीर्ण करा कर ईश्वर रूप में पूजना प्रारम्भ कर दिया था।

लगभग इन्हीं शताब्दियों में जैन सम्प्रदाय भी दो शाखाओं में विभाजित हो गया। 'दिगम्बर' जैन अपने सिद्धान्तों में रूढ़िवादी ही बने रहे, जबकि 'श्वेताम्बर' जैनों ने अपने सिद्धान्तों में उदारतापूर्वक संशोधन स्वीकार किये।

धार्मिक विकास के क्षेत्र में वैष्णव तथा शैव धर्म का विकास उल्लेखनीय है। वासुदेव कृष्ण को केन्द्र में रख कर पांचरात्र या भागवत धर्म विकसित हुआ। बेसनगर से प्राप्त अभिलेख में हेलियोडोरस ने स्वयं को वासुदेव के सम्मान में गरुडध्वज स्थापित करने वाला भागवत बताया है[2]। इस अभिलेख की तिथि द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के लगभग

---

१ एडवर्ड कॅन्जे, बुद्धिज़्म, पृ० १२३।

२ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ६०।

निर्धारित की गयी है। इससे ज्ञात होता है कि द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व तक वासुदेव देवाधिदेव के रूप में पूजे जाने लगे थे तथा उनके उपासक भागवत कहे जाते थे। नानाघाट से प्राप्त गुफा लेख, जिसकी तिथि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के आस-पास निर्धारित की गयी है, में वासुदेव तथा संकर्षण के नाम द्वन्द्व समास में प्राप्त होते हैं[1]। राजपूताना के घोसुण्डी में पाये गये एक खण्डित अभिलेख में संकर्षण तथा वासुदेव के उपासनामण्डप के चारों ओर भित्ति-निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है[2]। इस अभिलेख की तिथि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में रखी गयी है। उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि ईसा-पूर्व द्वितीय तथा प्रथम शताब्दी में पांचरात्र या भागवत मत विकसित हो चुका था। इस मत का सर्वोत्तम प्रतिपादन भगवद्गीता में हुआ है, जो महाभारत में जोड़ी गयी। भगवद्गीता की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है परन्तु इसे साधारण रूप से प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के आस-पास का माना जाता है[3]। महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय खण्ड में वासुदेव का तादात्म्य नारायण से

---

१ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १८६।

२ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० ९१।

३ डी० सी० सरकार, 'वैष्णविज्म', द एज आव इम्पीरियल यूनिटी, सम्पादक, आर० सी० मजूमदार, पृ० ४४०।

साथ किया गया है[1]। महाभारत के भीष्म-पर्व के ६५ तथा ६६ अध्याय में भी परमात्मा को नारायण एवं विष्णु कहा गया है तथा वासुदेव से उनका एकत्व प्रतिपादित किया गया[2]। भागवत मत के आधार-ग्रन्थ पांचरात्र संहितायें हैं।

मथुरा के निकट मोरा से प्राप्त एक अभिलेख, जिसकी तिथि प्रथम शताब्दी ईस्वी के आसपास निर्धारित की गयी है, में पांच वृष्णि वीरों की उपासना का उल्लेख प्राप्त होता है[3]। वायु-पुराण में इनके नाम संकर्षण, प्रद्युम्न, वासुदेव, साम्ब तथा अनिरुद्ध बताये गए हैं। इनमें से चार नाम--संकर्षण, प्रद्युम्न, वासुदेव तथा अनिरुद्ध भागवत मत के चतुर्व्यूह सिद्धान्त से सम्बन्धित हैं। यह व्यूह भागवत सम्प्रदाय का एक वैशिष्ट्य है, जिसका उल्लेख भगवद्गीता में प्राप्त नहीं होता है। व्यूह सिद्धान्त में जीव को संकर्षण से, अहंकार को अनिरुद्ध से तथा मन को प्रद्युम्न से अभिन्न मानते हुए परमेश्वर की तीन प्रकृतियों को संकर्षण, प्रद्युम्न, एवं अनिरुद्ध का व्यक्तित्व प्रदान किया गया।

---

१ आर० जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत, अनु० महेश्वरी प्रसाद, पृ० २७।

२ वही, पृ० २६।

३ लूडर्स लिस्ट नम्बर १४।

वासुदेव कृष्ण की कथायें ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के कुछ पहले ही प्रचलित हो चली थीं तथा लगभग इसी समय के आसपास आभीर देवता की पूजा भी वासुदेव कृष्ण में निमज्जित हो गयी प्रतीत होती है[1]। वैष्णव धर्म ने विदेशियों के आर्यीकरण में भी योगदान किया। भागवत पुराण में किरात, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि पापकिष्ट जनों के विष्णुपूजा से पवित्र हो जाने की बात कही गयी है[2]। इस प्रकार वैष्णव धर्म की लोकप्रियता धार्मिक-सामाजिक विकास का नवीन चरण है।

शैव धर्म के अन्तर्गत शैव भागवतों में एक नवीन मत पाशुपत का उदय होता है। पतंजलि के अनुसार शिव-भागवत अपने उपास्य के आयुध शूल को लिए रहते थे[3]। महाभारत के नारायणीय खण्ड पर्व में उल्लिखित धार्मिक मतों में पाशुपत भी एक है। जो स्थान वैष्णव धर्म में पांचरात्र का है वही स्थान शैव धर्म में पाशुपत का। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से कुछ पहले तथा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों

---

१ सुवीरा जायसवाल, द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आव वैष्णविज़्म, पृ० ७६ तथा ८३।

२ सुवीरा जायसवाल, वही, पृ० १५५।

३ अष्टाध्यायी, ५. २. ७६ पर भाष्य। द्रष्टव्य, बी० एन० पुरी, इण्डिया इन द टाइम्स आव पतन्जलि, पृ० १८८।

उपजन्य

में शिव पूजा गन्धार, पंजाब, तथा उत्तर-भारत के/भागों में प्रचलित हो चुकी थी[1]। चतुर्थ शताब्दी ईसवी से पहले निर्धारित महामायूरी नामक ग्रन्थ में उत्तर-भारत के कई स्थानों का उल्लेख है जहां शिव-प्रधान रूप से पूजे जाते हैं थे । पन्जतर अभिलेख (५४ ई०) उत्तर-पश्चिम भारत में महावन के नीचे एक शिव स्थल का उल्लेख करता है[2]। तक्षशिला के सिरकप टीले से प्राप्त एक मुद्रा, जो प्रथम शताब्दी ईसा-पूर्व की है, पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी गाथा के साथ शिवाकृति उत्कीर्ण है[3]। विदेशियों ने भी शैव धर्म को मान्यता प्रदान की । गोण्डोफर्नीज़ तथा विम कडफ़िसेज़ की मुद्राओं से शिव की लोकप्रियता का आभास मिलता है । ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों के आस-पास ही लिंगपूजा भी शिवपूजा में समाहित हो गयी[4]। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में शाक्त तथा सौर सम्प्रदाय भी अस्तित्व में आ चुके थे किन्तु इनका पूर्ण विकास आगे आने वाले काल में हुआ ।

---

१ ए काम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० ४०९ ।

२ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १२६ ।

३ ए काम्प्रीहेन्सिव हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० ४०९ ।

४ डी० एन० झा, ऐंश्येण्ट इण्डिया, ऐन इण्ट्रोडक्टरी आउटलाइन, पृ० ६० ।

सामाजिक स्तरीकरण का रूप

आनुष्ठानिक दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण के उसी रूप का परिचय हमें इस काल में भी मिलता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में वर्णों का अनुक्रम अलग-अलग जीवनविधियों एवं धार्मिक अनुष्ठानों में पूर्ववर्ती काल की ही भांति दिखायी पड़ता है। विद्या के आधार पर ब्राह्मण, बल के आधार पर क्षत्रिय, धन के आधार पर वैश्य तथा जन्म के आधार पर शूद्र की श्रेष्ठता के निर्धारण की बात मनु ने कही है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में कुछ बाह्य तथा कुछ आन्तरिक कारणों से वर्णों को जन्म पर आधारित मानने का आग्रह पहले की अपेक्षा कम होने लगा था किन्तु वह पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। सामाजिक स्थिति के निर्धारण में अब सम्पत्ति का महत्व बढ़ने लगा था[2]। समृद्ध बनने की महत्वाकांक्षा ने तथा विपन्नता के कारण अपने वर्ण के लिए निर्धारित कार्य द्वारा जीवनयापन में अक्षमता ने कुछ लोगों को अन्य व्यवसाय तथा कार्य अपनाने के लिए बाध्य किया होगा जिससे

---

१ विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥
मनु० २, १५५ ।

२ *विष्णुपुराण* ४, २४, २१ ; *युग पुराण* ३, १३ ।

कुछ मिश्रित वर्ण भी उत्पन्न होने लगे होंगे, जिसका संकेत अंगविज्जा नामक कुषाणकालीन ग्रन्थ में प्राप्त होता है[1]। मनु द्वारा वर्ण-धर्म की रक्षा के लिए दण्ड पर दिया गया विशेष बल भी इसी ओर इंगित करता है[2]।

इस काल में सिक्कों के प्रचलन तथा व्यापारिक विकास के कारण सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारक तत्त्व के रूप में सम्पत्ति का महत्त्व विशेष रूप से बढ़ने लगा था । यह बात सद्धर्मपुण्डरीक की एक कथा से ज्ञात होती है जिसमें एक धनी व्यक्ति की सेवा में सभी वर्णों के लोग नियुक्त दिखायी पड़ते हैं[3]।

---

१ अंगविज्जा में बम्भ-खत्त, खत्त-बंभ, बम्भ-वेस्स, वेस्स-बंभ, बंभ-सुद्द, सुद्द-बंभ, खत्त-वेस्स, वेस्स-खत्त, खत्त-सुद्द, सुद्द-खत्त, वेस्स-सुद्द, सुद्द-वेस्स, सुद्द-बंभ तथा बंभ-सुद्द का उल्लेख मिलता है । देखिये - अंगविज्जा, पृ० १०२ ।

२ मनु० ७, १७ ।

३ द सद्धर्मपुण्डरीक ४, १४, अनु० एच कर्न, द सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, वाल्यूम २१, पृ० ११० ।

सामाजिक स्तरीकरण के आनुष्ठानिक तथा आर्थिक आधार एक ही सन्दर्भ में सदैव एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते थे, इसीलिये वे कुछ अंश तक परस्परावलम्बी हो गए[1]।

ब्राह्मण

पूर्ववर्ती काल के समान इस काल के ग्रन्थों में भी ब्राह्मणों की आनुष्ठानिक स्थिति अन्य सभी वर्णों के ऊपर बतायी गयी। बौद्ध ग्रन्थों का दृष्टिकोण यद्यपि ब्राह्मणों के पक्ष में नहीं था, परन्तु जनसामान्य की दृष्टि में वे सम्मान और आदर के पात्र थे। महाभारत तथा मनु में ब्राह्मणों को हव्य तथा कव्य का एकमात्र अधिकारी[2], सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी[3], अभिजन होने के कारण धन ग्रहण करने का अधिकारी[4], क्रुद्ध होने पर (अपने तेज से) सेना तथा वाहन सहित राजा का भी सर्वनाश करने में सक्षम[5], देवताओं को भी अदेव (स्थानच्युत) करने में समर्थ[6], देवों का भी देव[7] तथा मानवों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है[8]। ब्राह्मणों

---

१ प्रस्तुत सुझाव के लिए मैं डा० बी० एन० एस० यादव की ऋणी हूं।

२ मनु० १, ९३ तथा ९४।

३ मनु० वही ; याज्ञ० २, ३५ (सर्वस्य प्रभुर्विप्रः)।

४ मनु० १, १००।

५ मनु० ९, ३१३ तथा ३१४।

६ मनु० ९, ३१५ ; महाभारत १३, १३६, १६।

७ मनु० ९, ३१७ ; महाभारत १३, १३६, १८, २०।

८ मनु० १, ९६, ९८।

का यह वैसी रूप मनुस्मृति के नवें अध्याय में विशेष रूप से समुन्नीलित हुआ है और नवें अध्याय के उक्त श्लोकों का काल कुछ विद्वानों ने याज्ञवल्क्य के बाद निर्धारित किया है[१]। ऐसी स्थिति में याज्ञवल्क्य तथा उनके बाद भी ब्राह्मणों का स्थान समाज में महत्वपूर्ण बना रहा, यह मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहां अन्य वर्णों के व्यक्तियों के समान ब्राह्मण भी अनुचित कार्य करने पर पाप अथवा दण्ड का भागी होता था। असत्य गवाही देने पर ब्राह्मण को राज्य से निकाल देने की[२], गवाही के सम्बन्ध में निश्चित ब्राह्मणों से सूचना प्राप्त करने की[३] व्यवस्था मनु ने निर्धारित की। इसके पहले धर्मसूत्रों के काल में ब्राह्मण धन-दण्ड

---

१ हापकिन्स, द म्यूचुअल रिलेशन्स आव फोर कास्ट्स एकार्डिंग टु द मानव धर्मशास्त्रम्, पृ० २२ से २३।

२ मनु० ८, १२३-१२४ ; इसके पहले धर्मसूत्रों में ब्राह्मणों का यह विशेषाधिकार था कि वे निष्कासन के दण्ड से मुक्त थे। केवल बौधायन ने अनैतिक ब्राह्मणों के लिए शरीरदण्ड तथा निष्कासन का नियम निर्धारित किया। बहुत सम्भव है कि यह श्लोक (१, १०,१८,१६) बाद में बौधायन धर्मसूत्र में संकलित किया गया हो क्योंकि यह विचार मनु तथा याज्ञवल्क्य के विचारों के साथ साम्य व्यक्त करता है।

३ मनु० ८, १०२।

तथा राज्य निष्कासन के दण्ड से मुक्त थे[१]। मनु ने ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र से कटु वचन कहने पर क्रमशः पचास, पचीस तथा बारह पण जुर्माना निर्धारित किया तथा अन्य वर्णों की भांति ही चोरी करने पर ब्राह्मण के लिये भी पापभागी होने की व्यवस्था निर्मित की[२]। मनु द्वारा निर्मित उपर्युक्त विधान नैतिकता की क्रमशः बलवती होती हुई अवधारणा की ओर संकेत करते हैं ।

ब्राह्मणों में परस्पर दो स्तर दिखाई देते हैं । एक ओर वे ब्राह्मण थे जो विद्वान, गुणी, सच्चरित्र तथा स्वधर्मपालन के प्रति एकनिष्ठ थे तथा दूसरी ओर वे ब्राह्मण थे जो अन्य व्यवसायों द्वारा जीवनयापन करने लगे थे। ये वे दूसरी कोटि के ब्राह्मण थे जिनके प्रति शूद्र का सा दृष्टिकोण रखने की बात मनु ने अपनी स्मृति में कही है । इनमें गोरक्षा के कार्य में संलग्न, व्यापार में संलग्न, बढ़ई, लोहार, सूप-डलिया आदि के निर्माण में संलग्न, नाचने-गाने वाले, चोर तथा अन्य निन्दित कार्यों में संलग्न ब्राह्मणों की गणना की गयी है[३]। कुछ ऐसे ब्राह्मण भी थे जिनका आनुष्ठानिक स्तर उपनयन आदि के विधिपूर्वक सम्पादन न करने से गिर जाता था । इन्हें व्रात्य कहा गया है ।

----

१ मनु० ८. २६८ ।

२ मनु० ८. ३३८ ।

३ मनु० ८. १०२ ।

व्रात्य ब्राह्मणों में मनु ने भूर्जकण्टकों का उल्लेख किया है। क्षेत्रभेद से इनके चार नाम मनुस्मृति में आये हैं -- आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध तथा शैख[1]।

आनुष्ठानिक दृष्टि से मनु के समान याज्ञवल्क्य[2] ने भी ब्राह्मणों को प्रथम स्थान प्रदान किया यद्यपि कानून के क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक रहा है। अपराध करने पर अन्य वर्ग के व्यक्तियों के समान ब्राह्मण भी दण्ड का पात्र था[3]। याज्ञवल्क्य स्मृति के साक्षिप्रकरण में भी ब्राह्मण के कूटसाक्षी होने पर तथा पहले साक्षी बनने की स्वीकृति देकर समय पर मुकर जाने की स्थिति में राज्य से निर्वासन तथा धन दण्ड की व्यवस्था मिलती है[4]। उपर्युक्त प्रकार के उल्लेख अधिक नहीं प्राप्त होते, अतः उनके आधार पर यह कहना कि ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों में विशेष कमी आ गयी थी[5], समीचीन

---

१ मनु० १०. २१।

२ याज्ञ० १, १९८ ; १, १९९।

३ चोरी करने पर ब्राह्मण के ललाट पर चिह्न बनाकर उसे राज्य से निर्वासित करने का विधान याज्ञवल्क्य ने निश्चित किया है। द्रष्टव्य, याज्ञ० २, २७०।

४ याज्ञ० २, ८१-८२।

५ के० पी० जायसवाल, मनु एण्ड याज्ञवल्क्य इण्ट्रोडक्शन, पृ० २१।

प्रतीत नहीं होता । स्वयं याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में कहा है कि (क्षत्रिय आदि) वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, उनमें भी वेदादि का अध्ययन करने वाले उत्कृष्ट होते हैं, उनसे भी उक्त विहित क्रियाओं का अनुष्ठान करने वाले होते हैं और इन सबसे श्रेष्ठ अध्यात्मतत्व को पूर्णरूप से जानने वाले ब्राह्मण होते हैं।[1] राज्यनिर्वासन तथा दण्ड की जिस व्यवस्था का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है वह याज्ञवल्क्य ने उन्हीं ब्राह्मणों के लिए निर्मित की थी जो अपराधी हों । यह दृष्टिकोण अपराधों को प्रश्रय न देने के लिये व्यावहारिकता को दृष्टि में रख कर अपनाया गया होगा ।

क्षत्रिय

ब्रह्मा की बाहु से क्षत्रियों की उत्पत्ति की बात मनु ने भी दोहरायी[2]। क्षत्रियों के कर्म के विषय में भी पूर्व सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करते हुए कहा गया कि प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, तथा विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के कर्म हैं।[3] विषयों में अनासक्ति की बात याज्ञवल्क्य ने सभी के लिये कही[4]। यज्ञोपवीत युक्त सपिण्ड के मरने पर क्षत्रिय का शुद्धि-काल

---

१ याज्ञ० १, १९८ ।

२ मनु० १ , ३१ ।

३ मनु० १०, ७९ ।

४ याज्ञ० १, १२२ ।

बारह दिन बताया गया है[1]। क्षत्रिय शव के नगर से बाहर निकलने की दिशा उत्तर बताई गई है[2]। अशौच के बाद यज्ञ किया हुआ क्षत्रिय वाहन (रथ, हाथी, घोड़ा आदि) का स्पर्श कर शुद्ध होता था[3]। गवाही देते समय भी क्षत्रिय को वाहन तथा शस्त्र की शपथ लेनी पड़ती थी[4]। ब्राह्मणों के समान ही क्षत्रियवध के लिए भी प्रायश्चित का निरूपण किया गया है[5]। श्रेष्ठता के सन्दर्भ में क्षत्रियों की श्रेष्ठता बल से निर्धारित होती थी[6]। सूद लेने का निषेध क्षत्रिय के लिए भी किया गया है[7]।

विशेषाधिकृत वर्ग के रूप में अधिकांश स्थलों पर इन्हें ब्राह्मणों के साथ उल्लिखित किया गया है पर कुछ स्थलों पर ये वैश्य तथा शूद्र के साथ भी उल्लिखित हैं[8]। अपराधी क्षत्रिय प्राणदण्ड का भागी होता था[9]।

---

१ मनु० ५, ८३; याज्ञ० ३, २२।

२ मनु० ५, ९२ ।

३ मनु० ५, ९९ ।

४ मनु० ८, ११३ ।

५ मनु० ११, १२७ ; याज्ञ० ३, २६६-२६७ ।

६ मनु० २, १५५ ।

७ मनु० १०, ११७ ; याज्ञ० १, १३२ ।

८ मनु० ९ , २२९, २४२ ; महाभारत, अनुशासनपर्व १३६, २०-२२ ।

९ मनु० ९ , २४२ ।

वैश्य

ब्रह्मा के ऊरुओं से वैश्यों की उत्पत्ति की बात मनु ने पुन: दोहरायी[1] और आनुष्ठानिक आधार पर वैश्यों के समाज में तृतीय स्थान की पुष्टि की । इनके कर्मों में पशुपालन, यज्ञ करना, वेदाध्ययन, व्यापार, ब्याज तथा कृषि का परिगणन किया गया है[2]। राजा को विशेष रूप से यह आदेश दिया गया है कि वह वैश्यों को अपने कर्म में लगाये रहे[3]। मनु ने वैश्य के लिए यह आवश्यक समझा कि वह मणि, मुक्ता, प्रवाल, लोहा, वस्त्र, सुगन्धित वस्तुओं तथा (लवणादि) रसों का न्यूनाधिक भाव जानते रहें[4]। यह धर्म सम्भवत: व्यापारी-वर्ग को ध्यान में रख कर निर्धारित किया गया होगा । उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त वैश्य के लिये बीज बोने की रीति, खेत के गुण-दोष, मापने तथा तौल के साधन, विभिन्न वस्तुओं की उत्तमता-हीनता, देशों के गुण-दोष, बिक्री की वस्तुओं की लाभहानि, पशुओं की वृद्धि का उपाय, नौकरों की मजदूरी, भिन्न-भिन्न देशों के

---

१ मनु० १ . ३१।

२ मनु० १. ९० ; याज्ञ० १. ११९ ।

३ मनु० ८. ४१० तथा ४१८ ।

४ मनु० ९. ३२९ ।

लोगों की भाषा, सभी वस्तुओं के विक्रय के उपयोगी स्थान तथा क्रय-विक्रय के सभी विषयों का जानना आवश्यक था[1]।

अन्य वर्णों की भांति वैश्य भी अपराध करने पर दण्ड का भागी था। चोरी करने पर चोरी का सोलह गुना[2] धनदण्ड, ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करने पर एक वर्ष की कैद तथा सर्वस्वहरण का दण्ड,[3] ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को दुर्वचन कहने पर सौ सौ तथा पचीस पण दण्ड[4] होता था। वैश्य तथा शूद्र में आपसी कलह होने पर वैश्य को प्रथम साहस तथा शूद्र को मध्यम साहस का दण्ड होता था[5]।

द्विज होने के कारण संस्कार सम्बन्धी विशेष नियम वैश्य के लिए भी बनाये गये थे। वैश्यों के लिए उपनयन की आयु मनु ने आठ वर्ष निर्धारित की[6]।

---

१ मनु० ९, ३३०-३३३ ।

२ मनु० ८, ३३७ ।

३ मनु० ८, ३७५ ।

४ मनु० ८, ३७६ ।

५ मनु० ८, २६७ तथा ६८ ।

६ मनु० २, ३७ ।

विभिन्न शिल्पों, व्यापार और व्यवसाय के विकास का प्रभाव वैश्यों के सामाजिक स्तर पर विशेष रूप से पड़ा। उनके विभिन्न व्यावसायिक और व्यापारिक समुदायों का श्रेणियों के रूप में संघटन यद्यपि पूर्ववर्ती काल में ही प्रारम्भ हो चुका था परन्तु वह इतना विकसित नहीं हुआ था। श्रेणियों के विकसित स्वरूप का आभास उनकी बढ़ी हुई संख्या से प्राप्त होता है।

इस काल के अभिलेखों से सौदागरों की श्रेणियों में वृद्धि का आभास मिलता है। इनका उल्लेख लूडर्स लिस्ट संख्या २६६, २४०, ९८७, ९९४, ९९८, १०००, १००१, १०४४, १०६२, १०६५, १०६६, ११२७, ११२६, ११२४, १२४६, १२८९ में हुआ है। कुषाण काल में उन व्यापारियों की श्रेणियों का महत्व विशेष हो गया था जिनके नेता सार्थवाह होते थे। इसका कारण भारत से होकर चीन तथा रोम से होने वाले रेशम के व्यापार की वृद्धि थी[1]। मथुरा से प्राप्त कुषाण-कालीन मोहरें (   ) निगम का उल्लेख करती हैं, जो उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का द्योतक है[2]।

---

१ हरिपद चक्रवर्ती, ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २२२।

२ आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्टस, १९११-१२, नम्बर ५६-५८।

<u>शूद्र</u>

दूसरी शताब्दी ईसा-पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसवी का काल शूद्रों के उन्नयन का काल था[1]। यद्यपि मनु ने पूर्वकाल से चली आती हुई कुछ निर्योग्यताओं को शूद्रों के साथ सम्बन्धित किया है[2] परन्तु वे रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए किये गये मनु के प्रयासों का ही आभास अधिक देती हैं[3]। स्वयं मनुस्मृति में ही ऐसे प्रसंग दुर्लभ नहीं हैं जिनसे शूद्रों के पहले की अपेक्षा उत्कर्ष के संकेत प्राप्त होते हैं। अन्य ग्रन्थों में भी शूद्रों की ऊपर उठी हुई स्थिति का आभास देने वाले प्रसंग उपस्थित हैं।

पहले-पहले इस काल में यह व्यवस्था मिलती है कि द्विजशुश्रूषा से जीवननिर्वाह न होने पर शूद्र विविध शिल्पों द्वारा जीवनयापन कर सकता था[4]। याज्ञवल्क्य ने शूद्र के लिये आपत्ति काल में विविध शिल्पों द्वारा जीवनयापन

---

1 आर० एस० शर्मा, <u>शूद्राज इन ऐंशियेण्ट इण्डिया</u>, पृ० २१७।

2 <u>मनु०</u> २, २१ ; २, ३२ ; २, ३५ ; ३, १३ ; ८, ८८ ;, ८, ११३ ; ८, १४२ ; ८, २७०-७१ ; ८, २७२ ; ८, २७६ ; ८, २८१-२८२ ; ८, ३६६ ; ८, ३७८।

3 आर० एस० शर्मा, <u>शूद्राज इन ऐंशियेण्ट इण्डिया</u>, पृ० २१७।

4 <u>मनु०</u> १०, ९९ तथा १००।

की व्यवस्था निर्धारित की है[1]। बृहस्पति ने तो शूद्र के लिए विभिन्न वस्तुओं का विक्रय स्वधर्म बताया है[2]। बृहस्पति-स्मृति का संकलन यद्यपि तृतीय शताब्दी ईस्वी से पांचवीं शताब्दी ईस्वी के मध्य हुआ[3] परन्तु उसमें संकलित व्यवस्थाओं का व्यवहार कुछ पहले ही प्रचलित हो गया होगा क्योंकि किसी भी सामाजिक व्यवस्था के नियम बाद में बनते हैं पर उनका प्रचलन पहले ही प्रारम्भ हो जाता है[4]। व्यवसाय में शूद्र साझेदारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं[5]। फेरी लगाने वाले शूद्र सौदागरों का विवरण भी प्राप्त होता है[6]।

उद्योग एवं व्यापार के विकास तथा कृषि-कार्य में शूद्रों के नियोजन से शूद्रों की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ।

---

१ याज्ञ० १, १२० ।

२ 'विक्रयः सर्वपण्यानां शूद्रधर्म उदाहृतः' बृ०, संस्कार० श्लोक ५३० ;

३ पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, क्रोनोलोजिकल टेबुल ।

४ मार्क्स, द पावर्टी आव फिलासफी, पृ० ११८ ।

५ मार्क० पु० २८, ३-८ ; विष्णु० पु० ३, ८, ३२-३३ ; बृ० १३, १६ ; भविष्य पु० १, ४४, ३२ ।

६ याज्ञ० २, १६४ ; नारद० ६, २-३ ।

शूद्र आर्थिकों[1] के उल्लेख इस काल के ग्रन्थों में प्राप्त होने लगते हैं। उपज के आधे भाग के अधिकारी होने के कारण उनके लिए अर्थार्जन अब कोई बड़ी बात नहीं थी। धन संचय करने वाले शूद्रों के प्रति मनु का विरोधी दृष्टिकोण मनुस्मृति में दिखायी पड़ता है। दान देने में समर्थ शूद्र श्रेणियों के उल्लेख पुरातात्त्विक अवशेषों में उपलब्ध हैं। इनमें कर्मकार, गान्धिक, संरेख, मछली पकड़ने वाले आदि उल्लेखनीय हैं जो अभिलेखों में दान देने वालों के रूप में उल्लिखित हैं[3]। यह विकास उद्योग तथा व्यापार के विकास के कारण सम्भव हो सका। उद्योग तथा व्यापार के विकास के कारण ही वैश्य तथा शूद्रों के मध्य का अन्तर समाप्तप्राय होने लगा[4]। ऊपर इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि शूद्र के लिए वणिग्वृत्ति की व्यवस्था इस काल के ग्रन्थों में मिलने लगती है। साथ ही वैश्यों तथा शूद्रों के संयुक्त उल्लेख जितने अधिक इस काल में मिलने लगते हैं उतने पूर्ववर्ती काल में नहीं प्राप्त होते।

---

१ मनु० ४.२५३ ; याज्ञ० १. १६६ ; विष्णु ५७. १६ ; विस्तृत विवरण के लिए देखिये आगे, पृ० ।

२ मनु० ८. २७६-२८३ ।

३ लूडर्स लिस्ट नम्बर ३२, ५३-५४ ; ३४५ ; ८५७ ; १००५ ; १०६२, ११२६ ।

४ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १७७-१७८ ।

धर्मप्रवक्ता शूद्रों के उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि शूद्रों ने कुछ धार्मिक अधिकार भी प्राप्त कर लिये थे[1]। यदि शान्तिपर्व के इस कथन पर विश्वास किया जाय कि चारों वर्ण वेद सुन सकते हैं तो यह शूद्रों के लिए एक विशेष अधिकार था[2]।

पंक्तिदूषक ब्राह्मणों में शूद्र के शिष्य का उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि कुछ शूद्र शिक्षा देने में समर्थ रहे होंगे[3]। पहले-पहल इस बात का उल्लेख मिलता है कि ज्ञान शूद्र से भी ग्रहण किया जा सकता है[4]। उपर्युक्त उल्लेख शूद्रों की स्थिति में उत्कर्ष की ओर संकेत करते हैं।

मिश्रित जातियां

इस काल की मिश्रित जातियों में कुछ नवीन नाम भी मिलने लगते हैं जिससे मिश्रित जातियों की संख्या में वृद्धि का प्रमाण

---

१ मनु० ८, २१ ; ८, २७२ ।

२ महाभारत, १२, ३१४, ४५-४६ ।

३ मनु० ३, १५६ ।

४ मनु० २, २३८ ; महाभारत, १२, ३०६ ,८५ ।

मिलता है । नई मिश्रित जातियों में आवृत[१], आभीर[२], धिग्वण[३], पुक्कस[४] (सम्भवतः पुल्कस, जिसका उल्लेख धर्मसूत्रों में भी प्राप्त होता है), सैरन्ध्र[५], मैत्रेयक[६], मार्गव[७], कैवर्त[८], कारावर[९], मेद[१०], पाण्डुसोपाक[११],

---

१ मनु० १०, १५ ।

२ मनु० १०, १५ ।

३ मनु० १०, १५ ।

४ मनु० १०, १८ ; महाभारत, १३. ४८. २४ ।

५ मनु० १०, ३२ ; महाभारत, १३. ४८. १६ ।

६ मनु० १०, ३३ ।

७ मनु० १०, ३४ ।

८ मनु० १०, ३४ ।

९ मनु० १०, ३६ ; महाभारत १३. ४८. २६ ।

१० मनु० १०, ३६ ।

११ मनु० १०, ३७ ; महाभारत १३. ४८. २६ ।

आहिंडक[1], मैत्रेयक[2], मद्गुर[3], मद्रनाम[4], द्राढ़[5], बन्दी[6], माहिष्य[7], करण[8], मूर्धावसिक्त[9], मौद्गल्य[10] तथा दाशों[11] का नाम प्राप्त होता है । इनके

---

१ मनु० १०. ३७ ; महाभारत, १३. ४८. २७ ।

२ महाभारत १३ . ४८. २० ।

३ महाभारत १३ . ४८. २१ । मद्गुर का दूसरा नाम दास भी बताया गया है ।

४ महाभारत १३. ४८. २३ ।

५ महाभारत १३. ४८. २२ ।

६ महाभारत १३. ४८. १२ । बन्दी तथा मागध दोनों की ही उत्पत्ति वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री से बतायी गयी है ।

७ याज्ञ० १. ९५ ।

८ याज्ञ० १ .९५ ।

९ याज्ञ० १. ९१ ।

१० मनु० १०. ११; महाभारत १३. ४८. १० ।

११ मनु० १०. ८; याज्ञ० १. ९१ ।

अतिरिक्त पुरानी मिश्रित जातियां आयोगव, निषाद, चाण्डाल, वेण, मागध, उग्र, पारशव, अम्बष्ठ, सूत, कुक्कुट, अन्त्यावसायिन तथा श्वपाक आदि जातियों के नाम भी मिलते हैं ।

इस प्रकार पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य मिश्रित जातियों की संख्या लगभग दुगुनी हो गयी थी । इस काल में भी अनुलोम प्रतिलोम विवाहों के माध्यम से रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था के साथ इनका तालमेल बैठाने का प्रयास किया गया । जिस प्रकार व्याकरण में शब्दों का अस्तित्व पहले से रहता है और उनकी व्युत्पत्ति बाद में निर्धारित की जाती है उसी प्रकार इन मिश्रित जातियों की भी स्थिति थी[1]। ये समाज में पहले से विद्यमान थी और इनका मूल खोजने का प्रयास बाद में किया गया ।

उपर्युक्त उल्लिखित जातियों में से कुछ जातियां अस्पृश्य मानी जाने लगी थीं[2]। मनु ने निषाद, आयोगव, मेद, अन्ध्र, मद्गु, चाण्डाल, पुक्कुस, धिग्वण तथा वेण के कार्यों का विवरण देने के पश्चात् इस बात का उल्लेख किया है कि वे ग्राम से बाहर वृक्षों की छाया में, पर्वत पर अथवा श्मशान में रहते थे[3]।

---

१ एन० के० बोस, द स्ट्रक्चर आव हिन्दू सोसायटी, पृ० ६२ ।

२ आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २०६ ।

३ मनु० १०. ५० ; आर० एस० शर्मा, वही, पृ० २०६ ।

चण्डाल तथा श्वपाक निश्चित रूप से अस्पृश्य थे तथा ग्राम के बाहर निवास करते थे[1]। उनकी एकमात्र सम्पत्ति कुत्ते तथा गधे बताये गए हैं। मनु के अनुसार वे टूटे फूटे बर्तनों में भोजन करते थे, मुर्दे का कफ़न उनका वस्त्र होता था तथा वे लोहे के आभूषण पहन कर भ्रमण करते थे। पहचान के निमित्त उन्हें विशिष्ट चिह्न भी धारण करने पड़ते थे। रात्रि में उनका नगर प्रवेश निषिद्ध था। 'अन्त्यज'[2] तथा 'बाह्य'[3] शब्दों का प्रयोग सम्भवत: अस्पृश्य जातियों के लिए ही किया गया होगा। पतंजलि ने निरवसित शूद्रों के अन्तर्गत चाण्डाल तथा मृतपों को रखा है[4]। ये ग्राम, घोष, नगर आदि में अलग मोहल्लों में रहते थे तथा इनके साथ बर्तन आदि की छुआछूत मानी जाने लगी थी। सम्भवत: आर्येतरों से सम्बन्धित जनजातियां, जो सांस्कृतिक दृष्टि से हीन थीं तथा व घृणित व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन कर रही थीं, अस्पृश्य मानी जाने लगी थीं[5]।

---

१ विवेकानन्द झा, 'स्टेजेज़ इन द हिस्ट्री आव अनटचेबुल्स'; द इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू, वाल्यूम २, नम्बर १, जुलाई, १९७५ पृ० २४।

२ मनु० ८. ३८५।

३ मनु० १०. २९-३१।

४ बी० एन० पुरी, इण्डिया ऐट द टाइम आव पतञ्जलि, पृ० ९१; वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ९३।

५ डंकसेवरफल्ड, 'अनटचेबिलिटी इन अर्ली इण्डियन सोसायटी', जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री, वाल्यूम ३९, १९६१, पृ० २-७।

दास

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी का काल दासों की स्थिति में महत्वपूर्ण परिवर्तन का आभास देता है। दास प्रथा की कुंठता का संकेत दासों की मुक्ति सम्बन्धी व्यवस्थाओं से प्राप्त होता है,[1] जितने जितने प्रमाण इस काल में प्राप्त होते हैं उतने इससे पहले के काल में नहीं मिलते। कौटिलीय अर्थशास्त्र में दासों की मुक्ति की जो व्यवस्था मिलती भी है वह आर्य-दासों के सम्बन्ध में है। परन्तु प्रस्तुत काल में मिलने वाले विवरणों में इस प्रकार की कोई बात नहीं कही गई है। दासों को किस प्रकार मुक्त किया जाय इसका सबसे पहला उपाय नारद ने बताया[2]।

इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि दासों के प्रकारों का पहले की अपेक्षा विस्तृत विवरण इस काल में प्राप्त होता है। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है तो नारद ने पन्द्रह प्रकारों का। मनु ने युद्ध में प्राप्त दास, भक्तदास, दासी का पुत्र, खरीदा हुआ दास, दूसरे का दिया हुआ दास आनुवंशिक तथा

---

१ याज्ञ० २, १८२ ; नारद, ५,३० ; ५, ३२ ; ५, ३३ ;
५, ३४ ; ५, ४०-४२ ।

२ नारद ५, ४०-४२ ।

दण्डदास का उल्लेख किया है[1]। नारद द्वारा उल्लिखित पन्द्रह प्रकारों में मनु द्वारा उल्लिखित सात प्रकार भी सम्मिलित हैं[2]।

दासों के बढ़े हुए वर्गीकरण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि दास प्रथा बढ़ गयी, क्योंकि उन्हीं ग्रन्थों में दासमुक्ति की व्यवस्था भी मिलती है[3]। नारद ने ही एक ओर पन्द्रह प्रकार के दासों का उल्लेख किया है तो दूसरी ओर दासों की मुक्ति की व्यवस्था भी की है। उदाहरण के लिए मानसार में नारों का वर्गीकरण

---

१ ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥
मनु०, ८, ४१५ ।

२ गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः ।
अनाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥
ऋणाच्च मोचितोऽनल्पात् युद्धप्राप्तः पणेजितः ।
तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥
भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः ।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पंचदश स्मृताः ॥
नारद० ५, २६-२८ ।

३ नारद० ५, ४०-४२ ।

दास प्रथा की दुर्बलता के विशद् विवरण के लिए द्रष्टव्य, आगे, पृ० ७७ ।

मिलता है पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस समय नगरों की संख्या अथवा नगर-समृद्धि में वृद्धि हुई। उस समय नगरों के ह्रास के प्रमाण मिलते हैं, यह सर्वविदित है।

इस काल के अन्तिम चरण में नई प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा के बिना दास नहीं बनाया जा सकता था[1]। यह उल्लेख दुर्बल होती हुई दास प्रथा की ओर संकेत करता है। मनु ने दासीपुत्र को सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किया[2] और याज्ञवल्क्य ने दासी के साथ बलात्कार करने वालों के लिए अर्थदण्ड तथा अन्य दण्डों की व्यवस्था निर्मित की[3]।

याज्ञवल्क्यस्मृति में भृति सम्बन्धी जिन नियमों का निर्धारण किया गया उनका उल्लेख इतने विस्तृत रूप में इससे पहले प्राप्त नहीं होता। मनुस्मृति में घरेलू कर्मकरों के वेतन पर केवल एक श्लोक मिलता है[4] परन्तु याज्ञवल्क्य ने इस विषय में विस्तृत

---

१ याज्ञ० २, १८२।

२ मनु० ९, १७९।

३ याज्ञ० २, २३६-३७।

४ मनु० ७, १२६।

व्याख्या प्रस्तुत की है । भृति-सम्बन्धी नियमों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण नियम यह बनाया गया था कि भृति ठहराये बिना भृत्य से व्यापार, पशुपालन तथा खेती का काम कराया जाये तो राजा का यह कर्तव्य था कि वह भृत्य को इन कार्यों से होने वाले लाभ का दसवां अंश काम करने वाले को दिलाये[1]। इस उल्लेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस काल के अन्तिम चरण में उत्पादक कार्यों में भृत्यों के नियोजन की प्रवृत्ति बढ़ने लगी थी । यद्यपि यह स्मरणीय है कि कृषि के कार्य में उनके श्रम का उपयोग और पहले ही प्रारम्भ हो चुका था[2]।

समाज का द्विविभाजन

द्विज तथा शूद्र

समाज में द्विविभाजन की प्रक्रिया भी निरन्तर चल रही थी । धर्मसूत्रों के काल में प्रारम्भ होने वाला द्विज तथा शूद्र का द्विविभाजन मनु तथा याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में विशेषरूप से स्पष्ट हो उठा है । मनु तथा याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय

---

१ याज्ञ० २, १९३ से १९८ तक ।

२ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० ९२-९३ ।

तथा वैश्य को द्विजाति तथा शूद्र को एकजाति की संज्ञा दी है[1]। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पहले माता से जन्म लेते हैं। मौञ्जी मेखला के बांधे जाने के बाद अर्थात् उपनयन के पश्चात् इन उनका दूसरा जन्म होता है[2]। द्विजातियों को दारुण वचन से आक्षेप करने वाले एकजाति अथवा शूद्र को उसकी जीभ काट कर दण्डित करना चाहिये, यह विधान मनु ने निर्मित किया। यदि यह आक्षेप नाम तथा जाति का उच्चारण करके किया जाता है तो कटु वचन कहने वाले शूद्र के मुख में जलती हुई दस

---

१ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः॥

मनु० १०.४;

याज्ञ० १.३६।

२ मनु० २.१६९; याज्ञ० १.३९।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात्॥

मनु० २.१६९।

मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।

ब्राह्मण क्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

याज्ञ० १.३९।

दशांगुल लम्बी लोहे की कील डालने का विधान किया गया[1]। इसी प्रकार द्विज को मारने वाले शूद्र के लिए अंग-भंग का दण्ड निर्धारित किया गया[2]। यही भेद न्यायकार्य में शपथ दिलाते समय भी दिखायी पड़ता है। न्यायाधीश के लिए यह आदेश दिया गया है कि शपथ दिलाते समय वह ब्राह्मण को सत्य की, क्षत्रिय को वाहन तथा शस्त्र की, वैश्य को गौ, व्यापार, सुवर्ण तथा धन की तथा शूद्र को सब पापों की शपथ दिलाये[3]। द्विजों के लिये कुछ विशेष देश ही निवास के योग्य बताये गए हैं जबकि शूद्र कहीं भी निवास कर सकता था[4]। विभिन्न संस्कारों के सम्बन्ध में शूद्रों का उल्लेख नहीं मिलता है। सर्वप्रथम यह उल्लेख मिलता है कि गर्भ शुद्धिकारक हवन, चूडाकरण और मौञ्जीबन्धन से द्विजों के बीज एवं गर्भ से उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते हैं[5]। द्विजाति बालकों का चूडाकरण

---

१ एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन् ।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥
नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः ।
निक्षेप्यो योमयः शंकुर्ज्वलन्नास्ये दशांगुलः ॥
मनु० ८, २७०-७१ ।

२ मनु० ८, २७९-८० ।

३ मनु० ८, ११३ ।

४ मनु० २, १७, १९, २४ ।

५ मनु० २, २७ ।

पहले या तीसरे वर्ष में किये जाने का विधान मिलता है[1]। 'ब्राह्मण का उपनयन आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में अवश्य हो जाना चाहिये'[2]। उपनयन के सन्दर्भ में यज्ञोपवीत, मेखला, वस्त्र, दण्ड आदि की पृथक व्यवस्थायें द्विजातियों के लिए ही थीं[3]। केशान्त संस्कार के सम्बन्ध में ब्राह्मण की आयु सोलह वर्ष, क्षत्रिय की बाइस वर्ष तथा वैश्य की चौबीस वर्ष बतायी गयी है, यहां भी शूद्रों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है[4]। द्विजों के लिये प्रातःकाल तथा सन्ध्याकाल में सन्ध्योपासन भी आवश्यक बताया गया है[5]। उपर्युक्त उल्लेख समाज में द्विजाति तथा शूद्र के मध्य गहरी होती हुई खाई के सूचक हैं।

यह विभाजक रेखा 'अंगविज्जा' में 'अज्ज' तथा 'मिलिक्खु' के रूप में प्राप्त होती है। यहां 'अज्ज' के अन्तर्गत प्रथम

---

१ मनु० २.३५।

२ मनु० २.३६।

३ मनु० २.४९-५२।

४ मनु० २.६५।

५ मनु० २.१०२।

तीन जातियां रखी गयी हैं तथा 'मिलिक्खु' के अन्तर्गत शूद्रों तथा विदेशियों का परिगणन किया गया है[1]।

वास्तव में इस काल में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां दिखायी देती हैं। एक ओर तो वैश्यों और शूद्रों के बीच के अन्तर के कम होने के साक्ष्य मिलते हैं; और दूसरी ओर शास्त्रों में द्विजाति और एकजाति अथवा शूद्र के बीच विभाजन की खाई गहरी होने लगती है। ऐसा लगता है कि शूद्र व्यापारी और कारीगर भी सामाजिक प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से वैश्यों के निकट पहुंचे होंगे।

<u>स्वतन्त्र तथा दास</u>

समाज में दासों की उपस्थिति स्वतन्त्र तथा दासों के मध्य द्विविभाजन की स्थिति की ओर संकेत करती है। यह विभाजन भी और पहले से ही दिखायी देने लगा था। इस युग के ग्रन्थों में उल्लिखित दासों के विभिन्न वर्गीकरण, जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, इस द्विविभाजनको और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। इस प्रकार के

---

१ अंगविज्जा, पृ० १४६, पंक्ति ६ तथा आगे ।
बी० एन० एस० यादव, 'सम ऐस्पेक्ट्स आव चेन्जिंग आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज', <u>कुषाण स्टडीज़</u>, पृ० ७७ ।

द्विविभाजन की पुष्टि `अंगविज्जा` नामक कुषाण-कालीन ग्रन्थ से भी होती है। इसमें एक वर्गीकरण `अज्ज` तथा `पेस्स` के रूप में भी प्राप्त होता है। `अज्ज` के अन्तर्गत वे स्वतन्त्र व्यक्ति परिगणित हैं जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे तथा `पेस्स` के अन्तर्गत उन दास, नौकर तथा मजदूरों आदि की गणना की गयी है,[1] जिन्हें किसी न किसी रूप में दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता था। अज्ज के अन्तर्गत यहाँ कुछ समृद्ध शूद्र भी परिगणित किए गए हैं[2]।

<u>शासक-शासित तथा प्राधिकृत-अप्राधिकृत वर्ग</u>

पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा इस काल में ऐसे उल्लेख अपेक्षाकृत अधिक मिलने लगते हैं, जिनमें एक ओर प्राधिकृत ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की एक दूसरे पर निर्भरता और पारस्परिक सहयोग के संकेत प्राप्त होते हैं तथा दूसरी ओर अप्राधिकृत वर्ग के रूप में वैश्यों तथा शूद्रों को एक साथ रखा गया है, जिन्हें कुछ सामाजिक तथा आनुष्ठानिक अधिकारों से वंचित किया गया[3]। इन उल्लेखों में वैश्य द्विजाति के अधिकारों से वंचित किए गए हैं तथा दोनों उच्च वर्णों के विरुद्ध वैश्य तथा शूद्र एक साथ सम्मिलित हो एक समुदाय के रूप में

---

१ <u>अंगविज्जा</u>, पृ० २१८ ; बी० एन० एस० यादव, `सम ऐस्पेक्ट्स आव चेन्जिंग आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज`, <u>कुषाण स्टडीज</u>, पृ० ७७।

२ <u>अंगविज्जा</u>, पृ० २१८, पंक्ति २२।
`अज्जतो, ....बम्भणा खत्तियो वेस्सो सुद्दोत्ति....`।

३ हापकिन्स, द म्युचुअल रिलेशन्स आव द फोर कास्ट्स एकार्डिंग टु मानवधर्मशास्त्रम्, पृ० ८१।

~~सम्बन्धित प्रतीत होते~~ दिखायी देते हैं[१]। मनुस्मृति में कहा गया है कि 'ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण समृद्धि प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं, परस्पर सहयोगी ब्राह्मण तथा क्षत्रिय इहलोक तथा परलोक में समृद्धि को प्राप्त करते हैं[२]। इसी स्मृति में क्षत्रिय को ब्राह्मण से उत्पन्न बताते हुए ब्राह्मण में ही क्षत्रिय के तेज की शान्ति की बात कही गयी है[३]। क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के अपमान का निषेध मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त होता है[४]। मध्यम राजसी गतियों में क्षत्रिय, राजा, तथा पुरोहित की गणना की गयी है[५]। महाभारत में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को एक योनि से उत्पन्न बताते हुए कहा गया है[६] कि बलविधान पृथक् हो जाने पर वे संसार की रक्षा नहीं कर सकते। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के पारस्परिक सौहार्द से सम्पत्ति तथा

---

१ हापकिन्स, द म्यूचुअल रिलेशन्स आव द फ़ोर कास्ट्स एकार्डिंग टु मानवधर्मशास्त्रम्, पृ० ८१।

२ मनु० ९. ३२२।

३ मनु० ९. ३२०-३२१।

४ मनु० ४. १३५-१३६; याज्ञ० १. १५३।

५ मनु० १२. ४६।

६ 'ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयंभुवा।
पृथग्बलविधानं च तल्लोकं परिरक्षति॥

महाभारत, १२. ७५. १३।

सुख प्राप्ति की बात महाभारत में कही गयी है

दूसरी ओर कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ वैश्य तथा शूद्र का उल्लेख एक साथ मिलता है। अतिथि-धर्म में वैश्य तथा शूद्र को भृत्यों के साथ भोजन कराने की बात कही गयी है[1]। मृतक सूतक आदि में वैश्य तथा शूद्र का शुद्धिविधान एक समान था[2]। न्यायवर्ती (द्विज की सेवा करने वाले) शूद्र तथा वैश्य का अशौच काल पन्द्रह दिन निर्धारित किया गया है[3]। राजा को विशेष रूप से यह आदेश दिया गया है कि वह वैश्य तथा शूद्र से अपने-अपने कर्म को करवाता रहे क्योंकि अपने-अपने कर्म से भ्रष्ट ये दोनों संसार को संकट में डाल देते हैं[4]। याज्ञवल्क्य स्मृति में वैश्य तथा शूद्र दोनों ही केवल एक पत्नी के अधिकारी बताये गये हैं[5]। आसुर विवाह के सन्दर्भ में वैश्यों तथा शूद्रों को एक श्रेणी में रखा गया है[6]। मनुस्मृति में वैश्य तथा शूद्र के लिये आपत्ति से त्राण पाने का

---

१ वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बे तिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥
मनु० ३, ११२ ।

२ मनु० ५, १४० ।

३ याज्ञ० ३, २२ ।

४ मनु० ८, ४१८ ।

५ याज्ञ० १, ५७

६ मनु० ३, २४ ।

एकमात्र साधन धन बताया गया है[1]। मनु तथा याज्ञवल्क्य, दोनों ने आपत्तिकाल में वैश्य के लिए शूद्र के कार्य से जीवनयापन तथा शूद्र के लिए वैश्य के कार्य से जीवनयापन का विधान निर्धारित किया है[2]। इस काल के अन्तिम चरण में शूद्र के स्वाभाविक कर्म के रूप में वणिग्वृत्ति[3] का उल्लेख मिलने लगता है जो वैश्यों तथा शूद्रों के क्रमशः बढ़ते हुए पारस्परिक संघटन का सूचक है। शासक वर्ग में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के अतिरिक्त समृद्ध व्यापारियों का समूह भी सम्मिलित रहा होगा। उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज में शासक-शासित अथवा प्राधिकृत-अप्राधिकृत की द्विविभाजन रेखा पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होने लगी थी। समाज के उपर्युक्त विभिन्न द्विविभाजन परस्परावलम्बी प्रतीत होते हैं[4]।

---

१ मनु० ११, ३४ ।

२ मनु० १०, ९८-१०० ; याज्ञ० १, १२० ।

३ याज्ञ० १ , १२० ; विष्णु० २, ५ ; बृ०, संस्कार, ६३० ; मार्कण्डेय पु० २८, ३-८ ; विष्णु पु० ३,८ ।

४ प्रस्तुत विचार के लिये मैं डा० बी० एन० एस० यादव की ऋणी हूं ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रमुख तत्व : आर्थिक घटक

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य हुए आर्थिक परिवर्तन, जिसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है, सामाजिक गतिशीलता को अपेक्षाकृत तीव्रतर बनाने में सहयोगी सिद्ध हुए । कुषाणकालीन ग्रन्थ अंगविज्जा में कई प्रकार के लोहे का उल्लेख मिलता है यथा— लोह, काललोह, वट्टलोह, कंसलोह, तिक्खलोह तथा मुण्डलोह[1] पश्चिमी भारत तथा मथुरा से प्राप्त अभिलेख लोहे के व्यापारियों का उल्लेख करते हैं[2]। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि कृषि के उपकरणों में लोहे का अधिकाधिक प्रयोग अधिक बंजर भूमि को कृषियोग्य बनाने तथा अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन का माध्यम बना[3]। इसका संकेत कृषि के उपकरणों में तकनीकी दृष्टि से पहले की अपेक्षा अधिक विकास से भी प्राप्त होता है और यह तकनीकी विशेषता कौशाम्बी तथा हस्तिनापुर

---

१ अंगविज्जा, पृ० २३३, २५८, द्रष्टव्य, बी० एन० एस० यादव, 'सम ऐस्पेक्ट्स आव चेन्जिंग आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज', कुषाण स्टडीज़, पृ० ८४ ।

२ एपीग्रेफिया इण्डिका, वाल्यूम १०, ल्यूडर्स लिस्ट, नम्बर २६, १०५५ ।

३ देखिए पीछे, पृ०

से प्राप्त हंसिये में स्पष्ट दिखायी पड़ती है ।[1]

लोहे के माध्यम से उद्योग तथा व्यापार भी विकसित हुआ जिसके फलस्वरूप नगर-जीवन अपेक्षाकृत समृद्ध हो गया । औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास के फलस्वरूप विकसित व्यापारिक तथा औद्योगिक श्रेणियों तथा उनके महत्व की चर्चा पहले की जा चुकी है । अब वे राजा द्वारा भी मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं ।

---

१ कौशाम्बी के घोषिताराम मठ से कुषाण-स्तर से सम्बन्धित एक अपेक्षाकृत छोटा हंसिया प्राप्त हुआ है जिसकी तिथि प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईसवी निर्धारित की गयी है ; देखिये, बी० एन० एस० यादव, "सम रैस्पैक्ट्स आव चैन्जिंग सोशल आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज ", कुषाण स्टडीज़, पृ० ८४ ।

हस्तिनापुर से हंसिये का खंड प्राप्त हुआ है जिसे तृतीय शताब्दी ईसवी का बताया गया है, देखिये, बी० बी० लाल, "एक्सकैवेशन्स एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स इन द अपर गंगा एण्ड सतलज बेसिन ", <u>ऐंश्येण्ट इण्डिया नम्बर १०-११</u>, पृ० १६, चित्र संख्या ३१-३२ ।

मिलिन्दपन्ह में व्यावसायिकों की एक लम्बी तालिका मिलती है। इसमें माला बनाने वालों (मालाकारा), सुनारों (सुवर्णकारा), चांदी पर काम करने वालों (सज्झकारा), शीशे पर काम करने वालों (सीसकारा), टिन पर काम करने वालों (तिपुकारा), लोहारों (लोहकारा), ताम्रकारों (वट्टकारा), पीतल का काम करने वालों (अयकारा), जौहरी (मणिकारा), कुम्हारों (कुम्भकारा), वेणु बनाने वालों (वेणुकारा), नमक बनाने वालों (लोणकारा), चर्मकारों (चम्मकारा), रस्सी बनाने वालों (रज्जुकारा), कुच बनाने वालों (कुचकारा), धनुष की प्रत्यंचा बनाने वालों (जियकारा), बाण तैयार करने वालों (उसुकारा), चित्रकारों (चित्तकारा), रंगरेजों (रंगकारा), धोबी (रजका) जुलाहों (तन्तुवाया), दर्जी (तुन्नवाया), गन्ध तैयार करने वालों (गन्धिक), रथ बनाने वालों (रथकारा), हाथीदांत पर काम करने वालों (दन्तकारा), टोकरी बनाने वालों (पिलिकारा) तथा धनुष बनाने वालों (धनुकारा) के नाम आते हैं।

इसी सन्दर्भ में महावस्तु केवल कपिलवस्तु में रहने वाली श्रेणियों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करता है। साधारण

---

१ मिलिन्दपन्ह, पृ० ३२४ ।

२ महावस्तु, भाग ३, पृ० ११३ ; पृ० ४४२-४४३ ; मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १५३ ।

श्रेणियों में सौवर्णिक (हैरण्यिक), चादर बेचने वाले (प्रावारिक), शंख का काम करने वाले (शांखिक), हाथी दांत का काम करने वाले (दन्तकार), मनियार (मणिकार), पत्थर का काम करने वाले (प्रास्तरिक), सुगन्धित द्रव्य आदि बेचने वाले (गन्धी), रेशमी और ऊनी कपड़े बनाने वाले (कौशाविक), तेली (तैलिक), घी बेचने वाले (घृतकुण्डिक), गुड़ बेचने वाले (गौलिक), पान बेचने वाले (वारिक), कपास बेचने वाले (कार्पासिक), दही बेचने वाले (दध्यिक), पूए बेचने वाले (पूपिक), खांड बनाने वाले (खण्डकारक), लड्डू बेचने वाले (मोदककारक), कन्दोई (कुण्डुक), आटा बनाने वाले (समितकारक), सत्तू बनाने वाले (सक्तुकारक), फल बेचने वाले (फलवाणिज), कन्दमूल बेचने वाले (मूलवाणिज), सुगन्धित चूर्ण और तेल बेचने वाले (चूर्णकूट-गन्ध-तैलिक), गुड़ बनाने वाले (खण्डपाचक), सोंठ बेचने वाले, शराब बनाने वाले (सीधुकारक) और शक्कर बेचने वाले (शर्करावाणिज) थे ।

इन श्रेणियों के अतिरिक्त कुछ ऐसी श्रेणियां भी थीं जो शिल्पायतन के नाम से ज्ञातव्य थीं । इनमें लुहार, तांबा पीटने वाले, ठठेरे, पीतल बनाने वाले रांगे के कारीगर, शीशे का काम करने वाले तथा खराद पर चढ़ाने वाले प्रमुख थे । मालाकार, पुस्तकार, कुम्हार, रंगरेज,

सुवर्णकार, तांती, चित्रकार, नाई, छेद करने वाले, सूत्रधार, कुएँ खोदने वाले, लकड़ी बांस इत्यादि के व्यापारी, नाविक तथा सुवर्णधोवक प्रसिद्ध थे।[1]

कुछ कारीगरों ने नगरों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। ये 'महत्तर' के नाम से विख्यात थे। इनमें मालाकार महत्तर, सुवर्णकार महत्तर, कुम्भकार महत्तर, वर्धकि महत्तर, मणिकार महत्तर, शंखवलयकार महत्तर, चर्मकार महत्तर तथा बेंत, छाते, टोकरी आदि बनाने वाले महत्तर का नाम विशेषरूप से प्राप्त होता है।[2]

इस आर्थिक विकास का प्रभाव शूद्र वर्ग पर पड़ा। पहले शूद्रों का धर्म केवल तीन उच्च वर्णों की सेवा करना था, परन्तु नवीन

१ महावस्तु, भाग ३, पृ० ४४२-४४३ ; द्रष्टव्य, मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ० १५३ ।

२ महावस्तु, भाग ३, पृ० ४६३ से ४७७ ।

आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० १८० ।

आर्थिक विकास के साथ वणिग्वृत्ति भी शूद्रों का स्वाभाविक कर्म बनने लगी थी[1]। इसके परिणाम स्वरूप वे आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होने लगे थे । आर्थिक सम्पन्नता प्राप्त करने पर वे सेवा के कार्य से विरत हो गये होंगे। सम्भवतः इसीलिए मनु ने शूद्रों के धनसंचय का विरोध मनुस्मृति में किया[2]।

नवीन लौह उपकरणों के माध्यम से जब अधिक भूमि कृषियोग्य बनायी गयी होगी तब उस पर कृषि-कार्य करने के लिये अधिक व्यक्तियों की आवश्यकता भी बढ़ी होगी । चूंकि वैश्य वर्ण के अधिकांश व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक मुनाफ़ा देने वाले उद्योग तथा व्यापार में संलग्न हो रहे थे, इसलिये कृषिकार्य में सहायता के लिये आश्रित कृषक के रूप में शूद्र वर्ण के कुछ व्यक्ति नियुक्त किये गए होंगे । इस काल में एक ऐसे वर्ग का उद्भव दिखायी देने लगता है जो शूद्र आर्धिकों का था । इन्हें जीविकोपार्जन के निमित्त भूमि प्रदान की जाती थी । उत्पादन के आधे भाग के अधिकारी के रूप में हम उन्हें आश्रित कृषकों

---

१ याज्ञ० १, १२० ; बृ०, संस्कार, श्लोक ५३० ।
आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २४० ।

२ शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः ।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ।।
-- मनु० १०, १२९ ।

के रूप में पाते हैं। अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०- १०० ई०) में इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिये `अर्धसीतिक` का प्रयोग किया गया है।[1] इनके लिये अर्थशास्त्र में यह निर्देश मिलता है कि जिन खेतों में बीज न बोया जा सका हो उनमें अधबटाई पर काम करने वाले बीज बोयें।[2] अर्थशास्त्र में यह भूमि सम्भवतः राज्य के द्वारा प्रदान की जाती थी, परन्तु मनुस्मृति से यह आभास मिलता है कि ये `आर्धिक`, अधबटाई पर खेती करने वाले, भूमि को स्वयं व्यक्ति-विशेष से ही प्राप्त करते थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने शूद्र आर्धिकों तथा उच्च वर्णों के व्यक्तियों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों की विवेचना भी की है। उनका अन्न भोज्यान्न बताया गया है।[3] नारद ने `कीनाश`[4] (कृषक) का उल्लेख उन

---

१ अर्थशास्त्र, २. २४. १७।

२ वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः।
अर्थशास्त्र २. २४. १७; आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ७७।

३ आर्धिकः कुलमित्रं च गोपाल दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्।
— मनु० ४. २५३।
शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चात्मानं निवेदयेत्
—याज्ञ० १. १६६।
द्रष्टव्य, विष्णु०, ५७. १६।

४ नारद०, १. १८२।

व्यक्तियों में किया है जो गवाह नहीं बन सकते थे और ये कीनाश सम्भवत: शूद्र होते थे । बृहस्पति ने उस शूद्र के लिये कठिन दण्ड की व्यवस्था की है जो खेतों के सीमा सम्बन्धी झगड़ों में अग्रगामी बने[1]। इससे भी यही तात्पर्य निकलता है कि शूद्र स्वयं खेतों के स्वामित्व रखने भी होंगे ।

आर्धिकों का उल्लेख दूसरी-तीसरी शताब्दी ईस्वी के अभिलेखों में भी प्राप्त होता है[2]। एक पल्लव दानपत्र (२५०-३५० ई०) में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि चार आर्धिक तब भी उस भूमि के अधिकारी बने रहे जब वह ब्राह्मणों को दान कर दी गयी[3]। अनुमान किया जाता है कि ये आर्धिक शूद्र ही थे[4]। शूद्रों का आर्धिक कृषकों के रूप में उत्कर्ष सामाजिक गतिशीलता की ऊर्ध्वगामी समष्टि-

---

१ बृ०, १६. ६ ।

२ लल्लन जी गोपाल, जर्नल आव द इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आव द ओरिएन्ट, वाल्यूम ६, पार्ट ३, १९६३, पृ० ३०७ ।

३ एपीग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम १, नम्बर १, १. ३६ ।

४ आर० एस० शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, पृ० ६२; कमल राय, द रूरल अर्बन इकानमी एण्ड सोशल चेन्जेज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ७०-७१ ।

विभाजक गतिशीलता का द्योतक होने के साथ सामन्तवाद[1] के उदय का एक महत्वपूर्ण तत्व भी था । कुषाण-काल के बाद व्यापार की अपेक्षाकृत अवनति ने इस स्थिति में वृद्धि की होगी ।

तत्कालीन आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में ग्रामस्वामियों का एक समुदाय बनता जा रहा था और उनके अधिकार भी बढ़ रहे थे ।[2] फलस्वरूप कृषक वैश्यों के अधिकार ग्रामस्वामियों की तुलना में कम होते जा रहे थे और उनकी सामाजिक स्थिति पहले की अपेक्षा गिरने लगी थी । कृषक वैश्यों के क्रमिक सामाजिक अपकर्ष का एक कारण कृषि-कार्य में शूद्रों का नियोजन भी था जिसके कारण कृषक वैश्यों और कृषि-कार्य में नियोजित शूद्रों का स्थान व्यावहारिक दृष्टि से लगभग एक समान होने लगा था ।

शूद्र धीरे-धीरे दासता एवं दासप्राय स्थिति से भी मुक्त होने लगे थे, जो उनके उत्कर्ष का एक महत्वपूर्ण चरण है । नारद तथा बृहस्पति स्मृति में पुत्रों के मध्य पारिवारिक भूमि के विभाजन का स्पष्ट उल्लेख मिलने लगता है । पारिवारिक भूसम्पत्ति के विभाजन ने बड़े परिवारों के छोटे परिवारों में विभाजित हो जाने की आधारशिला तैयार की । छोटे परिवारों में दासों को अधिक संख्या में रख पाना अब सम्भव

---

१ आर० एस० शर्मा, इण्डियन फ्यूडेलिज्म, पृ० ६७ ; बी० एन० एस० यादव, 'सम रेस्पेक्ट्स आफ चेन्जिंग सोशल आर्डर इन इण्डिया ड्यूरिंग शक-कुषाण एज', कुषाण स्टडीज, पृ० ८४ ।

२ बी० एन० एस० यादव, 'सम रेस्पेक्ट्स आफ द चेन्जिंग आर्डर इन इंडिया ड्यूरिंग द शक-कुषाण एज', कुषाण स्टडीज, इलाहाबाद, १९६८, पृ० ८०-८१ ।

नहीं था । परिणामस्वरूप दास प्रथा दुर्बल होने लगी । छोटे परिवारों द्वारा मुक्त किये गये दासों में से अधिकांश आश्रित कृषकों के वर्ग में विभाजित हो गये होंगे, इसकी सम्भावना व्यक्त की जा सकती है ।[१] दासों की मुक्ति से सम्बन्धित विधानों के उल्लेख द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य रचित ग्रन्थों में उपलब्ध होने लगते हैं ।

कौटिल्य ने दासों की मुक्ति की जो व्यवस्था की है वह साधारण रूप से उन दासों पर लागू होती थी जो आर्य माता-पिताओं से उत्पन्न थे । 'आर्यदास [illegible] यदि कहीं युद्ध में पराधीन होकर दूसरों के द्वारा दास बना लिया गया है, तो वह अपने कार्य या समय के अनुसार अथवा आधा मूल्य दे कर छुटकारा पा सकता था'।[२] समुचित मूल्य चुका देने पर भी व्यक्ति दासत्व से मुक्त हो सकता था ।[३] कौटिल्य ने यह भी कहा कि अपने आपको बेच

---

१ बी० एन० एस० यादव, सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्फ्थ सेन्चुरी, पृ० १४० ।

२ 'आर्यप्राणो ध्वजाहृतः कर्मकालानुरूपेण मूल्यार्धेन वा विमुच्येत' अर्थ० ३, १३, १६
आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, खण्ड १, पृ० ११८ ।

३ 'मूल्येन चार्यत्वं गच्छेत्' अर्थ० ३, १३, १५ ;
आर० पी० कांगले, वही, पृ० ११८ ।

कर दास बनने वाली (आर्य) सन्तान को दास न समझ कर आर्य ही समझा जाय ।[1] कौटिल्य ने दास के ऊपर अत्याचार करने वाले तथा असभ्य व्यवहार करने वाले स्वामी का धन मुक्त कर दिए जाने की व्यवस्था भी निर्धारित की ।[2] यही व्यवहार धात्री परिचारिका तथा अर्धसीतिका के साथ किये जाने पर उसे दासी-भाव से मुक्त किये जाने के नियम का निर्धारण भी कौटिल्य ने किया ।[3] उच्च कुल में उत्पन्न दास से यदि अनुचित कार्य कराये जायें तो वह दासत्व को छोड़ कर मुक्त हो जाने के लिए स्वतन्त्र था ।[4] उचित मूल्य पाने पर भी जो व्यक्ति किसी दास को दासता से मुक्त नहीं करता था तो उसके लिये १२ पण जुर्माने की व्यवस्था बनायी गयी ।[5] एकबार मुक्त किये गये दास अथवा दासी को पुनः बेचने पर भी १२ पण जुर्माने का नियम निर्धारित किया गया ।[6] कौटिल्य ने यह व्यवस्था भी की कि यदि दासी स्त्री से किसी मालिक को सन्तान उत्पन्न होती है तो वह माता के सहित दासता से मुक्त की जाय[7]। साथ ही यदि वह दासी कुटुम्ब के सभी कार्यों को करती हुई मालिक के

---

१ 'आत्मविक्रयिण: प्रजामार्यं विद्यात्' अर्थ०, ३. १३. १
आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ११७।

२ अर्थ० ३. १३. ९ ; [illegible] ।

३ अर्थ० ३. १३. ९ ; [illegible]

४ अर्थ० ३. १३. १० ; [illegible] ।

५ अर्थ० ३. १३. १५ ; आर० पी० कांगले, वही ।

६ अर्थ०, वही ।

७ अर्थ० ३. १३. २३ ।

घर में ही भार्या के समान रखना चाहता हो तो उसके माता-पिता, भाई-बहनों को भी दासता से मुक्त कर दिया जाय ।[1]

दासों की मुक्ति की व्यवस्था याज्ञवल्क्य (लगभग १००-३०० ई०) तथा नारद (लगभग १००-४०० ई०) ने भी की है । याज्ञवल्क्य ने कहा, 'जो बलपूर्वक दास बना लिया गया हो, जो चोरों द्वारा बेच दिया गया हो, प्राण-संकट उपस्थित होने पर जिसने स्वामी की प्राण-रक्षा की हो, वह मुक्त किया जाय ।[2] प्राण-रक्षा करने वाले दास को नारद ने मुक्ति के साथ-साथ पुत्र के समान सम्पत्ति में समान अधिकार भी देने का विधान बनाया ।[3] जो दास अकाल में प्राप्त किया गया हो वह बैलों की जोड़ी देकर[4], जो रेहन में रखा गया हो वह निर्धारित मूल्य देकर,[5] जो ऋण न दे पाने के कारण दास बना हो वह ब्याजसहित मूलधन चुकाकर[6] दासता से मुक्त हो सकता था । इसी प्रकार युद्ध में प्राप्त दास अथवा दांव में जीता गया दास किसी स्थानापन्न के

---

१ अर्थ, ३, १३, २४ ; आर० पी० कांगले द्वारा सम्पादित, द कौटिलीय अर्थशास्त्र, पृ० ११८ ।

२ याज्ञ०, २, १८२ ।

३ यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन् मोचयेत् प्राणसंशयात् ।
दासत्वात् स: विमुच्येत पुत्रभागं लभेत च ।
नारद० ५, ३० ; द्रष्टव्य, जूलियस जौली, नारद का [illegible], खण्ड १, पृ० १३६ ।

४ नारद० ५, ३२ ।

५ नारद०, ५, ३३ ।

६ नारद०, ५, ३३ ।

बदले में मुक्ति प्राप्त कर सकता था ।[1] दासों की मुक्ति के लिये सर्वप्रथम नारद ने एक विशिष्ट विधान बनाया जो इस प्रकार है -`जब कोई स्वामी अपने दास से प्रसन्न होकर उसे मुक्ति प्रदान करना चाहे तो वह दास के कंधे से जल का घड़ा लेकर तोड़ दे, पुष्प तथा अक्षत से मिला हुआ जल दास के सिर पर छिड़क कर तीन बार कहे,`अब तुम अदास हो`, इसके बाद वह दास को पूर्वाभिमुख करके मुक्ति प्रदान करे ।[2] स्वतन्त्र हो जाने के बाद इन दासों का स्थान [illegible] ऊपर उठ जाता होगा । उन्हें स्वतन्त्र व्यक्ति के अधिकार प्राप्त हो जाते होंगे । किसी दूसरे की सम्पत्ति न होने के कारण वे बेचने खरीदने की वस्तु भी नहीं रह जाते होंगे । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मुक्त हुए दासों में से कुछ कृषि कार्य द्वारा जीवनयापन करते होंगे और सम्भवत: कुछ विभिन्न शिल्पों को जीविका का साधन बनाते होंगे ।

कुछ समृद्ध दासों के धर्मदानों का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है ।[3] समृद्ध हो जाने पर उनका स्तर समाज में उन्नत हो जाता होगा।

---

१ नारद०, ५. ३४ ।

२ नारद०, ५. ४०-४२ ।

स्वदासमिच्छेद् यं कर्तुमदासं प्रीतमानस: ।
स्कन्धमादाय तस्यापि भिन्द्यात् कुम्भं सहाम्भसा ।।
अक्षताभि: सपुष्पाभिर्मूर्धन्येनमवाकिरेत ।
अदास इतियोक्त्वा त्रि: प्राङ्मुखं तमथोत्सृजेत् ।।

द्रष्टव्य, जोली, माइनर लॉ बुक्स, खण्ड १, पृ० १३८ ।

३ एपीग्रैफिआ इण्डिका, वाल्यूम १०, लूडर्स लिस्ट नम्बर १६, ६८, ११४, १३४४ ।

ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र वर्ण के अधिकांश व्यक्ति शिल्पों द्वारा जीवनयापन के फलस्वरूप समृद्ध होने लगे थे । शिल्पकारों की समृद्ध स्थिति के द्योतक उन धर्मदानों के उल्लेख हैं जो अभिलेखों में प्राप्त होते हैं । दानकर्ताओं में गान्धिक, चर्मकार, सुनार, मणिकार, लोहार, मालाकार, कुक्कुर, कुम्हार, बसकार (बांस का काम करने वाले) के अतिरिक्त कर्मकार तथा मछुआरों का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।[1] ये धर्मदान विभिन्न शिल्पों द्वारा जीवनयापन करने वाले शूद्रों की आर्थिक सम्पन्नता के फलस्वरूप हुए सामाजिक उत्कर्ष का संकेत देते हैं ।

स्मृति के माध्यम से सातवीं पांचवीं अथवा सातवीं पीढ़ी में उत्कर्ष की अवधारणा याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त होती है,[2] जो प्रसंग में महत्वपूर्ण है।

~~उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट यह संकेत है कि~~ इस प्रकार इस युग में हुए आर्थिक परिवर्तनों ने वर्ण तथा व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता को तीव्रता प्रदान की ।

---

1 एपीग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम १०, लूडर्स लिस्ट नम्बर ३६, ८, ३५ ; ३३१ ; ४६५; १०३२; १०४१; १०६०; १०६२; ११२६ ; ११३८; ११४५ ; १२१०; १२७३ ।

2 आत्युत्कर्षो युगे ज्ञेय: सप्तमे पंचमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥
—याज्ञ० १. ९६ ।

<u>सामाजिक गतिशीलता का प्रवर्तक तत्व : राजनीतिक पक्ष</u>

पीछे यह कहा जा चुका है कि यह काल राजनीतिक उथल-पुथल का काल था । विदेशी शासन स्थापित हुआ तो देशीय शासक वर्ग का स्वतः अपकर्ष हो गया । विदेशी शासकों के अन्तर्गत वे शासित के रूप में अपने विशेष अधिकार खो बैठे ।

इस सन्दर्भ में तत्कालीन साहित्य में प्राप्त शूद्र तथा म्लेच्छ शासकों के उल्लेख विचारणीय हैं ।[1] चूंकि इन शूद्र राजाओं का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसवी के मध्य प्राप्त नहीं होता है अतः आर० एस० शर्मा का यह निष्कर्ष ठीक प्रतीत होता है कि इन शूद्र शासकों से तात्पर्य विदेशी शासकों से ही रहा होगा ।[2] विदेशी शासकों को शूद्र की संज्ञा मनु ने स्वयं प्रदान की है ।[3]

मनु ने स्नातक के लिए शूद्र राज्य में निवास का निषेध प्रस्तुत किया है ।[4] कलियुग वर्णन जिसकी तिथि २०० से २७५ ई०

---

१ <u>महाभारत</u> ३, १८८, ३४-३५ ।

२ आर० एस० शर्मा, <u>शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया</u>, पृ० १८७ ।

३ <u>मनु०</u> १०, ४३-४४ ।

४ <u>मनु०</u> ४, ६१ ।

निर्धारित की गयी है,[1] के सन्दर्भ में भी शूद्र शासकों का प्रसंग प्राप्त होता है, जो अश्वमेध का सम्पादन करते थे तथा[2] जिनके द्वारा ब्राह्मण पुरोहित के रूप में नियुक्त किये गये थे ।[3]

मनु ने ब्राह्मणों के लिये क्षत्रियेतर राजाओं से दान लेने का निषेध किया है ।[4] इस निषेध का निर्धारण करते समय सम्भवत: उनके मस्तिष्क में नृपत्व को प्राप्त विदेशी क्षत्रिय राजाओं का ही चित्र रहा होगा । दान लेने के सन्दर्भ में मनु ने राजा को अत्यधिक निम्न श्रेणी प्रदान की है ।[5] इसका कारण भी सम्भवत: विदेशी शासक ही रहे होंगे जो कभी-कभी ब्रह्म-हत्या करने[6] और उनकी स्त्री तथा सम्पत्ति का हरण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं दिखाते थे ।

---

१ आर० सी० हाज़रा, पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० १७४-७५ ।

२ मत्स्यपुराण, १४४. ४२ ब ; ब्रह्माण्ड पुराण २. ३१. ६७ ब, वायुपुराण, ५८. ६७ ब ; हाज़रा, वही, पृ० २०६ ।

३ कूर्मपुराण, ३०, पृ० ३०४ ।

४ मनु० ४. ८४ ।

५ मनु० ४. ८६ ।

६ महाभारत, ३. १८६. ४४ ; ३. १८८, ३५ तथा ५८ ; कूर्मपुराण, ३५ और आगे ।

मिलिन्दपन्ह में भी वंशपरम्परा से हीन राजा को सिंहासन के अयोग्य बताया गया है।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी शासकों का सहयोग पाकर कुछ शूद्रों ने शासन-व्यवस्था में उच्च अधिकार प्राप्त कर लिये थे। मनु ने उस राज्य के नष्ट हो जाने की सम्भावना प्रकट की है जहां शूद्र धर्मप्रवक्ता (न्यायाधीश) नियुक्त किया जाता था।[2]

राजोपजीवी ~~(राज्य शासन नियुक्त कर्मचारी)~~ शूद्रों का उल्लेख कलियुग-वर्णन के सन्दर्भ में भी प्राप्त होता है जो द्विजों को कष्ट देते थे।[3] राजा की सेवा में नियुक्त होने के कारण उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि स्वाभाविक थी।[4] महाभारत के शान्तिपर्व में एक स्थान पर यह उल्लेख मिलता है कि जो शूद्र दस्युओं के आक्रमण के समय लोगों की रक्षा करे वह विशेष सम्मान का पात्र हो जाता था।[5]

---

१ मिलिन्दपन्ह, पृ० ३५८।

२ मनु० ८, २०-२१।

३ ताडयन्ति द्विजेन्द्रांश्च शूद्रा राजोपजीविनः।
कूर्मपुराण, १०, २६, १७।
आर०सी० हाजरा, पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० २०६।

४ कार्ल ए० विट्फोगेल, 'ओरियन्टल डेस्पोटिज्म', पृ० ३६५।

५ ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम्।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद्दण्डं धर्मेण धारयन्॥
अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यः प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति॥
महाभारत १२, ७८, ३५ तथा ३७।

इससे यह ज्ञात होता है कि सामाजिक गतिशीलता के प्रवर्तक तत्व के रूप में राजनीतिक घटक भी सक्रिय था । कभी-कभी आर्थिक कारण राजनीतिक शक्ति के आधार के रूप में रहते होंगे । राजनीतिक घटक की सक्रियता में वृद्धि होती होगी । महाभारत के उसी पर्व में यह भी कहा गया है कि 'सम्पत्ति प्राप्त कर लेने पर लोग राज्य प्राप्त करने की इच्छा करने लगते हैं ।[१]

ब्राह्मणों के कुछ विशेषाधिकारों के छिन जाने का जो प्रसंग उपलब्ध होता है उसका कारण सम्भवतः विदेशी शासक रहे होंगे जिन्हें कट्टरवादिता में कोई आस्था नहीं थी । सम्पूर्ण जगत के म्लेच्छीभूत हो जाने की बात कई स्थलों पर कही गयी है ।[२] करभार से पीड़ित ब्राह्मणों के प्रसंग धर्मसूत्रों में प्राप्त नहीं होते हैं परन्तु कलियुग वर्णन के सन्दर्भ में ऐसे ब्राह्मणों की करुण दशा का वर्णन उपलब्ध है ।[३]

---

१ मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद्देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥
महाभारत, १२. १७६. २३ ।

२ मही म्लेच्छसमाकीर्णा भविष्यति ततोऽचिरात् ।
करभारभयाद्विप्रा भविष्यन्ति दिशो दश ॥
महाभारत ३. १८८. ७० ।

३ दस्युभिः प्रपीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः ।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिता च
महाभारत ३. १८८. ६१ ।

विदेशी शासकों के प्रभाव से रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था में उलट-फेर की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी।[1] "ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्यों का नाम भी नहीं रह जायगा युगान्त उपस्थित होने पर सम्पूर्ण लोक एक वर्ण का हो जायगा।"[2] कलियुग वर्णन के सन्दर्भ में आये इस प्रकार के अनेक प्रसंग वर्ण-व्यवस्था के विशृंखलित हो जाने का आभास देते हैं। ब्राह्मण शूद्रों का कार्य करने लगे थे तथा शूद्र धनार्जक और क्षत्रिय-धर्म से जीवन-यापन करने लगे थे।[3] ब्राह्मण यज्ञ, स्वाध्याय, पिण्डोदक तथा भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड़ सब कुछ खाने-पीने वाले हो गये थे।[4] वे जप करना छोड़ने लगे थे और शूद्र मंत्रपरायण बनने का प्रयास

---

१ विपरीते तदा लोके पूर्वरूपं क्षयस्य तत् ।

महाभारत ३, १८६, २८ ब ;

रामकृष्ण द्विवेदी, 'ए क्रिटिकल स्टडी आव द पैसेजेज डीलिंग विद द युगान्त आर द एण्ड आव काल एज', डी० डी० कोसम्बी कमेमोरेशन वाल्यूम, सम्पादक, लल्लन जी गोपाल, पृ० २८२-२८४ ।

२ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या न शिष्यन्ति जनाधिप ।
एकवर्णस्तदा लोको भविष्यति युगक्षये ॥

महाभारत ३, १८८, ४१ ।

३ ब्राह्मणाः शूद्रकर्माणस्तथा शूद्रा धनार्जकाः ।
क्षत्रधर्मेण चाप्यत्र वर्तयन्ति गते युगे ॥

महाभारत ३, १८६, २६ ।

४ निवृत्तयज्ञस्वाध्यायाः पिण्डोदकविवर्जिताः ।
ब्राह्मणाः सर्वभक्षाश्च भविष्यन्ति कलौ युगे ॥

३, १८६, २७ ।

कर रहे थे ।[१] ब्राह्मण स्वयं के लिये निर्धारित कर्मों द्वारा जीवन-यापन न कर अन्य वर्णों के कर्मों द्वारा जीविका चला रहे थे । क्षत्रिय तथा वैश्यों की स्थिति भी यही दिखायी देती है ।[२] 'शूद्र उच्च वर्णों को सम्मानहीन सम्बोधन "भो" से सम्बोधित करने लगे थे तथा ब्राह्मण उन्हें 'आर्य' कह कर सम्मान प्रदान करने की स्थिति में आ खड़े हुए थे ।[३] लोभ और मोह से घिरे हुए अन्य द्विज मिथ्या धर्म का ढोंग रच कर भिक्षा के लिये चारों दिशाओं के प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने लगे थे ।[४] राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र सभी कपटपूर्वक धर्म का आचरण करते हुए लोगों को

---

१ अथवा ब्राह्मणास्तात शूद्रा जपपरायणाः ।

महाभारत ३, १८६, २८ ।

२ न तदा ब्राह्मणाः कश्चित् स्वकर्मुपजीवन्ति ।
क्षत्रिया अपि वैश्याश्च विकर्मस्था नराधिप ।।

महाभारत ३, १८६, ३१ ।

३ युगान्ते समनुप्राप्ते वृथा च ब्रह्मचारिणः ।
भोवादिनस्तथा शूद्रा ब्राह्मणाश्चार्यवादिनः ।।

महाभारत ३, १८६, ३३ ।

४ लोभमोहपरीताश्च मिथ्याधर्मध्वजावृताः ।
भिक्षार्थं पृथ्वीपाल संकुर्वन्ते दिशोदिश ।।

महाभारत ३, १८६, ३६ ।

ठग रहे थे ।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तपस्या और सत्य से रहित हो शूद्रों के समान हो गए थे ।[2] अन्त्यज क्षत्रिय तथा वैश्य के कर्म करने लगे थे तथा क्षत्रिय, वैश्य अन्त्यावसायी के कार्य करने लगे थे ।[3] 'वृषलों के द्वारा सताये हुए ब्राह्मण अपने लिये कोई रक्षक न मिलने पर हाहाकार करते हुए पृथ्वी पर भटकने लगे तथा अत्याचारियों से डरे हुए द्विज नदी पर्वत आदि की शरण लें'।[4] इस प्रकार के वर्णन, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था के लड़खड़ा जाने का चित्र उपस्थित करते हैं । इसकी पृष्ठभूमि में विदेशी शासकों का हाथ था । 'दुष्ट.

---

१ राजानो ब्राह्मणा वैश्याः शूद्राश्चैव युधिष्ठिर ।
व्याजैर्धर्मं चरिष्यन्ति धर्मवैतंसिका नराः ।।
महाभारत ३, १८८, १४ ।

२ ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः संकीर्यन्तः परस्परम् ।
शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपः सत्य विवर्जिता ।।
महाभारत ३, १८८, १८ ।

३ अन्त्या मध्या भविष्यन्ति मध्याश्चान्तावसायिनः ।
ईदृशो भविता लोको युगान्ते पर्युपस्थिते ।।
महाभारत ३, १८८, १९।

४ हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभन्तो भविष्यन्ति ग्रसत्यानि च भुंजते ।।
'आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान्विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ।।'
महाभारत ३, १८८, ५८ तथा ६० ।

राजाओं द्वारा लगाये हुए कर के भार से पीड़ित ब्राह्मण शूद्रों के परिचारक बन जायेंगे ।[1] 'शूद्र धर्मोपदेश देंगे और ब्राह्मण उनकी सेवा में रह कर उसे सुनेंगे तथा उसी को प्रमाण मान कर उसका पालन करेंगे ।[2] 'शूद्र द्विजों की सेवा नहीं करेंगे तथा समस्त लोक का व्यवहार उलट-पलट जायगा । सभी क्रियायें क्रम के विपरीत होने लगेंगी तथा शूद्र ब्राह्मणों के साथ विरोध करेंगे ।[3] उपर्युक्त सभी सन्दर्भ विपर्यय की स्थिति प्रस्तुत करते हैं ।

राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेने के कारण व्यक्तियों और निम्न कुलों की ऊर्ध्वमुखी गतिशीलता भी प्राप्त होती है । इस प्रकार की स्थिति पहले के काल में भी रही होगी जैसा कि हम नन्दों के विषय में देखते हैं । हीन-कुल का होने के बावजूद महापद्मनन्द महान साम्राज्य का निर्माता बना । कुछ नवीन आर्थिक-परिवर्तनों तथा विदेशी आक्रमणों से सामाजिक ढांचे के डगमगा जाने के कारण यह प्रवृत्ति इस काल में विशेष क्रियाशील हो उठी थी । पुराणों में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो हाथी, घोड़े और रथ प्राप्त कर लेगा वही राजा हो जायेगा ।

---

1 दस्युभिः प्रपीडिता राजन् काका इव द्विजोत्तमाः ।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ।
धैर्यं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ।।

महाभारत ३. १८८. ४१-४२ ।

2 शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ।।
विपरीतश्च लोकोयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये ।।

३.१८८. ४३-४४ ।

3 क्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तदा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषलाः ब्राह्मणैः सह ।।

महाभारत ३. १८८. ४६ ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रवर्तक तत्व : धर्म तथा शिक्षा

बौद्ध धर्म, वैष्णव, शैव तथा अन्य छोटे-छोटे धार्मिक सम्प्रदायों ने जहां हीनवर्गीय व्यक्तियों के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया वहां इन धर्मों को अपना कर कुछ विदेशी भी भारतीय जनता में सम्मानित स्थिति के अधिकारी बने ।[१]

पश्चिमी भारत से प्राप्त गुहालेखों में ऐसे कई बौद्ध मतावलम्बी यवनों का उल्लेख मिलता है जिन्होंने बौद्ध स्तूपों, संघों तथा धर्मशालाओं के निर्माण में उदारतापूर्वक दान दिये । पूना के निकट से प्राप्त लेख में सिंहध्वज[२] नामक यवन के उपकार का उल्लेख किया गया है । `धम्म` नामक एक अन्य यवन द्वारा भी उपकार किये जाने का विवरण इसी कार्ले गुहालेख में प्राप्त होता है ।[३] ये दोनों ही यवन धेनुकाकट के बताये

---

१ धर्म-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन की बात आधुनिक सन्दर्भ में भी स्वीकार की गई है ; देखिये, एस० सी० दुबे, इण्डियन विलेज, पृ० ३४ ।

२ एपीग्रेफिआ इण्डिका, वाल्यूम ७, पृ० ५३-५५ ।
`धेनुकाकटा यवनस सिहधयान थंभो दानं`।

३ `धेनुकाकटा धंमयवनस` एपीग्रेफिआ इण्डिका, वाल्यूम ७, पृ० ५३-५५ ; लूडर्स लिस्ट, नम्बर, १०८६ ।

गये हैं । इनके नाम भी भारतीय समाज में इनके विलयन का संकेत देते हैं । जुन्नर गुफाओं में यवन दानकर्ताओं का उल्लेख प्राप्त होता है --

(१) 'यवनस इरिलस गतानं देयधम बे पोढियो'।

(२) 'यवणस चिटस गतानं भोजणमपटयो देयधम सघे'।

(३) 'यवनस चंदानं देयधम गभदार'।

इन यवनदानकर्ताओं में केवल इरिल का नाम ही विदेशी ज्ञात होता है शेष दोनों यवनों के नाम हिन्दू प्रतीत होते हैं । चिट, चित्र का तथा चन्द, चन्द्र का आभास देता है । नासिक की गुफाओं से केवल एक लेख प्राप्त हुआ है । इसमें धर्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त द्वारा प्रदत्त चैत्यगृह की चर्चा है ।[2] धर्मदेव को यवन तथा उत्तर के दत्तामित्र नामक किसी स्थान का निवासी बताया गया है ।[3] महाभाष्य के अनुसार दत्तामित्र आधुनिक सिन्धु के निकटस्थ सौवीर में कहीं स्थित है जिसे डेमेट्रियस द्वारा संस्थापित अनुमानित किया गया है । मेनाण्डर की बौद्ध अनुयायियों में लोकप्रियता का प्रमाण 'मिलिन्दपन्ह' के रूप में उपस्थित है ।

---

१ आर्क्यालोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, वाल्यूम ४, पृ० ९२, नम्बर ५, ८, १६ ।

२ एपीग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम ८, पृ० ९० ।
'सिधं ओतराहस दतामितियकस योणकस धंमदेव पुतस इंद्राग्निदतस धंमात्मा इमं लेणं'।

३ वही ।

बौद्ध धर्म के माध्यम से केवल यूनानियों ने ही 'धर्मात्मा' कहलाने का सम्मान नहीं पाया अपितु शक तथा कुषाणों को भी इसी रीति से हम भारतीय समाज में उच्च स्थिति प्राप्त करते हुए देखते हैं । अधिकांश शक शासक बौद्ध बन गए थे । स्पैलिरिसेज़, एज़िलिसेज़, मोअस, स्पैलहोरिस, स्पैलगदमीज़ ने सिक्कों पर स्वयं को 'ध्रमिक' कहा है जिसका तात्पर्य सम्भवतः बौद्ध धार्मिक से है ।[1] उनके सिक्कों पर चक्र का प्रतीक भी निर्मित है जो बुद्ध के धर्म चक्र का स्मरण दिलाता है । नासिक से प्राप्त अभिलेख, जो स्वयं को ईश्वरसेन से सम्बन्धित करता है, 'विष्णुदत्ता' नाम्नी स्त्री का उल्लेख करता है जो बौद्ध उपासिका थी । विष्णुदत्ता ने रोगियों की दवा के निमित्त दान प्रदान किया था । यह शकनिका विष्णुदत्ता अग्निवर्मन शक की पुत्री, गणपक रेभिल की पत्नी तथा गणपक विश्ववर्मन की जननी कही गई है ।[2]

क्षत्रप परिवारों में से दो पूर्णतया बौद्ध मतावलम्बी बन गये थे । मथुरा-लायन-कैपिटल अभिलेख में महाक्षत्रप राजुल की पत्नी

----

१ डी० आर० भण्डारकर, 'फारेन एलीमेण्ट इन द हिन्दू पापुलेशन', द इण्डियन ऐंटीक्वेरी, वाल्यूम ४०, जनवरी, १९११, पृ० १३ ।

२ .... शकाग्निवर्मण: दुहित्रा गणपकस्य रेभिलस्य भार्यया, गणपकस्य च विश्ववर्मस्य मात्रा, शकनिकया उपासिकया विष्णुदत्तया... भैषजार्थं अक्षयनीवी प्रयुक्ता ।

एपीग्राफिआ इण्डिका, वाल्यूम ८, पृ० ८२ ।

नवपिन्कस द्वारा बौद्ध स्तूप के निर्माण का उल्लेख है ।[१] इसी परिवार के अन्य सदस्यों अबुलोठा, स्युबर तथा कल इत्यादि के दानों का उल्लेख भी इसी लेख में मिलता है ।[२] तक्षशिला के क्षत्रप परिवार के लियाक कुसुलक के पुत्र पतिक को तक्षशिला ताम्रपत्र में एक बौद्ध स्तूप का निर्माणकर्ता तथा स्तूप के प्रबन्ध के लिए भूमिदान करने वाला बताया गया है ।[३]

बौद्ध धर्म अपनाने वाले कुषाणों में 'कनिष्क' का नाम लोकविश्रुत है । उसके सिक्कों पर बुद्ध आकृति बैठी हुई तथा खड़ी हुई मिलती है ।[४] उसके राज्यकाल में बौद्धों की संगीति का आयोजन किया गया जिसमें बौद्ध भिक्षुओं ने महायान का सही स्वरूप निर्धारित किया । कनिष्क के अभिलेख उसे निःसन्देहात्मक रूप से बौद्ध सिद्ध करते हैं ।[५] राजतरंगिणी

---

१ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, पृ० ११३ ।

२ वही ।

३ वही, पृ० ११७ ।

४ जे० एन० बनर्जी, डेवलेपमेन्ट आव हिन्दू आइकनोग्रेफ़ी, पृ० २५९, भास्कर चट्टोपाध्याय, द एज आव द कुषाणज़, ए न्यूमिस्मैटिक स्टडी, पृ० १८२ ।

५ सेलमेला, कुर्रम कापर कैस्केट तथा पेशावर कैस्केट अभिलेख उसके बौद्ध होने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ।

डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, पृ० १४४ ।

के अनुसार कनिष्क ने कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था और अनेक बौद्ध विहार बनवाये थे। कनिष्क से भी पहले कुछ कडफिसेस के सिक्कों पर उसे `सच-धम्म-थित' (सत्य-धर्म-स्थित) कहा गया है।[1] सम्भवतः कुषाणों में पहले पहल उसने ही बौद्ध धर्म अंगीकार किया होगा।

वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मतों को स्वीकार कर लेने वाले विदेशियों के उदाहरण भी कम नहीं हैं। बहुत समय तक इतिहासकारों का ऐसा अनुमान था कि ग्रीक केवल बौद्ध ही हुए थे। परन्तु द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व के, मालवा में ग्वालियर के समीप स्थित बेसनगर से प्राप्त लेख में एक गरुड़ध्वज के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है। लेख के अनुसार इस गरुड़ध्वज का निर्माण `दिय' के पुत्र `हेलियोडोर' ने देवताओं के ईश्वर वासुदेव के सम्मान में स्थापित किया था।[2] हेलियोडोर को यवनराजदूत कहा गया है। ग्रीक होने के बावजूद हेलियोडोरस हिन्दू तो बना ही साथ ही उसने वैष्णव धर्म भी अंगीकार कर लिया। लेख में उसके लिये दी गयी `भागवत' उपाधि हिन्दू समाज में उसकी सम्मानपूर्ण स्थिति की द्योतक है। यह कल्पना करना कठिन है कि कृष्ण वासुदेव के `भागवत' अनुयायियों द्वारा वह शूद्र माना जाता होगा।[3]

---

१ ब्रिटिश म्यूज़ियम कैटलाग, २५, ५ ।

२ जर्नल आफ बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम २३, पृ० १०४ ; डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, पृ० ९० ।

३ डी० डी० कोसम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० २४९ ।

काठियावाड़ तथा मालवा के क्षत्रप एवं दक्कन के क्षत्रपों के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि ये दोनों वंश ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे । नासिक से प्राप्त एक लेख में कहा गया है --

'सिद्धं राज्ञः क्षहरातस्य क्षत्रपस्य नहपानस्य जामात्रा दीनीकपुत्रेण उषवदातेन त्रिगोशतसहस्रदेन .... देवताभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च षोडशग्रामदेन अनुवर्षं ब्राह्मणशतसाहस्रीभोजापयित्रा प्रभासे-पुण्यतीर्थे ब्राह्मणेभ्यः अष्टभार्याप्रदेन .... '।[1]

इस लेख में जिस दानकर्ता का उल्लेख है वह उषवदात है जो ऋषभदत्त की ओर संकेत करता है । नासिक से ही प्राप्त एक दूसरे लेख में उसकी पत्नी का नाम 'दक्षमित्रा' (दत्तमित्रा) कहा गया है ।[2] ये दोनों ही नाम हिन्दू प्रतीत होते हैं । नासिक से प्राप्त उपर्युक्त अभिलेख में उसके पिता दीनिक तथा श्वसुर नहपान क्षहरात कहे गये हैं । क्षहरात अभारतीय शब्द है । ये सभी तथ्य उषवदात अथवा ऋषभदत्त के विदेशी होने

---

१ एपीग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम ८, पृ० ७८ ।

२ एपीग्रैफिया इण्डिका, वाल्यूम ८, पृ० ८५-६ ; डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, पृ० १६४ ;

'दीनिकपुत्रस उषवदातस कुटुंबिनिय दखमित्राय देयधम ओवरको'।

के समर्थक हैं। नासिक गुहालेख में इसे 'त्रिगोशतसहस्रद' अर्थात् ३००,००० गायों को दान करने वाला कहा गया है। उसने देवताओं तथा ब्राह्मणों को १६ गांव दान में दिये थे तथा प्रतिवर्ष वह १००,००० ब्राह्मणों को भोजन कराता था।[1] डी० आर० भण्डारकर ने ठीक ही लिखा है कि उसका यह दान ग्वालियर के महाराजा सिन्धिया द्वारा किये गये ब्राह्मण भोज का स्मरण दिलाता है।[2] उसके द्वारा किये गए ये दान तथा भोज इस बात के प्रतीक हैं कि वह ब्राह्मण धर्म का कट्टर अनुयायी था।

ब्राह्मण धर्मावलम्बी शासकों का दूसरा वंश काठियावाड़ में शासन कर रहा था। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इस राजवंश में चष्टन के उपरान्त सभी राजाओं के नाम हिन्दू हैं। जयदामन तथा रुद्रदामन के 'जय' तथा 'रुद्र' में हिन्दुत्व का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

कुषाणवंशी शासक विम कडफिसेज़ ब्राह्मण-धर्मावलम्बी था। उसके सिक्कों के पृष्ठभाग पर 'महाराजस-राजाधिराजस-सर्वलोग-ईश्वरस-महिश्वरस-विम कथ्फिसस त्रतरस' उत्कीर्ण मिलता है।[3]

---

१ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, पृ० १६५-१६६।

२ डी० आर० भण्डारकर, 'फारेन एलीमेन्ट इन द हिन्दू पापुलेशन', द इण्डियन ऐंटीक्वेरी, जनवरी, १९११, पृ० १४।

३ स्मिथ्स कैटेलाग आफ द क्वायन्स इन द इण्डियन म्यूज़ियम, कलकत्ता, पृ० ६८; भास्कर चट्टोपाध्याय, द एज आफ द कुषाणाज़, ए न्यूमिस्मेटिक स्टडी, पृ० २११-१२।

'महिश्वरस' का समीकरण माहेश्वरस्य के साथ किया गया है ।[1] इस शब्द से वह शैव सिद्ध होता है । सिक्कों की दूसरी ओर चित्रित नन्दी[2] की आकृति से उसके शैव होने का प्रमाण मिलता है । यदि कोई सन्देह रह भी जाता है तो वह उस मानव-आकृति से स्पष्ट हो जाता है जो त्रिशूल तथा चीते की खाल के साथ अंकित है ।[3] हुविष्क के सिक्कों पर 'स्कन्दो' (स्कन्द), 'महसेनो' (महासेनो), 'कोमारो' (कुमार), 'विज़ागो' (विशाख) तथा 'ओएशो' (शिव) के चित्र मिलते हैं ।[4] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी देवता ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित थे । सिक्कों पर इनका उल्लेख हुविष्क के ब्राह्मणधर्मावलम्बी होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है । हुविष्क के एक ताम्र सिक्के पर गणेश का उल्लेख भी मिलता है। अन्तिम कुषाणवंशी राजा वासुदेव की मुद्राओं पर भी शिव और नन्दी की आकृतियां उत्कीर्ण हैं जो उसके शैव होने का संकेत उपस्थित करती हैं ।[5] वासुदेव का नाम भी पूरी तरह उसके भारतीय समाज में सम्मिलन का प्रतीक है ।[6]

---

१ डी० सी० सरकार, सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स, भाग १, पृ० १२५ ।

२ ब्रिटिश म्यूज़ियम कैटेलाग, पृ० २५, ७ ।

३ भास्कर चट्टोपाध्याय, द एज ऑव द कुषाणज़, ए न्यूमिस्मैटिक स्टडी, पृ० २२६ ।

४ जे० एन० बनर्जी, डेवलेपमेन्ट ऑव हिन्दू आइकनोग्राफी, पृ० १४६ ; भास्कर चट्टोपाध्याय, वही, पृ० १७८ ।

५ भास्कर चट्टोपाध्याय, द एज ऑव द कुषाणज़, ए न्यूमिस्मैटिक स्टडी, पृ० १४६ ।

६ डी०आर० भण्डारकर, 'फारेन एलीमेण्ट्स इन हिन्दू पापुलेशन, द इण्डियन

धर्म के माध्यम से हीन वर्ण का भी कुछ उत्कर्ष सम्भव हुआ और उन्हें कुछ नवीन धार्मिक अधिकार भी प्राप्त हो गये । शूद्रयाजकों[१] का उल्लेख मनुस्मृति में प्राप्त होता है । मनु ने धर्मोपदेश देने वाले शूद्र[२] को दण्ड देने की जो बात कही है उसके पीछे उनकी धर्मज्ञता ही झलकती है ।

पहले-पहल इसी काल में इस बात का उल्लेख मिलता है कि उत्तम धर्म यदि चाण्डाल से भी प्राप्त होता हो तो उसे ग्रहण करना चाहिये ।[३] कुछ इसी प्रकार की बात महाभारत के शान्तिपर्व में भी कही गयी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा नीच पुरुष से भी यदि श्रेष्ठ ज्ञान मिलता हो तो वह ग्रहण करने योग्य बताया गया है ।[४] पहले पहल महाभारत के शान्तिपर्व में ही शूद्र (चारों वर्ण) वेद सुनने के अधिकारी

---

१ _मनु०_ ३, १७८, १८१ ।

२ _मनु०_ ८, २६६ ।

३ _मनु०_ २, २३८ ।

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।

४ प्राप्यं ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा,
वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम् ।
श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं,
न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम् ।।
_महाभारत_, १२. ३१८, ८५ ।

बताये गये ।[1] सभी वर्णों को ब्रह्मस्वरूप ही माना गया है तथा यह भी कहा गया कि ब्रह्म से भिन्न कोई भी नहीं है ।[2] यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म के पैरों से उत्पन्न होने के कारण यहां वे हेय दृष्टि से नहीं देखे गये अपितु ब्रह्म का स्वरूप ही समझे गये ।

पंचमहायज्ञों के सम्पादन का तथा दान का अधिकार भी शूद्रों को प्राप्त हो गया ।[3] पैजवन शूद्र ने यज्ञ का सम्पादन कर १००,००० पूर्णपात्र दान किये थे ।[4] श्रद्धा रखने वाले सभी वर्णों को यज्ञ करने का अधिकारी बताया गया ।[5] शान्ति पर्व में ही याज्ञवल्क्य तथा बृहस्पति ने उन्हें चान्द्रायण तथा प्राजापत्य प्रायश्चित्त का अधिकार भी दिया ।[6] बृहस्पति ने शूद्रों को चूड़ाकर्म तथा कर्णवेधन संस्कार से भी अधिकृत किया ।[7] याज्ञवल्क्य ने मनु के समान (११. ४२) शूद्र व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा ।[8]

---

१ श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत् स्मृतम् ॥

महाभारत, १२. ३१४. ४५-४६ ।

२ 'सर्वे वर्णा नान्यथा वेदितव्याः'

महाभारत, १२. ३०६. ८७ ।

३ मनु० ३. ६६. ७० ; याज्ञ० १. १२१ ; महाभारत १२, ६०. ३७ ; मार्कण्डेय पु० २८, ७-८ । ब्रह्माण्ड पु० , ३. १२. १६ ।

४ महाभारत, शान्तिपर्व ६०, ३७-३८ ।

५ वही, ६०, ३९-४२ ; पृ० ५१-५२ ।

६ याज्ञ० , ३. २६२ ; बृ०, प्रायश्चित्त, ६० ।

७ बृ०, संस्कार, २०१, १५४ ।

८ आर० एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २७३ ।

श्राद्ध करने का अधिकार शूद्रों को पहले-पहल याज्ञवल्क्य ने दिया जिसकी पुनरावृत्ति वायु तथा मत्स्यपुराण में भी मिलती है ।[1]

इस काल में शूद्रों के उत्कर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण दान देने के अधिकार में दिखायी पड़ता है ।[2] याज्ञवल्क्य से पहले दान के विभिन्न प्रकार तथा दान की इतनी अधिक प्रशंसा नहीं मिलती है । याज्ञवल्क्यस्मृति में पूरा का पूरा एक प्रकरण ही दान से सम्बन्धित है । बृहस्पति ने शूद्रों को दान लेने का अधिकारी भी माना है ।[3]

वैष्णव तथा शैव धर्म ने भी शूद्रों के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया । वेदों में पारंगत ब्राह्मणों द्वारा भी शूद्र भक्त साक्षात विष्णु ही समझा गया ।[4] तप से उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति की बात महाभारत के शान्ति पर्व (२६६.१२-१६) में कही गयी है ।

---

१ याज्ञ० १, १२१ ; वायु पु० २, १३, ४६ ;
मत्स्य० पु० १७, ६३-६४ ; १७, ७० ।

२ मत्स्य पु० १७, ७१ ; ६१, ३१-३२ ; मार्क० पु० २८, ३-८ ; आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० ७२ ।

३ बृ०, संस्कार, २८८ ; उद्धृत, आर० एस० शर्मा, शूद्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ० २७३ ।

४ महाभारत, १२, २८५, २८ ।

भागवत पुराण में कहा गया है कि "ब्राह्मण हो चाहे श्वपाक, भगवद्भक्ति से वह पवित्र हो जाता है।"[1] सच्ची भक्ति रखने वाला श्वपाक सच्ची भक्ति न जानने वाले सर्वगुण सम्पन्न ब्राह्मण से श्रेष्ठ माना गया।[2] कृष्ण, नारायण तथा वासुदेवोपासना से वे मुक्त हो सकते थे।[3] महापुरुष ईश्वर का नाम केवल एकबार लेने वाला हीन व्यक्ति बन्धनमुक्त हो सकता था।[4] महाभारत के अनुसार विष्णु के शूद्र भक्त का अनादर करने वाले दस कोटि वर्ष तक नरक के भोगी बनते थे।[5]

वायु पुराण के अनुसार स्त्रियां तथा शूद्र यदि ब्रह्म-शिव के संघर्ष का आख्यान सुनते थे तो वे शैव लोक में स्थान प्राप्त करते थे।[6] शिव के शूद्र भक्त को गणपति का स्थान देने की बात वायुपुराण में कही गयी।[7]

---

१ भागवत पु०, ७. ७. ५४-५५ ।

२ भागवत पु०, ३. ३३. ७ ।

३ भगवद्गीता ९. ३२, भागवत पु०, ७. ७. ५४-५५ ; ११. ५. ४ ।

४ भागवत पु० ५. १. ३५ तु० महाभारत, आश्वमेधिक पर्व ११७. २ ।

५ महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, ११६. २१ ।

६ वायु० पु०, १. ३०. १८ ।

७ वही, २. ३६. ३५२-५४ ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में शूद्रों के अध्यापकों का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इससे ज्ञात होता है कि हीन वर्ण के व्यक्ति भी शिक्षा प्राप्त करने लगे थे। वेद, व्याकरण, मीमांसा, सांख्य आदि में प्रवीण शूद्रों की उपस्थिति का संकेत वज्रसूची में प्राप्त होता है।[2] शूद्र अथवा नीच से भी ज्ञान प्राप्ति की बात,[3] जिसका उल्लेख पीछे भी किया जा चुका है, हीनवर्णीय व्यक्तियों के शैक्षिक अधिकारों की ओर इंगित करती है।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह स्पष्ट है कि धर्म तथा शिक्षा ने भी गतिशीलता के संवरण में विशेष योगदान किया।

सामाजिक गतिशीलता के प्रवर्तक तत्त्व के रूप में विवाह की अवधारणा

पूर्ववर्ती काल के समान इस काल के ग्रन्थों में भी ऐसे नियम निर्धारित किये गये जिनके अनुसार हीन-वर्णीय स्त्रियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करने वाले व्यक्ति का सामाजिक अपकर्ष हो जाता था। मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में मनु ने इस बात का उल्लेख किया है कि 'हीन वर्ण की स्त्री से विवाह करने के परिणामस्वरूप द्विज सन्तानसहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं।[4] मनु के अनुसार शूद्रा के साथ सम्बन्ध रखने पर

---

१ याज्ञ० १, २२१ ।

२ उद्धृत, आर० एस० शर्मा, शूद्रज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ०

३ महाभारत १२, ३०६, ८५ ।

४ मनु० ३, १५ ।

ब्राह्मण विशेष रूप से अधोगति को प्राप्त हो ब्राह्मणत्व से गिर जाता था ।[1] मनुस्मृति में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है कि शूद्र स्त्री के साथ किये गये देवकार्य और पितृकार्य में हव्य-कव्य को देवता तथा पितृगण ग्रहण नहीं करते थे ।[2] पतितों के साथ विवाह करने वाला भी तुरन्त पतित हो जाता था ।[3] वशिष्ठ की पत्नी अक्षमाला का उदाहरण देते हुए मनु ने सामाजिक उत्कर्ष की बात भी कही है ।[4] निरन्तर सात जन्मों तक अपने से उच्च वर्ण में विवाह करने वाली शूद्रा कन्या की सन्तान ब्राह्मण हो जाती थी ।[5] इस नियम का पालन किस सीमा तक हो पाता था यह सन्देह का विषय है ।

परस्त्रीगमन से दूषित व्यक्तियों की गणना पातकियों में की गयी है,[6] जो समाज से तब तक के लिये बाहर कर दिये

---

१ मनु० ३, १७ ।

२ मनु० ३, १८ ।

३ मनु० ११, १८० ।

४ मनु० ९, २३-२४ ; ब्यूलर, लाज़ आफ मनु, पृ० ३३१ ।

गोविन्द के मतानुसार अक्षमाला अथवा अरुन्धती चाण्डाली थी ।

५ शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते ।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात् ।
मनु, १०, ६४ ।

६ मनु० ९, ५६-६३ ।

जाते थे जब तक वे निर्धारित प्रायश्चित्त नहीं कर लेते थे । उनके लिये बनाया गया दण्डविधान[1] सामाजिक गतिशीलता को रोकने का प्रयास भी हो सकता है ।

मिश्रित जातियां

अनुलोम प्रतिलोम विवाहों के द्वारा मिश्रित जातियों की उत्पत्ति की अवधारणा, जिसका उल्लेख धर्मसूत्रों के काल में ही मिलने लगता है, मनु ने भी स्वीकारी और इस क्रम में कुछ नवीन जातियां भी सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित की गयीं । मनु ने अपने से अनन्तर वर्ण की स्त्रियों में द्विजों द्वारा उत्पन्न सन्तान को पिता की जाति से निकृष्ट माना ।[2]

अनुलोम क्रम में मनु ने अम्बष्ठ को ब्राह्मण पिता तथा वैश्या माता की सन्तान, निषाद अथवा पारशव को ब्राह्मण पिता तथा शूद्रा माता की सन्तान बताया ।[3] क्षत्रिय तथा शूद्रा की सन्तान उग्र कही गयी ।[4] याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न सन्तान को मूर्धावसिक्त, वैश्या से अम्बष्ठ तथा शूद्रा से उत्पन्न सन्तान को

---

१ मनु० ८. ३५३, ३५४, ३५६, ३५७, ३६४, ३६६, ३७१, ३७४ ।

२ मनु० १०. ६ ।

३ मनु० १०. ८ ।

४ मनु० १०. ९ ।

निषाद या पारशव बताया । क्षत्रिय पुरुष द्वारा विवाहिता वैश्या से उत्पन्न सन्तान माहिष्य, शूद्रा से उत्पन्न सन्तान उग्र कही गयी ।वैश्य द्वारा शूद्रा से उत्पन्न सन्तान को याज्ञवल्क्य ने करण की संज्ञा दी ।[1]

प्रतिलोम सन्ततियों में मनु ने क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान को सूत, वैश्य द्वारा क्षत्रिया में उत्पन्न संतान को मागध, वैश्य द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान को वैदेहक का नाम दिया ।[2] शूद्र द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान चाण्डाल, क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान क्षत्ता तथा वैश्या में उत्पन्न सन्तान आयोगव कही गयी ।[3] याज्ञवल्क्य ने इस क्रम में क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न संतान को सूत, वैश्य द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान को वैदेहक, शूद्र द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल का नाम दिया । वैश्य द्वारा क्षत्रिया में उत्पन्न सन्तान वैदेहक, शूद्र द्वारा क्षत्ता तथा वैश्या में शूद्र द्वारा उत्पन्न सन्तान आयोगव कही गयी ।[4]

उपर्युक्त वर्णसंकरों के सम्मिश्रण से कुछ अन्य जातियों की उत्पत्ति बतायी गयी । ब्राह्मण द्वारा उग्र कन्या से उत्पन्न पुत्र 'आवृत', ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न पुत्र 'आभीर', और ब्राह्मण से आयोगवी

---

१ याज्ञ० १, ९१-९२ ।

२ मनु० १०, ११ ।

३ मनु० १०, १२ तथा १६ ।

४ याज्ञ० १, ९४-९५ ।

में उत्पन्न पुत्र `धिग्वण` होता था। निषाद द्वारा शूद्र कन्या में उत्पन्न पुत्र `पुक्कस` तथा शूद्र द्वारा निषाद कन्या में उत्पन्न पुत्र `कुक्कुट` था। क्षत्ता द्वारा उग्र कन्या में उत्पन्न पुत्र श्वपाक तथा विदेह द्वारा अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न `वेण` कहा गया।[१] दस्यु द्वारा आयोगवी से उत्पन्न सन्तान `सैरिन्ध्र`, वैदेह द्वारा आयोगवी से उत्पन्न सन्तान `मैत्रेयक`, निषाद द्वारा आयोगवी से उत्पन्न सन्तान `मार्गव` अथवा दास होती थी जो नाव चला कर जीवनयापन करती थी। कहीं-कहीं इसे `कैवर्त` भी कहा गया है।[२] निषाद् द्वारा वैदेही स्त्री में `कारावर` नाम की चर्मकार जाति तथा वैदेह द्वारा कारावरी तथा निषादी से `अंध्र` तथा `मेद` जाति की उत्पत्ति बतायी गयी है। चांडाल के द्वारा वैदेही स्त्री से उत्पन्न सन्तान को `पांडुसोपाक` तथा निषाद द्वारा वैदेही स्त्री से उत्पन्न सन्तान को `अहिंडक` कहा गया।[३] चांडाल द्वारा पुक्कस स्त्री से `सोपाक` तथा चाण्डाल द्वारा निषादी से सर्वाधिक निकृष्ट जाति `अन्त्यावसायिन` जन्म लेती थी।[४]

उपर्युक्त वर्णित विभिन्न जातियों की अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों से उत्पत्ति की अवधारणा में कल्पना का अंश अधिक

---

१ मनु० १०.१५, १८, १९ ।

२ मनु० १०, ३२, ३३, ३४ ।

३ मनु० १०, ३७ तथा ३८ ।

४ मनु० १०, ३८, ३९ ।

प्रतीत होता है । इस अवधारणा के निर्धारण के पीछे वर्ण-संघर्ष की सम्भावना को कम करने का यत्न भी देखा जा सकता है । वास्तव में इन वर्णों को अपनी हीन स्थिति में ही सन्तुष्ट रखने का यह एक अच्छा माध्यम था जिससे वे अपनी हीन स्थिति का एक कल्पित कारण प्राप्त कर कुछ समय के लिये मौन अवश्य हो गये होंगे ।

इस सम्बन्ध में विवेकानन्द झा का मत पूर्णरूपेण उपयुक्त प्रतीत होता है कि इन मिश्रित जातियों में तीन प्रकार के लोग सम्मिलित थे । उनमें कुछ सांस्कृतिक स्तर पर पिछड़ी हुई अनार्य जनजातियां (Tribes) थीं, जो पूर्ण रूप से आर्य-रीति-रिवाजों को नहीं अपना सकी थीं। कुछ व्यावसायिक वर्ग सम्मिलित थे, जिनकी स्थिति समाज में हीन थी । कुछ विदेशी वर्ग थे, जो ब्राह्मण धर्म को न मानने के कारण हेय दृष्टि से देखे जाने लगे थे ।[1]

मिश्रित जातियों में कुछ के नाम क्षेत्रीय प्रतीत होते हैं; इनमें अम्बष्ठ, मागध तथा वैदेहक का नाम लिया जा सकता है जो अम्ब, मगध तथा विदेह पर आधारित प्रतीत होता है ।[2] कोसम्बी ने अम्बष्ठ को

---

१ <u>जर्नल आफ द इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ द ओरियन्ट</u>, वाल्यूम ३, पार्ट ३, १९७०, पृ० २८७ ।

२ डी०डी० कोसम्बी, 'द बेसिस आफ ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्ट्री I', <u>जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी</u>, ७५, १९५५, पृ० ३८ ; रोमिला थापर, 'सोशल मोबिलिटी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया विद स्पेशल रिफ़रेन्स टु एलीट ; इण्डियन सोसायटी ; हिस्टारिकल प्रोबिंग्स, पृ० १०० ।

जनजाति (Tribe) के रूप में स्वीकार किया है जिसका कार्य चिकित्सा करना था । उग्र भी उनके अनुसार जनजाति थी ।

वर्णसंकरों में अनुलोम सन्तानों का स्थान प्रतिलोमजों से ऊपर बताया गया है । तीनों द्विजातियों में अनन्तर वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र द्विजधर्मी तथा उपनयन के अधिकारी थे ।[1] प्रतिलोम क्रम में उत्पन्न सभी जातियों को शूद्र बताया गया है । प्रतिलोम क्रम में भी वैश्य द्वारा क्षत्रिया की सन्तान, क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी की सन्तान शूद्र की प्रतिलोम सन्तानों से श्रेष्ठ मानी गयी ।[2]

अनुलोमजों में अम्बष्ठ उग्र तथा प्रतिलोमजों में क्षत्ता तथा वैदेह को स्पर्श के योग्य बताया गया ।[3] वैदेह जाति के द्वारा कारावरी तथा निषादी से उत्पन्न अन्ध्र तथा मेद का निवास-स्थान गांव के बाहर निर्धारित किया गया,[4] जो उनकी अस्पृश्यता का संकेत देता है । चाण्डाल तथा श्वपाक का स्थान निकृष्टतम तथा निवास गांव के बाहर था ।[5]

---

१ मनु० १०, ४१ ।

२ मनु० १०, ४१ तथा १०, २८ ।

३ मनु० १०, १३ ।

४ मनु० १०, ३६ ।

५ मनु० १०, ५१ ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रवर्तक तत्व : स्वधर्मपालन तथा स्वधर्मप्रमाद की अवधारणा

प्रस्तुत काल में स्वधर्मपालन पर विशेष बल दिया गया है । अपने वर्ण-धर्म के पालन से उत्कर्ष तथा वर्णेतर-धर्म की अवज्ञा से अपकर्ष की धारणा विशेषरूप से परिलक्षित होती है । वेदों को पढ़ाना यजमान का यज्ञ कराना और दान लेना ब्राह्मणों की जीविका के साधनभूत कर्म बताये गये हैं । सत्य, मनोनिग्रह, तप और शौचाचार का पालन ब्राह्मण का सनातन धर्म था । रस तथा धान्य का विक्रय ब्राह्मण के लिये विशेषरूप से वर्जित था ।[१] क्षत्रिय का सबसे पहला धर्म प्रजा का पालन था । राजा के परम धर्म में इन्द्रियसंयम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र-कर्म, दान, अध्ययन, यज्ञोपवीतधारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्यों का सम्पादन, पोष्यवर्ग का भरण-पोषण, अपराध के अनुसार दण्ड, व्यवहार में न्याय की रक्षा और सत्य-भाषण में अनुरक्ति का परिगणन किया गया है ।[२] वैश्यों के धर्म में पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, अग्निहोत्रकर्म, दान अध्ययन, सदाचार का पालन, अतिथि सत्कार, त्याग तथा ब्राह्मणों के स्वागत की गणना की गयी है ।[३] शूद्र का परम धर्म तीनों वर्णों की सेवा बताया गया है ।[४]

---

१ *महाभारत*, १३, १२८, ३५ से ४० तक ।

२ *महाभारत*, १३, १२८, ४६ से ५२ तक ।

३ *महाभारत*, १३, १२८, ५२ से ५५ तक । १३, १३१, २२ ।

४ *महाभारत*, १३, १२८, ५६ ।

यह स्पष्ट कहा गया है कि पाप कर्म करने से द्विज अपने स्थान से गिर जाता था ।[1] यदि ब्राह्मण, ब्राह्मणत्व का त्याग कर क्षात्रिय धर्म का सेवन करता था तो वह अपने धर्म से भ्रष्ट हो क्षात्रिय योनि में जन्म लेता था ।[2] इसी प्रकार वैश्य का कार्य करने वाला ब्राह्मण वैश्य-योनि में तथा शूद्र का कार्य करने वाला शूद्र-योनि में जन्म लेता था ।[3] क्षात्रिय अथवा वैश्य भी यदि अपने-अपने वर्णधर्म का पालन करने के स्थान पर शूद्र के कर्म को अपनाते थे तो वे वर्णसंकरों के समान हो जाते थे तथा दूसरे

---

१ 'कर्मणा दुष्कृतेनेह स्थानाद् भ्रश्यति वै द्विजः ।
ज्येष्ठं वर्णमनुप्राप्य तस्माद् रक्षेद् वै द्विजः ।।'
महाभारत १३, १३१, ७ ।

२ 'यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते ।
ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते ।।'
महाभारत १३, १३१, ८ ।

३ वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ।।
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् ।
स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते ।।
तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः ।
ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते ।।'
महाभारत, १३, १३१, १०-१२ ।

जन्म में शूद्र की योनि में जन्म लेते थे[१]। परन्तु आपद्धर्म का सिद्धान्त भी था, जिसके अनुसार आपत्तिकाल में द्विज अपने से निम्न वर्ण का तथा शूद्र वैश्य वर्ण का कार्य कर सकता था।

जिस प्रकार स्वधर्मप्रमाद से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का अपकर्ष सम्भव था उसी प्रकार स्वधर्मपालन एवं शुभकर्मों के आचरण से शूद्र का उत्कर्ष सम्भव था। पवित्र कर्मों के अनुष्ठान से अपने चित्त को शुद्ध बना देने वाला जितेन्द्रिय शूद्र द्विज की भाँति सेव्य बताया गया है[२]। कहीं-कहीं पर उसे द्विजाति से भी बढ़ कर सम्मान के योग्य कहा गया है[३]। शूद्र के लिये कहा गया है कि "यदि वह अपने सभी कर्मों को विधिपूर्वक सम्पन्न करे, अपने से उच्च वर्णों की यत्नपूर्वक परिचर्या करे, सदा सन्मार्ग पर स्थिर रहे, देवताओं और द्विजों का सत्कार करे, सबके आतिथ्य

---

१ क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्म निषेवते॥
स्वस्थानात् स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः॥
महाभारत १३, १३१, १३-१४।

२ कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः।
शूद्रो पि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माब्रवीत् स्वयम्॥
महाभारत, १३, १३१, ४७।

३ स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रे पि तिष्ठति।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः॥
महाभारत, १३, १३१, ४८।

का व्रत है, नियमपूर्वक रह कर नियमित भोजन करे, स्वयं शुद्ध रह कर शुद्ध पुरुषों का ही साथ करे, अतिथि-सत्कार और कुटुम्बी जनों के भोजन से बचे हुए अन्न का आहार करे तो वह शूद्र वैश्यत्व को प्राप्त हो जाता है।[1] यदि 'वैश्य सत्यवादी, अहंकारशून्य, निर्द्वन्द्व, शान्ति के साधनों का ज्ञाता, स्वाध्यायपरायण और पवित्र हो कर नित्य यज्ञ करे, ब्राह्मणों का सत्कार करते हुए सभी वर्णों की उन्नति चाहे, गृहस्थ के व्रत का पालन करते हुए प्रतिदिन दो ही समय भोजन करे, यज्ञशेष अन्न का ही आहार करे, अहंकारशून्य होकर विधिपूर्वक आहुति देते हुए अग्निहोत्र कर्म का सम्पादन करे, सबका आतिथ्य सत्कार करके अवशिष्ट अन्न का ही आहार करे, तो वह वैश्य महान् क्षत्रिय कुल में जन्म लेता है।....... धर्मानुसार अपने वर्ण धर्म का पालन करने वाला क्षत्रिय, ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न, संस्कारयुक्त तथा वेदों का पारंगत विद्वान् ब्राह्मण

---

१ 'शूद्रकर्माणि सर्वाणि यथान्यायं यथाविधि ।
शुश्रूषां परिचर्यां च ज्येष्ठे वर्णे प्रयत्नतः ।।
कुर्यादविमनाः शूद्रः सततं सत्पथे स्थितः ।।
दैवतद्विजसत्कर्ता सर्वातिथ्यकृतव्रतः ।
ऋतुकालाभिगामी च नियतो नियताशनः ।।
चौक्षश्चौक्षजनान्वेषी शेषान्नकृतभोजनः ।
वृथामांसान्यभुञ्जानः शूद्रो वैश्यत्वमृच्छति ।।'
महाभारत, १३, १३१, २७-२९ ।

होता था।"[1]

स्वधर्मपालन से जन्मान्तर में शूद्र के ब्राह्मण हो जाने[2] की अथवा स्वधर्मप्रमाद से जन्मान्तर में द्विजों के शूद्र[3] हो जाने की धारणा कल्पित भले ही हो परन्तु उत्तम कर्मों एवं सदाचरण द्वारा हीनकुलोत्पन्न व्यक्तियों की बढ़ी हुई प्रतिष्ठा के उदाहरण अप्राप्य नहीं हैं। उत्तम चरित्र द्वारा तुलाधार नामक वैश्य, धर्मव्याध नामक शूद्र तथा

---

१ सत्यागनहंवादी निर्द्वन्द्वः शमकोविदः।
यजते नित्ययज्ञैश्च स्वाध्यायपरमः शुचिः॥
दान्तो ब्राह्मणसत्कर्ता सर्ववर्णबुभूषकः।
गृहस्थव्रतमातिष्ठन् द्विकालकृतभोजनः॥
शेषाशी विजिताहारो निष्कामो निरहंवदः।
अग्निहोत्रमुपासंश्च जुह्वानश्च यथाविधि॥
सर्वातिथ्यमुपातिष्ठ शेषान्नकृतभोजनः।
त्रेताग्निमन्त्रविहितो वैश्यो भवति वै द्विजः।
स वैश्यः क्षत्रियकुले शुचौ महति जायते॥
<u>महाभारत</u> १३, १३१, २७-३३।

२ एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः॥
<u>महाभारत</u> १३, १३१, ४५।

३ देखिये, पीछे, पृ०

विदुर जैसे दासीपुत्र ने समाज में प्रतिष्ठा तथा सम्मान की प्राप्ति की थी।[1] कायस्थ नामक वस्तु द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती है ।[2]

वर्णधर्म के पालन द्वारा हीन वर्ग के उत्कर्ष की बात अन्य समकालीन ग्रन्थों में भी कही गयी है । 'जो शूद्र अपने धर्म को जानते हैं तथा धर्म की प्राप्ति के इच्छुक हैं, तीनों वर्णों के अनिन्दित आचार का आश्रय लेते हैं, वे बिना मन्त्र के भी पंचयज्ञ आदि धर्मों को करते हुए दोष के भागी नहीं होते हैं तथा संसार में प्रसिद्धि की प्राप्ति करते हैं ।'[3] यह भी कहा गया है कि 'दूसरों के गुणों का अनिन्दक शूद्र जैसे-जैसे द्विजातियों के लिए अनिन्दित आचार का सेवन करता है वैसे ही वैसे लोगों के द्वारा अनिन्दित होकर इस लोक में उत्कृष्ट माना जाता है ।'[4]

---

1 वैदंबड़, पी० बोरा, इवोल्यूशन आव भारत्स इन द हर्षचरित, पृ० १३६ ।

2 वही, पृ० १४८ ।

3 द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजान् जयति वै लोकान् शूद्रो धन्यतरस्ततः ॥
विष्णुपुराण ६. २. २३ ।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥
मनु० १०, १२७ ।

4 यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥ -- मनु० १०,१२८ ।

बहुत से ब्राह्मण भी हीन कार्यों द्वारा जीवन-यापन कर रहे थे ।[1] इसके कारण उनकी प्रतिष्ठा में कुछ कमी अवश्य आई होगी। इस प्रकार के हीन कार्यों में संलग्न ब्राह्मणों की गणना पंक्तिदूषक ब्राह्मणों में की गयी तथा उन्हें हव्य-कव्य कार्यों में वर्जित कर दिया गया ।[2] मनु ने इनमें चोर, पातकी, नास्तिक वृत्ति वाले, वैद्य, पुजारी, मांस बेचने वाले, व्यापारी, राजा के नौकर, ब्याज लेने वाले, ग्वाले, वेतन लेकर पढ़ाने अथवा पढ़ने वाले, शूद्र के शिष्य तथा शूद्र के गुरु, सोमविक्रयी, तेली, झूठी गवाही देने वाले, राशिफल बता कर जीविका चलाने वाले, हाथी, घोड़ा, ऊंट, बैल आदि के शिक्षक, आयुध विद्या के शिक्षक, घर बनाकर जीविका चलाने वाले, दूत-कार्य करने वाले, वृक्ष लगाने वाले, पशुक्रीड़ा-पालक, भिक्षुक, खेतिहर तथा धन लेकर मुर्दा उठाने वाले ब्राह्मणों की गणना की है ।[3] हीन व्यवसाय अपनाने वालों को शूद्र के समान समझे जाने की व्यवस्था मनु ने निर्धारित की ।[4] वर्जित व्यवसायों को अपनाने वालों को गवाह नहीं बनाया जा सकता था, यह तथ्य कानून के द्वारा भी उनकी गिरी हुई स्थिति के समर्थन का आभास देता है ।[5]

---

१ एस० वी० केतकर, हिस्ट्री आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम २, पृ० २७२; द्रष्टव्य ; इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, प्रोसीडिंग्स आव थर्टी थ्री सेशन, मुजफ्फरपुर, १९७२, पृ० ८६ ।

२ महाभारत, १३. ८९. ५-१२ ।

३ मनु० ३. १५०, १५२, १५३,१५४,१५६,१५८,१५९,१६२,१६३;१६४,१६६,१६७।

४ मनु० ८. १०२ ।

५ मनु० ७. ६६ ।

अपकर्ष के भय से ही सम्भवत: व्यवस्थाकारों को आपद्धर्म की व्यवस्था करने के लिये बाध्य किया । अपने वर्ण के लिये निर्धारित व्यवसाय द्वारा जीविका-यापन में असमर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय के व्यवसाय को तथा क्षत्रिय वैश्य के व्यवसाय को अपना सकता था,[1] किन्तु इन दोनों को ही यथाशक्ति कृषि से बचने की सलाह दी गई है क्योंकि कृषिकार्य में व्यक्ति दूसरों के अधीन हो जाता था तथा जीवहत्या के पाप का भी भागी होता था ।[2]

अपने से उच्च वर्ण के लिए निर्धारित कार्य न करने की बात मनु ने कई स्थलों पर दोहरायी है । 'आपत्ति को प्राप्त हुआ क्षत्रिय वस्तुओं के क्रय-विक्रय द्वारा (वैश्य के कार्य द्वारा) जीवन-निर्वाह करे किन्तु ब्राह्मण की जीविका की कामना कभी न करे;[3] मनु का यह कथन इसी निषेध की ओर संकेत करता है । लगभग यही बात वैश्य के सम्बन्ध में कही गयी । निजकर्म से जीविका चलाने में असमर्थ वैश्य निषिद्ध कर्मों को छोड़कर शूद्रवृत्ति से जीवनयापन करे परन्तु समर्थ होने पर शूद्रवृत्ति छोड़ दे ।[4]

---

१ मनु० १०, ८२ ।

२ मनु० १०, ८३ ; केतकर, हिस्ट्री आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० १०६ ; पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० १२५ ।

३ मनु० १०, ९५ ; पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, वाल्यूम २, पार्ट १, पृ० १२७ ।

४ मनु० १०, ९८ ।

यह विचारणीय है कि आपत्तिकाल में शूद्र के लिए कारीगरी से जीविका-यापन का विधान बनाया गया । वह ऐसे शिल्पों को अपना सकता था जिनसे द्विजों की सेवा होती हो ।[1] यही कारण रहा होगा कि इस काल में वैश्य तथा शूद्र के मध्य सामाजिक दूरी की रेखा क्षीण होने लगी थी ।

अपने से उच्च जाति के कर्म को करने पर निर्वासन के दण्ड की व्यवस्था मिलती है[2] जो सम्भवतः इस काल में बढ़ी हुई उच्च सामाजिक गतिशीलता को रोकने का प्रयास मात्र मालूम पड़ती है । पराये धर्म से जीता हुआ मनुष्य तुरन्त जाति से पतित हो जाता था ।[3] आपद्धर्म के अन्तर्गत कही गयी इस बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आपत्तिकाल बीत जाने पर भी जो व्यक्ति पुनः स्वधर्म को नहीं अपनाता रहा होगा उसका स्थायी रूप से अपकर्ष हो जाता रहा होगा ।

ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के लिए आपत्तिकाल में भी कुछ वस्तुओं के क्रय-विक्रय का निषेध किया गया था ।[4] यह स्पष्ट कथा

---

१ मनु० १०, ९९ ।

२ यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत् ॥
मनु० १०, ९६ ।

३ वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥
मनु० १०, ९७ ।

४ मनु० ३, ६४ ; ३, १५२ ; १० ; ८६-८७ ।

गया है कि मांस, लाक्षा तथा नमक बेचने से ब्राह्मण जाति से बाहर कर दिया जाता था तथा दूध बेचने पर तीन दिन में शूद्र हो जाता था ।[1] अन्य वर्जित वस्तुओं के विक्रय से ब्राह्मण सात दिनों में वैश्य भाव को प्राप्त हो जाता था ।[2] इन वर्जित वस्तुओं में रस, तिल, ऊनी वस्त्र, फल, औषधि, जल, शस्त्र, विष, मांस, सुगन्धित वस्तुयें, दूध, दही, घृत, तेल, शहद, गुड़ तथा कुश की गणना की गयी है ।[3] तिलों का विशेष महत्व था क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि भोजन, उबटन और दान के सिवाय यदि कोई तिलों का व्यवहार अन्य रूप में करेगा तो वह कीड़ा होकर पितरों की विष्ठा में डूबेगा ।[4] साथ ही यह कथन भी उपलब्ध है कि धर्म के लिये उन्हें बेचने में कोई दोष नहीं है ।[5]

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि एक ओर स्वकर्मपालन से यदि हीन वर्गीय व्यक्तियों के उत्कर्ष की अवधारणा निर्मित की गयी थी तो दूसरी ओर स्वकर्मपालन से उच्चवर्गीय व्यक्तियों के अपकर्ष की अवधारणा भी बनायी गयी । इस प्रकार की अवधारणा से भी व्यवस्थाकारों ने हीन वर्ग को अपने हीन कर्मों में ही लगाये रखने का उपाय ढूंढ निकाला होगा । इस प्रकार का विरोधाभास मनुस्मृति में कई स्थलों पर उपलब्ध है ।

---

१ सद्य: पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मण: क्षीरविक्रयात् ।।

--मनु० १०, ९२ ।

२ इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामत: ।
ब्राह्मण: सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ।।

मनु० १०, ९३ ।

३ मनु० १०, ८६-८८ ।

४ मनु० १०, ९१ ।

५ मनु० १०, ९० ।

सामाजिक गतिशीलता का प्रवर्तक तत्व : पतित-संगति

पूर्ववर्ती काल के समान इस काल में भी पतित अथवा हीन जाति के साथ किसी भी प्रकार के सम्पर्क को सामाजिक अपकर्ष का कारण बताया गया । मनु के अनुसार पतितों को धर्मोपदेश देने वाला, उपनयन संस्कार सम्पन्न करने वाला तथा वैवाहिक सम्बन्ध रखने वाला तुरन्त पतित हो जाता था । पतित के साथ एक आसन अथवा एक सवारी पर बैठने वाला अथवा उसके साथ एक ही पंक्ति में बैठकर भोजन करने वाला पतित हो जाता था ।[1] जो ब्राह्मण शूद्र से धन लेकर अग्निहोत्र करते थे वे वेदवादियों में निन्दित होते थे ।[2] इसी प्रकार चण्डाल तथा अन्त्यज स्त्री के साथ किसी विप्र का सम्बन्ध यदि अज्ञान में बन जाता था, तो वह पतित हो जाता था । उनका भोजन ग्रहण करने तथा उनसे दान लेने पर भी विप्र के पतन की बात मनु ने कही । ज्ञानपूर्वक इन्हीं कार्यों को करने पर वह विप्र उसी चण्डाल तथा अन्त्यज के समान हो जाता था ।[3] पतितों

---

१ संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ।।
मनु० ११, १८० ।

२ मनु० ११, ४२-४३ ।

३ चण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च ।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ।।
मनु० ११, १७५ ।

के साथ विवाहादि किसी भी प्रकार का संसर्ग रखने वाले ब्राह्मण श्राद्ध संस्कार में निमन्त्रण के अयोग्य बताये गये ।[1] इस प्रकार अपकर्षित लोगों के लिये प्रायश्चित्त के विधान[2] भी बनाये गए जो इस बात के द्योतक हैं कि पतित-संगति से होने वाला सामाजिक अपकर्ष स्थायी नहीं होता था । निर्धारित प्रायश्चित्त को करने के बाद व्यक्ति पुनः अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त कर लेता होगा ।

वर्ग-संघर्ष एवं सामाजिक गतिशीलता

किसी भी समाज में उत्पादन के अतिरेक के साथ-साथ निजी सम्पत्ति और धन का अन्तर बढ़ने लगता है जिसके साथ-साथ दूसरों की श्रम-शक्ति के अधिकाधिक शोषण की सम्भावना भी बढ़ने लगती है । शोषण की यह बढ़ती हुई सम्भावना ही वर्ग-विरोधों का आधार बन जाती है । जैसे-जैसे सम्पत्ति तथा सत्ता समाज के कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित होने लगती है, वे प्राधिकृत वर्ग के रूप में संगठित होकर विशेष अधिकारों के स्वामी बन जाते हैं । विशेषाधिकारों के संरक्षण में प्राधिकृत वर्ग जितना अधिक सचेष्ट होता जाता है, अप्राधिकृत वर्ग का शोषण बढ़ने लगता है । प्राधिकृत वर्ग द्वारा अप्राधिकृत वर्ग का अधिकाधिक शोषण और विशेष अधिकारों से वंचित रखने का प्रयास वर्ग-संघर्ष का आधार बन जाता है । प्राधिकृत वर्ग के

---

१ मनु० ३२, ४० ।

२ मनु० ११, १८२-१८७ ।

अत्याचारों के प्रति हीन वर्ग का आन्तरिक विद्रोह प्राचीन विश्व के विभिन्न समाजों में समय-समय पर प्रकट होकर समाज को गति प्रदान करता रहा है । भारत का प्राचीन समाज भी इसका अपवाद नहीं था । यद्यपि यहां वर्ग-संघर्ष का वह विकट रूप नहीं था जो यूनान तथा रोम में दिखायी पड़ता है परन्तु वह पूर्ण अनुपस्थित भी नहीं था वर्ग-विरोध का जो रूप भारत के प्राचीन समाज में विद्यमान था उसे वर्ग-टकराव की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त होगा ।

वर्ग-संघर्ष में निहित गतिशीलता[1]

वास्तव में वर्ग-संघर्ष हीन वर्ग द्वारा अपनी स्थिति के सुधार एवं उत्थान के लिए किये गये प्रयासों का ही क्रियात्मक रूप होता है । अतः गतिशीलता प्रच्छन्न रूप से सदैव वर्ग-संघर्ष में सन्निहित रहती है । अपनी स्थिति के उत्थान के लिये हीन वर्ग के लोग प्राधिकृत वर्ग द्वारा आरोपित निर्योग्यताओं (disabilities) की अवहेलना खुले रूप में करना प्रारम्भ कर देते हैं और उच्च वर्ग के अधिकारों को यथासम्भव अधिकृत करने में संलग्न हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में वे कुछ अधिकार संगठित शक्ति के बल पर स्वयं प्राप्त कर लेते हैं और कुछ अधिकार समझौते के रूप में प्राधिकृत वर्ग स्वयं उन्हें देने के लिये बाध्य हो जाता है ।

उपर्युक्त स्थिति का स्पष्ट चित्र कलियुग-वृत्तान्तों

---

१ प्रस्तुत विचार के लिये मैं डा० बी० एन० एस० यादव की ऋणी हूं ।

में उपलब्ध होता है जिसका समय २००-२७५ ई० के मध्य निर्धारित किया गया है ।[1]

कलियुग वर्णन के प्रसंग में महाभारत में ऐसी पंक्तियां[2] आयी हैं जो स्पष्ट रूप से यह कहती हैं कि 'युगान्त उपस्थित होने पर शूद्र द्विजातियों की सेवा नहीं करेंगे ।[3] 'मनुष्यों की सारी क्रियायें क्रम से विपरीत होंगी तथा शूद्र ब्राह्मणों का विरोध करेंगे'।[3] हीन वर्ण द्वारा पीड़ित उच्च वर्णों की स्थिति महाभारत में इस प्रकार वर्णित है,[4] : 'शूद्रों के सताये हुए

---

१ हाजरा, पौराणिक रिकार्डस आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० १७४-१७५ ।

२ महाभारत ३, १८८, ४४ ।

३ 'क्रमेण मनुष्याणां भविष्यन्ति तथा क्रियाः ।
विरोधमथ यास्यन्ति वृषला ब्राह्मणैःसह ॥'
महाभारत, ३, १८८, ४६ ।

४ हाहाकृता द्विजाश्चैव भयार्ता वृषलार्दिताः ।
त्रातारमलभन्तो वै भ्रमिष्यन्ति महीमिमाम् ॥
आश्रयिष्यन्ति च नदीः पर्वतान्विषमाणि च ।
प्रधावमाना वित्रस्ता द्विजाः कुरुकुलोद्वह ।
दस्युप्रपीडिता राजन्काका इव द्विजोत्तमाः ।
कुराजभिश्च सततं करभारप्रपीडिताः ॥

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

द्विज भय से पीड़ित हो कर हाहाकार करने लगेंगे और अपने लिए कोई रक्षक न मिलने के कारण सारी पृथ्वी पर भटकते रहेंगे.....अत्याचारियों से डरे हुए द्विज इधर-उधर भाग कर नदियों, पर्वतों तथा दुर्गम स्थानों का आश्रय लेंगे। द्विजों में श्रेष्ठ ब्राह्मण भी लुटेरों से पीड़ित होकर कौवों की तरह कांव-कांव करते फिरेंगे। दुष्ट राजाओं के कर-भार से पीड़ित होने के कारण वे वेद छोड़ कर शठ होंगे और शूद्रों की सेवा-शुश्रूषा में लगे रह कर धर्म-विरुद्ध कार्य करेंगे। शूद्र धर्मोपदेश करेंगे और ब्राह्मण लोग उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रह कर उसे सुनेंगे तथा उसी को प्रामाणिक मान कर उसका पालन करेंगे। समस्त लोक का व्यवहार उलट जायगा। उच्च नीच हो जायेंगे तथा नीच उच्च हो जायेंगे। युगान्त-काल उपस्थित होने पर शूद्र द्विजातियों की सेवा नहीं करेंगे।* महाभारत का उपर्युक्त वर्णन अतिरंजित प्रतीत होता है परन्तु उसमें सत्य का कुछ अंश अवश्य रहा होगा जो कि वर्ण-संघर्ष अथवा वर्ण-टकराव में निहित सामाजिक गतिशीलता का द्योतक है।

वेदं त्यक्त्वा महीपाल दारुणे युगसंक्षये ।
विकर्माणि करिष्यन्ति शूद्राणां परिचारकाः ॥
शूद्रा धर्मं प्रवक्ष्यन्ति ब्राह्मणाः पर्युपासकाः ।
श्रोतारश्च भविष्यन्ति प्रामाण्येन व्यवस्थिताः ॥
विपरीतश्च लोकोऽयं भविष्यत्यधरोत्तरः ।
एडूकान्पूजयिष्यन्ति वर्जयिष्यन्ति देवताः ।
शूद्राः परिचरिष्यन्ति न द्विजान् युगसंक्षये ॥

महाभारत ३, १८८, ५८-६४ ।

कूर्मपुराण में कलियुग वर्णन के प्रसंग में भी कुछ ऐसी प्रकार की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। 'राजोपजीवी शूद्र श्रेष्ठ द्विजातियों को प्रताड़ित करते हैं और समय के बल से कलियुग में राजा द्विजों का अपमान करने वाला होता है। स्वल्प ज्ञान, स्वल्प भाग्य और स्वल्प बल से युक्त द्विज शूद्रों की सेवा करते हैं और सेवा का अवसर पाकर उनके द्वार पर उपस्थित रहते हैं। ब्राह्मण कलियुग में उन शूद्रों की सेवा करते हैं और स्तुतियों से उनकी स्तुति करते हैं.....।'[1] अतिरंजित होने के बावजूद उपर्युक्त उल्लेख वर्ग-टकराव की स्थिति का आभास देते हैं जिसके फलस्वरूप प्राधिकृत वर्ग द्वारा लादी गई निर्योग्यताओं को उतार फेंकने में हीन वर्ग कुछ अंशों में सफल अवश्य हुआ होगा। मत्स्य पुराण में कलियुग की निन्दा करते हुए कहा गया है कि 'लोग मिश्रित वर्ण के होंगे, शूद्र ब्राह्मणों के साथ बैठेंगे, उन्हीं के समान यज्ञों का आयोजन करेंगे तथा मन्त्रोच्चारण करेंगे।'[2] शूद्रों द्वारा ब्राह्मणों

---

१ 'ताडयन्ति द्विजेन्द्रांश्च शूद्रा राजोपजीविनः ।
द्विजापमानकारी राजा कलौ कालवशेन तु ॥
शूद्रान् परिचरन्त्यल्प-शुभाग्यबलान्विताः ।
सेवावसरमालोक्य द्वारे तिष्ठन्ति च द्विजाः ॥
सेवन्ते ब्राह्मणांस्तांस्तु स्तुवन्ति स्तुतिभिः कलौ ।
. . . . ।'

कूर्मपुराण, १. २९, १७-२३ ;

द्रष्टव्य, हाजरा, *पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स*, पृष्ठ २०६ ।

२ *मत्स्यपुराण*, २७२, ४६-७ ।

के समान आचरण करने की बात वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में भी कही गयी है ।[1] उच्च वर्ण में सम्मिलित होने के लिये यह आवश्यक भी था कि हीन वर्ण के लोग उच्च वर्ण के व्यक्तियों के ही समान आचार-विचार, वेशभूषा, विवाह स्थान, शिक्षा, भोजन, मनोरंजन आदि के साधन अपनाये ।[2]

वर्ण-कृषकों के रूप में कुछ शूद्रों का उत्कर्ष, व्यापार तथा व्यवसाय द्वारा जीवनयापन तथा दासों की मुक्ति की व्यवस्था शूद्रों के उत्कर्ष का एक महत्वपूर्ण चरण है । इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है । बहुत सम्भव है कि इसके पीछे आर्थिक घटकों के साथ-साथ वर्ण-टकराव का भी कुछ योगदान रहा हो ।

वर्ण-टकराव को प्रकट रूप प्रदान करने में कुछ हाथ विदेशी आक्रमणकारियों का भी रहा जिनका सहयोग पाकर हीन वर्ण का असन्तोष अनुकूल वातावरण पाकर सामने आया । व्यापारी विदेशी यवनों तथा शकों को मनु हीन दृष्टि से देखते हुए भी क्षत्रियों के मध्य

---

१ वायुपुराण, ५८, ३८-४९ ; ब्रह्माण्डपुराण, ३१, ३९-४९ ;

~~तु० पद्मपुराण, ५६, २२ ।~~

२ मेल्विन एम० ट्युमिन, सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, पृ० १०१ ।

स्थान देने को विवश हुए,[1] यह विचारणीय है।

भारत में इस समय हीन वर्गीय व्यक्ति सम्भवतः खुले रूप में निर्धारित कार्य करने से इन्कार कर रहे थे इसीलिये मनु राजा

---

१ मनु० १०, ४३-४५ ।

'शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥'

२ कुल्लूकभट्ट भी द्रष्टव्य, पृ० ४०६ ;

'इमा वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातयः उपनयनादिक्रियालोपेन, ब्राह्मणानां च याजनाध्यापनप्रायश्चित्ता द्यर्थदर्शनाभावेन शनैः शनैर्लोके शूद्रतां प्राप्ताः । पौण्ड्रादिदेशोद्भवाः सन्तः क्रियालोपादिना शूद्रत्वमापन्नाः । ब्राह्मण क्षत्रियवैश्यशूद्राणां क्रियालोपादिना या बाह्या जातयो जाता म्लेच्छभाषायुक्ता आर्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः ॥

को यह हिदायत देने के लिए बाध्य हुए कि वह वैश्यों तथा शूद्रों को स्वकर्म करने के लिये बाध्य करें।[1] हीन वर्ण की उच्छृंखलता से सम्भावित अभिजात-वर्ग की एक आशंका मनु के इस कथन में भी दिखायी पड़ती है-- "वह राष्ट्र अपने निवासियों, अपनी प्रजा के सहित शीघ्र नष्ट हो जाता है जहां वर्ण-दूषकों का आधिक्य होता है।"[2] तृतीय शती ई० में रोम में भी विभिन्न व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों को इस प्रकार के आदेश दिये गये थे कि वे अपने-अपने व्यवसायों को ही करें।[3] इस विरोध को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवतः मनु ने राजा को सलाह दी है कि वह मुख्यरूप से

---

१ मनु० ८, ४१८ ।

'वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।
तौ हि च्युतौ स्वकर्मभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥'

शूद्रों के सन्दर्भ में स्वकर्म से तात्पर्य यहां कुल्लूक ने द्विजशुश्रूषा से लिया है। 'वैश्यं कृष्यादीनि शूद्रं च द्विजातिशुश्रूषादीनि कर्माणि यत्नतो राजा कारयेत्' मनु० ८, ४१८ पर कुल्लूक की टीका, पृ० ३३६ ।

२ मनु० ८, ६१ ।

'यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥'

३ आर०एस० शर्मा, शूद्राज़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया, पृ० २१४ ।

आर्यों द्वारा निवासित स्थान में रहे ।[1] हीनवर्णीय व्यक्तियों (शूद्रों) द्वारा निवासित राज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है ।[2] मनु ने उसी राज्य के स्थायी होने की सम्भावना व्यक्त की है जहां के निवासी आर्यों (प्राधिकृत वर्ग) की भांति रहते हैं ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में शूद्र उच्च वर्ण के लोगों के समान जीवन व्यतीत करने लगे थे इसीलिए मनु ने इन्हें कण्टकवत् मानते हुये राजा को यह आदेश दिया कि वह इन्हें शीघ्र निकाल फेंके ।[4] उपर्युक्त नियमों का निर्धारण करते समय सम्भवत: मनु के मस्तिष्क में तत्कालीन वर्ण-संघर्ष/अपना वर्ग-टकराव का चित्र ही अधिक रहा होगा । हीन वर्ण के व्यक्ति विरोध प्रदर्शन के लिए कभी-कभी द्विजातियों के धर्मपालन में बाधा भी डालते होंगे ।

---

१ मनु० ७. ६९ (आर्यप्रायमनाविलम्) ।

२ वही ।

३ मनु० ९. २५३ ।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्परा: ।।

४ मनु० ९. २६० ।

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।
निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ।।
द्रष्टव्य, कुल्लूक, पृ० . ३८५ ।
'अन्यांश्चापि प्रच्छन्नचारिणः शूद्रादीन्ब्राह्मणादिवेष-
धारिणो अनार्यलिङ्गिनो जानीयात्'

ऐसा अवसर उपस्थित होने पर मनु ने द्विजातियों के लिए शस्त्र-धारण करने की व्यवस्था की है[1]। इतना होते हुए भी इस वर्ण-टकराव का तथा उसमें निहित गतिशीलता का रूप व्यापक नहीं था। फिर भी इस प्रकार के वर्णों के टकराव के फलस्वरूप निम्न वर्ण के कुछ लोगों का उत्कर्ष हुआ होगा और उच्च वर्ण के कुछ लोगों की स्थिति का सामाजिक अवमूल्यन अवश्य हुआ होगा, जिसमें क्रमश: ऊर्ध्वगामी और अधोगामी सामाजिक गतिशीलता का संकेत निहित है।

वर्ण-संघर्ष को रोकने के लिये कल्पित गतिशीलता की अवधारणा[2]

वर्ण-संघर्ष को रोकने के निमित्त समय-समय पर प्राधिकृत वर्ग द्वारा विभिन्न उपाय अपनाये गए। ट्युमिन महोदय का यह मत है कि हीनवर्गीय व्यक्तियों को किसी प्रकार का भौतिक अधिकार दिये बिना, केवल नैतिकता के आधार पर सम्मान-प्राप्ति का आश्वासन देकर उन्हें अपनी उसी हीन स्थिति में सन्तुष्ट रखना भी उन प्रमुख उपायों में से एक था[3]। नैतिकता पर ज़ोर देकर शासक वर्ग तो अपनी स्थिति बनाये रखने में सफल हुआ ही, साथ ही हीन वर्ग इस माध्यम द्वारा कुछ सम्मान

---

१ मनु० ८, ३४८।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥

२ कल्पित गतिशीलता की अवधारणा के लिए मैं डा० बी० एन० एस० यादव की ऋणी हूं।

३ मैल्विन एम० ट्युमिन, सोशल स्ट्रेटीफ़िकेशन, पृ० १०४। यह स्थिति विश्व-सन्दर्भ में भी दिखायी पड़ती है।

प्राप्त करने में असफल और असन्तुष्ट हुआ क्योंकि नैतिक तथा गुणवान बनने की उन्हें भी उतनी ही आकांक्षा थी जितनी प्राधिकृत वर्ग को ।[1]

कर्म और पुनर्जन्म का सहारा लेकर नैतिकता तथा स्वधर्मपालन द्वारा अगले जन्म में उत्कर्ष की कल्पित सम्भावना दिखा कर वर्ग-टकराव अथवा वर्ग-संघर्ष को रोकने का प्रयास प्राचीन भारतीय समाज में भी किया गया । वर्ग-संघर्ष अथवा वर्ग-टकराव को रोकने के लिये कल्पित गतिशीलता की अवधारणा द्वितीय शताब्दी ई० पू० से तृतीय शताब्दी ई० के मध्य रचे गये ग्रन्थों में प्राप्त होती है ।

स्वधर्मपालन[2] द्वारा अगले जन्म में उत्कर्ष की कल्पित सम्भावना दिखा कर मनु ने हीन वर्णीय असन्तोष को कम करने का प्रयास किया । मनुस्मृति में यह कहा गया है कि ब्राह्मण आदि द्विजातियों की सेवा से, शारीरिक पवित्रता से, मृदु वचनों से तथा दर्प से हीन होने पर

---

१ मैल्विन एम० ट्यूमिन, सोशल स्ट्रेटीफिकेशन, पृ० १०४ । यह स्थिति विश्व-सन्दर्भ में भी दिखायी पड़ती है ।

२ मनु० ४. ६ ; ९. ३३९ ; द्रष्टव्य, मिश्रा तिवारी, शूद्राज इन मनु, पृ० २८-२९ ।

शूद्र अगले जन्म में उत्कृष्ट जाति को प्राप्त कर सकते थे ।[1] महाभारत में कर्मफल के प्रभाव से नीच जाति एवं हीनकुल में उत्पन्न होने वाले शूद्र के जन्मान्तर में शास्त्रज्ञानसम्पन्न और संस्कारयुक्त ब्राह्मण होने की बात कही गई है ।[2]

शुभ कर्मों के आचरण तथा स्वधर्मपालन से हीन-वर्णीय सदस्यों के अगले जन्म में आत्मोत्कर्ष की सम्भावना कल्पित थी किन्तु जितेन्द्रिय होकर पवित्र कर्मों के आचरण द्वारा अपने अन्तःकरण को शुद्ध बना लेने वाला शूद्र द्विज की भाँति सेव्य होता रहा होगा,[3] इसकी वास्तविकता कुछ अंशों में सत्य अवश्य रही होगी पर ऐसे उदाहरण कम रहे होंगे । केवल यही नहीं, अपितु 'यदि किसी शूद्र के स्वभाव और कर्म दोनों

---

१ मनु० ९. ३३५ ।

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुर्मृदुवागनहंकृतः ।
ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते ॥

२ एतैः कर्मफलैर्देवि न्यूनजातिकुलोद्भवः ।
शूद्रोऽप्यागमसम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः ॥
महाभारत १३. १३१. ४५ ।

एस०सी० बनर्जी, इण्डियन सोसायटी इन द महाभारत, पृ० २४२ ।

३ कर्मभिः शुचिभिर्देवि शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः ।
शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयम् ॥
महाभारत १३. १३१. ४८ ।

भी उत्तम हों तो वह द्विजाति से भी बढ़ कर मानने योग्य है[1]; यह कथन हीनवर्णीय सदस्यों की सामाजिक प्रतिष्ठा में एक नवीन मापदण्ड जोड़ देता है। धर्मज्ञ एवं सदाचारी शूद्रों के विशेष आदर तथा आचरणहीन उच्च-जाति के मनुष्यों के अनादर का निर्देश भी प्राप्त होता है।[2]

तीनों उच्च वर्णों की सेवा शूद्र के लिए परम धर्म तथा महान तप बतायी गई है। सत्यवादी, जितेन्द्रिय तथा अतिथिसेवा में संलग्न शूद्र महान तप का संचय कर लेता था।[3] महाभारत के अनुशासन-पर्व में बाह्य जातियों के विवरण के पश्चात् यह स्पष्ट कहा गया है कि यदि वर्णसंकर गौ तथा ब्राह्मणों की सहायता करें, क्रूरतापूर्ण कर्मों को त्याग दें, सब पर दया करें, सत्य बोलें, दूसरों के अपराध क्षमा करें, अपने शरीर को कष्ट में डाल कर भी दूसरों की रक्षा करें तो इन वर्ण-संकर मनुष्यों की भी पारमार्थिक उन्नति हो सकती है।[4]

---

१ स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रोऽपि तिष्ठति ।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ।
महाभारत १३, १३१, ४८ ।

२ ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत् ।
अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत् ।
महाभारत १३, ४८, ४७ ।

३ महाभारत १३, १२८, ५६-५७ ।

४ महाभारत १३, ४८, ३३-३४ ।

इसी सन्दर्भ में विष्णु पुराण में भी शूद्रों को अन्य जातियों की अपेक्षा धन्यतर बताते हुए यह कहा गया है '... जिसे केवल पाकयज्ञ का ही अधिकार है वह शूद्र द्विजों की सेवा करने से ही सद्गति प्राप्त कर लेता है इसलिए वह अन्य जातियों की अपेक्षा धन्य है।'[1] शूद्र के सम्बन्ध में कुछ भी पातक नहीं माना गया तथा उसे जातिच्युत करने वाला भी कोई कार्य नहीं होता।[2] (पाकयज्ञ आदि) धर्म का निषेध शूद्रों के लिये भी नहीं होता था।[3] मनुस्मृति में कहा गया है कि "जो शूद्र अपने धर्म को जानते हैं तथा धर्म की प्राप्ति के इच्छुक हैं तथा तीनों वर्णों के विहित आचार का आश्रय लेते हैं, वे बिना मन्त्र के भी पंचयज्ञ आदि कर्मों को करते हुए दोष के भागी नहीं होते तथा संसार में प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।'[4] दूसरों के गुणों का अनिन्दक शूद्र जैसे-जैसे द्विजातियों के लिए विहित आचार का सेवन करता था, वैसे-वैसे लोगों द्वारा अनिन्दित होकर इस लोक में उत्कृष्ट माना जाता था।[5]

---

१ द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजान् जयति वैलोकान् शूद्रो धन्यतरस्ततः ।
विष्णु पुराण ६, २, २३-२४ ।

२ मनु० १०, १२६ ।

३ वही ।

४ मनु० १०, १२७, कुल्लूक की टीका भी द्रष्टव्य, पृ० ४९९ ।

५ मनु० १०, १२८ ।

स्वधर्मपालन तथा नैतिक आचरण के द्वारा अगले जन्म में उत्कर्ष का प्रसंग धम्मपद में भी प्राप्त होता है। एक दासी के विषय में कहा गया है कि वह अपने स्वामी के सभी अत्याचारों को सहन करती हुई शान्तिपूर्वक अपने धर्म का पालन करती रही फलस्वरूप उसे स्वर्ग में देवत्व का स्थान प्राप्त हुआ।[१]

जिस प्रकार शूद्रों के उत्कर्ष की सम्भावना दर्शायी गयी उसी प्रकार अनाचरण से ब्राह्मणों के अपकर्ष की सम्भावना दिखाकर हीन वर्ग को सान्त्वना देने का प्रयास किया गया। क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्म का सेवन करने वाले मन्द-बुद्धि ब्राह्मण[२] इस लोक में निन्दित और परलोक में नरकगामी होते थे। वर्णधर्म के विपरीत कर्म में लगे हुए ब्राह्मणों के लिये भी वही निन्दासूचक संज्ञायें प्रयुक्त की जाती थीं जो दास, कुत्तों, भेड़ियों तथा अन्य पशुओं के लिए प्रयुक्त होती थीं।[३] वह ब्राह्मण भी ब्राह्मणत्व से गिर कर शूद्र हो जाता था[४] जो दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला, नाचने वाला, राजसेवक तथा अन्य विपरीत कर्मों में संलग्न होता था। इन दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मणों के प्रति उसी प्रकार

---

१ धम्मपद, ३, ३१४।
२ महाभारत, १२, ६२, ४।
३ महाभारत, १२, ६२, ४-५।
४ महाभारत, १२, ६३, ४।

का व्यवहार किये जाने का निर्देश किया गया है जिस प्रकार का व्यवहार दासों के प्रति किया जाता था । "इन दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मण वेदों का स्वाध्याय करता हो या न करता हो, शूद्रों के ही समान है, उसे दास की भाँति पंक्ति से बाहर भोजन कराना चाहिये । ये राजसेवक आदि सभी अधम ब्राह्मण शूद्रों के ही तुल्य हैं, अतः देवकार्य में इनका परित्याग कर देना चाहिए।" महाभारत के अनुशासनपर्व में कहा गया है कि ब्राह्मण यदि अपने धर्म का पालन न कर क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का कर्म करता है तो वह अगले जन्म में क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रयोनि में उत्पन्न होगा । इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य के बारे में भी कहा गया कि यदि वे शूद्र के कर्म को अपनाते हैं तो अपनी जाति से भ्रष्ट हो वर्णसंकर हो जाते हैं तथा अगले जन्म में शूद्रता को प्राप्त होते हैं । इस प्रकार एक ओर अगले जन्म में शूद्रों के उत्कर्ष तथा दूसरी ओर उच्च वर्णों के अपकर्ष की सम्भावना दिखाकर वर्ण-ह्रास को रोकने के लिए कल्पित गतिशीलता की अवधारणा परिलक्षित होती है ।

---

१ महाभारत, १२. ६३. ६ ।

२ यस्तु विप्रत्वमुत्सृज्य क्षात्रं धर्मं निषेवते ।
ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते ॥
वैश्यकर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः ।
ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा ॥
स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात् ।
स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्वमाप्नुते ॥
तत्रासौ निरयं प्राप्तो वर्णभ्रष्टो बहिष्कृतः ।
ब्रह्मलोकात् परिभ्रष्टः शूद्रः समुपजायते ॥
क्षत्रियो वा महाभागे वैश्यो वा धर्मचारिणि ।
स्वानि कर्माण्यपाहाय शूद्रकर्म निषेवते ॥
स्वस्थानात् स परिभ्रष्टो वर्णसंकरतां गतः ।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रत्वं याति तादृशः ॥

—महाभारत, १३. १४३. ६-१४ ।

<u>जनजातियों के सम्मिश्रण विषयक सामाजिक गतिशीलता</u>

विभिन्न आर्येतर जन-जातियों का सम्मिश्रण प्राचीन भारतीय समाज में हुआ है । इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि हिन्दू समाज के उच्चवर्णीय गोत्रों एवं वर्णों को ग्रहण करने के कारण उनमें से कुछ लोगों का स्तर ऊपर उठा होगा परन्तु अधिकांश लोगों का स्तर नीचे ही गिरा होगा । महाभारत के शान्तिपर्व[1] में इस प्रकार का एक प्रसंग आया है जिसमें इन्द्ररूपधारी विष्णु तथा मान्धाता के मध्य वार्तालाप में राजधर्मानुशासन का प्रकरण उपस्थित है । इस प्रसंग में कुछ वर्णों का नामोल्लेख है जिन्हें `ब्रह्मक्षत्रप्रसूता:`, `वैश्या:` तथा `शूद्रा:` की संज्ञा प्रदान की गयी है । मान्धाता इन्द्ररूपधारी विष्णु से कहते हैं, `.... मेरे राज्य में यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौंड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज आदि जन सर्वत्र बिखरे हैं । उनमें से कुछ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की सन्तानें हैं । ये सब चोरी तथा डकैती से जीविका चलाते हैं । ऐसे लोग किस प्रकार धर्मों का आचरण करेंगे ? मेरे जैसे राजा को इन्हें किस तरह मर्यादा के भीतर स्थापित करना चाहिये ?[2] इनमें

---

१ <u>महाभारत</u>, १२. ६५. १३-१५ ।

२ यवना: किराता गान्धाराश्चीना: शबर-बर्बरा: ।
शकास्तुषारा: कंकाश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रका: ॥
पौण्ड्रा: पुलिन्दा रमठा: काम्बोजाश्चैव सर्वश: ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्या: शूद्राश्च मानवा: ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिन: ।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्या: सर्वे वै दस्युजीविन: ॥

<u>महाभारत</u>, १२. ६५. १३-१५ ।

से किरात, शबर तथा पुलिन्द प्राचीन भारत में रहने वाली आदिम जन-जातियों से सम्बन्धित हैं । इन विभिन्न जनों ने स्वयं को आर्य-समाज का अंग बनाने के लिए `ज्ञिांतर` का मार्ग अपनाया होगा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विदेशी जनों के अतिरिक्त भारत में रहने वाली विभिन्न जनजातियों के लोग भी वर्ण-व्यवस्था में प्रविष्ट हुए ।[1] इस प्रकार की गतिशीलता की प्रक्रिया पहले से ही चली आ रही होगी ।

आधुनिक युग में भी इस प्रकार की सामाजिक गतिशीलता के दृष्टान्त मिलते हैं । इसका उदाहरण पंचपरगना के आदिवासी मुण्डाओं में प्राप्त होता है । मुण्डा जनजाति के एक समुदाय ने `सन्दी` नामक गोत्र धारण कर लिया[2] था और अब इस `सन्दी` समुदाय के लोग अपने को शाण्डिल्य ऋषि का वंशज मानते हैं । इसी प्रकार पंचपरगना के ही कुछ मुण्डाओं ने वैष्णव धर्म को अपना लिया । पंचपरगना में ही कुछ ऐसे मुण्डा भी हैं, जिनके रीति-रिवाज ब्राह्मण-प्रभाव के कारण किंचित् परिवर्तित हो गये और ये मुण्डा स्वयं को मुखधारी `क्षत्री` बताते हैं ।[3] इस प्रकार के सम्मिश्रण द्वारा जनजातियों की सामाजिक गतिशीलता महाभारत के उपर्युक्त प्रसंग में भी दिग्दर्शित है ।

---

१ एन० के० बोस, द हिन्दू सोशल स्ट्रक्चर, पृ० ५६-६० ।

२ एन० के० बोस, वही ।

३ एन० के० बोस, वही ।

हिन्दु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत आने पर कुछ लोगों का स्तर उच्च वर्ग में सम्मिलित होने के कारण ऊपर उठा होगा परन्तु अधिकांश को हिन्दु सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में निम्न स्थान मिला होगा । जो लोग ऊपर उठ गये वे अपनी ही जाति के सामान्य लोगों को हीन दृष्टि से देखने लगे होंगे, इसका भी दृष्टान्त पंचपरगना के मुण्डा लोगों में मिलता है जो रांची जिले के अन्य परगनों में रहने वाले अन्य मुण्डा लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगे ।

भौगोलिक गतिशीलता

महाभारत के वनपर्व में कलियुग-वर्णन के सन्दर्भ में यह उल्लेख मिलता है कि युगान्त उपस्थित होने पर लोग विभिन्न देशों, दिशाओं, पत्तनों तथा पुरों को जाने लगेंगे।[1] स्थान-परिवर्तन से सामाजिक स्थिति में भी कुछ परिवर्तन आता होगा यह सम्भावना सामन्तपासादिका के वासवत्थुकथा में वर्णित प्रसंग के आधार पर प्रस्तुत की जा सकती है । इसमें एक दासी के किसी के साथ पलायन की कथा मिलती है जो दूसरे स्थान पर स्वतन्त्र व्यक्ति के अधिकार(?) को प्राप्त कर सुख से रहने लगी थी ।[2] परन्तु भौगोलिक गतिशीलता स्वयं में सामाजिक गतिशीलता नहीं कही जा सकती ।[3]

---

१ अथ देशान्दिशश्चापि पत्तनानि पुराणि च ।
क्रमशः संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ।।
महाभारत, ३, १८८, ८३ ।

२ सामन्तपासादिका, (वासवत्थुकथा) वात्थुल ३ ।

३ स्टीनिस्लॉ ओस्सोव्स्की, क्लास स्ट्रक्चर इन द सोशल कान्शसनेस, पृ० १० ।

प्रच्छन्न सामाजिक गतिशीलता

साधारणत: जब किसी रूढ़िवादी समाज में बहुत समय से चली आ रही परिपाटी के विरुद्ध कोई घटना या स्थिति दृष्टिगोचर होती है तो प्रारम्भ में उसे छिपा देने की प्रवृत्ति प्रबल रहती है, जिससे रूढ़िगत परिपाटी पर कम से कम आघात हो। यही प्रवृत्ति द्वितीय शताब्दी ई० पू० से तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी के मध्य के समाज में दिखाई पड़ती है। बाह्य आक्रमणों, आर्थिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के कारण अपेक्षाकृत तीव्र होने वाली सामाजिक गतिशीलता को छिपाने का पूरा प्रयास व्यवस्थाकारों ने किया। उन्होंने पग-पग पर रूढ़िवादी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को बनाये रखने की चेष्टा की, किन्तु उनके अथक किये गए प्रयासों के बावजूद तत्कालीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं जो सतह के नीचे की वास्तविकता की ओर संकेत करते हैं और इस प्रकार प्रच्छन्न गतिशीलता के सूचक हैं।

महाभारत के आरण्यकपर्व में सर्पराज नहुष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'शूद्र में यदि सत्य, दान, दम, क्षमा, दया, सुशीलता आदि लक्षण हैं तो वह शूद्र शूद्र नहीं है और यदि ये लक्षण ब्राह्मण में नहीं हैं तो वह ब्राह्मण नहीं है।' जिसमें ब्राह्मण के लक्षण हों वही ब्राह्मण माना गया है; जिसमें इन लक्षणों का अभाव हो उसे शूद्र कहा गया है। मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना बहुत कठिन है क्योंकि इस समय सभी वर्णों का परस्पर

सम्मिश्रण हो रहा है ।[१] वज्रसूची उपनिषद् में, ब्राह्मण कौन है ? इस प्रश्न पर विचार करते समय लगभग इसी प्रकार की बात कही गयी है जहाँ जन्म के स्थान पर परम सत्य के आन्तरिक बोध के आधार पर ही ब्राह्मणत्व की प्रतिष्ठा की गई है ।

---

१ सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥
चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि ।
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर ॥
शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत् सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥
यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन् कृतिर्यावन्न विद्यते ॥
जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥

महाभारत (आरण्यकपर्व) ३.१८०.२१-३१ ।

ब्राह्मण कौन है, इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि देह तथा जन्म से व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता क्योंकि इसी प्रकार बहुत से ऋषियों की उत्पत्ति मानवेतर प्राणियों से हुई है ।[१] ऋष्यश्रृंग हिरण से, कौशिक कुश से, जम्बुक गीदड़ से, वाल्मीकि पिपीलिका के ढेर से, व्यास धीवर कन्या से, वशिष्ठ उर्वशी से तथा अगस्त्य कुम्भ से उत्पन्न बताये गये हैं । इसके बावजूद ज्ञान तथा पांडित्य के द्वारा उन्होंने ऋषियों का स्थान प्राप्त किया । इसलिए जन्म से व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता ।

---

१ 'तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न । आचण्डालादिपर्यन्तानां मानुषाणां पांचभौतिकत्वेन देहस्यैक रूपत्वात् जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनात् । ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णः वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्णः इति नियमाभावात्, पित्रादिशरीर दहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोष-संभवाच्च । तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति । तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न । तत्र जात्यन्तरजन्तुषु अनेकजाति संभवा महर्षयो बहवः सन्ति । ऋष्यश्रृंगः मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बुको जम्बुकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यायां, शशपृष्ठात् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम् अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात् । एतेषां जात्या विना पि अग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति । तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ।

तर्हि को ब्राह्मणो नाम । यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं सत्यज्ञानानंदानन्तस्वरूपं .... करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य... वर्तते... स एव ब्राह्मण इति श्रुति-स्मृति-पुराणेतिहासानामभिप्रायः । अन्यथाहि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव ।।

वज्रसूची उपनिषद्, १ से ६ ।'

भागवत पुराण में भी कहा गया है कि जिस पुरुष के वर्ण को बतलाने वाला जो लक्षण कहा गया है वह यदि दूसरे वर्ण वाले में भी मिले तो उसे भी उसी वर्ण का समझना चाहिए[1]।

इस प्रकार प्रच्छन्न सामाजिक गतिशीलता कुछ हद तक सतह के नीचे समाज में क्रियाशील थी। व्यवस्थाकारों ने सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने के भय से उसका उल्लेख अधिकांशतः अपने ग्रन्थों में नहीं किया पर इस प्रकार उच्च वर्ग में पहुंच जाने वाले व्यक्तियों एवं परिवारों को परिस्थितिवश मान्यता मिल गई होगी।

जाति-प्रथा का सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव

पूर्ववर्ती काल के समान इस काल में भी जाति प्रथा के माध्यम से सामाजिक गतिशीलता को रोकने के प्रयास किये गए। हीन जातियों के साथ खानपान तथा विवाह से सामाजिक अपकर्ष का भय दिखा कर उच्च वर्णों को अपने ही वर्ण में सीमित रखने की प्रवृत्ति इस काल के ग्रन्थों में भी दिखाई पड़ती है। वर्णधर्म के पालन पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया,[2]

---

१ यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यंजकम्
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्।
भागवत पुराण, ११. २५।

२ मनु० २. १५, १७, १८; ८. २५०, २५८, २५९, २५७, २६४, २६६, ३७१, ३७४।

३ देखिये पीछे, अध्याय ४, पृ०

उसके माध्यम से अगले जन्म में उत्कर्ष की कल्पित सम्भावना बता कर वर्ण-संघर्ष में सन्निहित गतिशीलता को रोकने का प्रयास किया गया । विभिन्न मिश्रित जातियों को भी किसी न किसी व्यवसाय से सम्बन्धित कर उन्हें भी एक सीमा-रेखा में बांध देने की प्रवृत्ति मनुस्मृति में प्राप्त होती है ।[1] इन प्रयासों के बावजूद बाह्य आक्रमणों, आर्थिक तथा धार्मिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक गतिशीलता अपेक्षाकृत तीव्र हुई । इससे रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था को गहरा धक्का लगा; जन्म पर आधारित जातियों की मान्यता में कमी तो अवश्य आयी परन्तु वह पूरी तरह नष्ट नहीं हुई । एक ओर जाति-प्रथा के माध्यम से सामाजिक गतिशीलता को रोकने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर अपेक्षाकृत बढ़ी हुई सामाजिक गतिशीलता ने जातिप्रथा पर प्रहार किया । ये दोनों प्रवृत्तियां ईसवी सन की प्रारम्भिक शताब्दियों में साथ-साथ चलती प्रतीत होती हैं । समाज कोई ज्यामितिक आकार तो है नहीं [2] इसलिये उसमें एक साथ विरोधी प्रवृत्तियों का होना आश्चर्यजनक नहीं लगता ।

\- ० -

---

१ मनु० १०, ३२-३६ ।

२ बी० एन० एस० यादव, सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया, पृ० ३ ।

निष्कर्ष

निष्कर्ष

पूर्व-वैदिक काल में सामाजिक स्तरीकरण का रूप स्पष्ट नहीं था। वर्णों का उदय अभी नहीं हुआ था। पर उनके उदय की प्रक्रिया चल रही थी। वास्तव में यह काल एक संक्रमण की प्रक्रिया को घोतित करता है, जो बहुत पहले से ही चल रही होगी। ऋग्वेद में जनों के विघटन तथा वर्णों के उदय के संकेत मिलने लगते हैं। यह प्रक्रिया जिन कारकों और प्रवृत्तियों से सम्बन्धित दिखायी पड़ती है उनमें व्यवस्थित जीवन तथा अधिक उत्पादन, श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति, विनिमय, व्यक्तिगत पारिवारिक सम्पत्ति और आर्थिक असमानताओं का विशेष महत्व था।

युद्ध और विजय के फलस्वरूप भी जनों के विघटन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र हुई। क्षत्र वर्ग तथा राजा का महत्व बढ़ा, ऋग्वेद में क्षत्रवर्गीय राजाओं द्वारा दिये गये दानों के जो उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे समृद्ध होते हुए राजाओं की ओर संकेत करते हैं। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों की अपेक्षा बाद के मण्डलों में दान की मात्रा बढ़ गयी है। क्षत्र अथवा राजन्य लोगों की प्रतिष्ठा के साथ पुरोहितों का भी महत्व और अधिक बढ़ा। युद्ध में विजय-प्राप्ति की अभिलाषा से किये जाने वाले यज्ञों में पुरोहितों की आवश्यकता बढ़ी और यज्ञ में प्राप्त दक्षिणा के फलस्वरूप समृद्ध पुरोहितों के वर्ग का निर्माण होने लगा। युद्ध के परिणामस्वरूप जनों वाले समाज में विजेता तथा विजित जनों के सम्मिश्रण से सामाजिक विभेद (Social differentiation) की प्रक्रिया तीव्रतर हुई तथा ऊंच-नीच का भेद बढ़ा। अधिकांश पराजित आर्येतर जन आर्यों के विजित समाज में दासों के रूप में ग्रहण

किये गये, जिससे दास-वर्ग के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई । इस दास वर्ग में आर्य वर्ग के भी कुछ सदस्य कमजोर आर्थिक परिस्थितियों के कारण सम्मिलित हो गये ।

धर्म की छाया में पुरोहितों का नया वर्ग उदित होने लगा जिसने ब्रह्म, क्षत्र तथा विश: के कल्याण की अलग-अलग प्रार्थना कर तथा उदित होते हुए सामाजिक वर्गों को एक ही पुरुष के अंग बना कर सामाजिक व्यवस्था के एकीकरण का प्रयास किया, जो जनों के विघटन तथा वर्गों के उदय की ओर संकेत करता है ।

प्रारम्भिक वर्गों के रूप में ब्रह्म, क्षत्र तथा विश: का उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है, पर न तो उनका स्वरूप ही अभी पूरी तरह स्पष्ट हो पाया था और न उनके मध्य अभी विभाजन की कोई स्थिर रेखा ही बन पायी थी । शूद्र वर्ण का उल्लेख ऋग्वेद के केवल पुरुष सूक्त में प्राप्त होता है, जो ऋग्वेद में सम्भवत: बाद में जोड़ा गया । इस प्रकार पूर्व-वैदिक काल में जनों के विघटन और वर्गों के उदय की प्रक्रिया में सन्निहित संक्रमणप्रधान गतिशीलता दिखायी पड़ती है ।

सम्मिश्रण की बढ़ी हुई प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुछ योग्य आर्येतर व्यक्तियों को आर्य समाज में उच्च स्थान मिला । इनके उत्कर्ष के कारण कुछ हद तक राजनीतिक शक्ति (जैसा कि हम बल्बूथ तथा तारुक्ष के विषय में पाते हैं), शिक्षा तथा धर्म रहे । कक्षीवान, दीर्घतमस् आदि आर्येतर व्यक्तियों ने आर्य समाज में ऋषि का सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया ।

सम्पूर्ण ऋग्वेद के अधिकांश उल्लेख सामाजिक नि[illegible]ता

के अभाव का दिग्दर्शन कराते हैं, जो व्यवसाय तथा विवाह-सम्बन्धी उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट होता है। कुछ साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य भिन्न-भिन्न कार्यों द्वारा जीवन-यापन करते थे। किसी विशेष व्यवसाय के कारण किसी का सामाजिक स्तर हीन हो जाता हो ऐसा कोई उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है, जब कि परवर्ती कालों में यह प्रवृत्ति दिखायी देने लगती है। विवाह के सम्बन्ध में भी यही उदाहरण दृष्टिगोचर होता है। आर्येतर समाज की स्त्रियां आर्य-ऋषियों से विवाहित हुई। राजकन्यायें पुरोहितों के साथ विवाहित हुई। इस प्रकार के विवाहों के उदाहरण तत्कालीन सामाजिक निरपेक्षता के अभाव के द्योतक हैं।

उत्तर-वैदिक काल में सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भिक विकास दृष्टिगोचर होने लगता है। वर्णों की परम्परा अधिक प्रवीण होने लगी तथा चातुर्वर्ण्य का उदय स्पष्ट होने लगा। इस युग में आर्य सभ्यता के पूर्व की ओर प्रसार की प्रक्रिया निश्चित रूप से दृष्टिगोचर होती है। आर्यों के प्रसरण के फलस्वरूप बदले हुए भौगोलिक परिवेश के सन्दर्भ में उत्पादन के साधनों तथा तकनीकी ज्ञान में कुछ वृद्धि हुई, तथा युद्ध और संघर्ष की अपेक्षा सम्मिलन की प्रवृत्ति अधिक सक्रिय हो उठी। सामाजिक स्तरीकरण के निर्माण में आर्थिक आधारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम चरण में प्राप्त लोहे के ज्ञान से ऐसे उपकरणों का बनना सम्भव हुआ जिससे अधिक जंगली भूमि को कृषियोग्य बनाया गया। फलस्वरूप अधिक अन्न का उत्पादन सम्भव हुआ जिससे वंश (clan) की सम्पत्ति के स्थान पर पारिवारिक सम्पत्ति का महत्व दृष्टिगोचर होने लगता है। उत्पादन के अतिरेक से शिल्प तथा उद्योगों

और व्यापार का अपेक्षाकृत अधिक विकास सम्भव हुआ, यद्यपि कृषि और उद्योगों के मध्य अलगाव इस काल में भी नहीं था । उत्तर-वैदिक साहित्य में काम्पिल्य, परिचक्रा, कौशाम्बी, अयोध्या आदि नगरों का उल्लेख मिलने लगता है । अतिरिक्त उत्पादन, विनिमय, औद्योगिक तथा व्यापारिक विकास ने एक ओर नगरों के उदय को प्रोत्साहित किया तथा दूसरी ओर श्रम-विभाजन की प्रवृत्ति को अपेक्षाकृत गहरा किया जिससे चारो वर्णों (ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) का उदय सम्भव हुआ ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अतिरिक्त चौथे वर्ण के रूप में शूद्र वर्ण का उदय हुआ । इन चारों वर्णों का उल्लेख उत्तर-वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है । स्वयं ब्राह्मण वर्ण में भी ऋत्विक्, अध्वर्यु, उद्गाता आदि विशिष्ट पुरोहित दिखायी देने लगे, जो यज्ञ में अलग-अलग कार्यों के लिये नियुक्त होते थे । वैश्य वर्ग के अन्तर्गत नवीन शिल्पियों तथा व्यवसायियों का उल्लेख मिलने लगता है । शूद्र वर्ण को सेवा-कार्य में नियोजित किया गया । अधिकांश स्थलों पर ब्राह्मणों को क्षत्रिय अथवा राजन्य की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया । सामाजिक स्तरीकरण में क्षत्रियों को द्वितीय तथा वैश्यों को तृतीय स्थान दिया गया । वैश्यों की स्थिति क्षत्रियों से हीन तथा शूद्रों से उच्च बतायी गयी । शूद्रों को चारों वर्णों में सबसे निम्न स्थान प्रदान किया गया । कुछ ऐसे समुदाय भी थे जिनका स्थान शूद्रों से भी हीन था । इनमें निषाद, चण्डाल, पौल्कस का उल्लेख किया जा सकता है । चूंकि समाज की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में इनका नामोल्लेख नहीं मिलता है, इसलिये इन्हें वर्णबाह्य कहना ही अधिक उपयुक्त होगा । दासों की संख्या में वृद्धि हो रही थी । इस काल के अन्तिम चरण में दासों की नियुक्ति कृषि-कार्य

में भी की जाने लगी थी । इसके प्रमाण कुछ श्रौत-सूत्रों में, जिनकी रचना वैदिक काल के अन्तिम चरण में हुई, उपलब्ध होते हैं ।

चार वर्णों वाले समाज के द्विविभाजन (dichotomy) की प्रवृत्ति भी साथ-साथ परिलक्षित होती है, यद्यपि यह द्विभाजन गहरा नहीं था । धार्मिक स्थलों पर एक ओर ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आर्य के रूप में संगठित थे तथा शूद्रों से अलग थे । समाजार्थिक द्विभाजन स्वतन्त्र तथा दास और शासक तथा शासित के मध्य दिखायी पड़ता है । वैश्यों तथा शूद्रों पर प्रभुत्व स्थापित करने में ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को सहयोग किया और दोनों वर्गों ने शासक वर्ग के रूप में वैश्यों के उत्पादन तथा शूद्रों के श्रम का शोषण प्रारम्भ कर दिया ।[1] यदा-कदा स्वयं शासक वर्ग में भी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के मध्य अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाता था, परन्तु अधिकांश स्थलों पर दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही बल दिया गया है ।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रारम्भिक विकास के कारण सामाजिक निश्चलता का अभाव पूर्व-वैदिक काल की अपेक्षा कुछ कम हो गया । लचीलापन कम हो जाने के बावजूद सामाजिक गतिशीलता का अभाव नहीं था । समाज को गति देने में आर्थिक घटक महत्वपूर्ण रहा । लोहे के आयुधों के रूप में संहारक शक्ति का राजन्यों के हाथों में केन्द्रीकरण अपेक्षाकृत व्यापक स्तर पर शासित वर्ग के शोषण का कारण बना । उत्तर-वैदिक काल के अन्तिम चरण में अपेक्षाकृत बड़े राज्यों कुरु और पंचाल का

---

१ देखिये पीछे, अध्याय २, पृ० - ।

उल्लेख मिलने लगता है । उत्पादन के अतिरेक से बलि तथा दक्षिणा के रूप में प्राप्त होने वाला धन ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की समृद्धि का कारण बना । फलस्वरूप उनका स्तर समाज में ऊपर उठने लगा तथा इन प्रथम दो वर्णों तथा वैश्य-शूद्र के मध्य अन्तर बढ़ने लगा । बढ़ते हुए अतिरिक्त उत्पादन तथा वैयक्तिक सम्पत्ति ने धनी तथा निर्धन के मध्य आर्थिक असमानताओं को भी बढ़ा दिया होगा, जिससे सामाजिक गतिशीलता की पृष्ठभूमि तैयार हुई ।

उत्तर-वैदिक युग में वर्गों का स्वरूप स्पष्ट हो चला था । अत: व्यावसायिक गतिशीलता कुछ कम हो गयी । सामाजिक गतिशीलता के प्रवर्तक तत्व के रूप में धर्म तथा शिक्षा का योगदान महत्वपूर्ण रहा । ब्रह्मज्ञान के सन्दर्भ में क्षत्रिय आचार्य तथा ब्राह्मण शिष्यों के प्रसंग उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं । आर्येतर वर्ग के सत्यकाम जाबाल, कवष, रैक्व जैसे व्यक्ति शिक्षा तथा धर्म के कारण आर्य-समाज में सम्मानित हुए । विवाह-सम्बन्धी लचीलापन पूर्व-वैदिक काल की अपेक्षा कम हो गया, परन्तु वर्ग बनने के बावजूद विवाह के माध्यम से कभी एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग में प्रविष्ट हो सकता था । विवाह तथा व्यवसाय के माध्यम से होने वाली गतिशीलता व्यक्ति के सन्दर्भ में प्राप्त होती है ।

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय शताब्दी ईसा-पूर्व के मध्य के काल में सामाजिक स्तरीकरण पूर्णरूप से स्पष्ट हो उठा । इस युग में घटित नवीन भौतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिवर्तनों ने सामाजिक स्तरीकरण के विकास को गति प्रदान की । कृषि के उत्तरोत्तर विकास से उत्पन्न अन्न के अतिरेक ने और आहत सिक्कों के रूप में पहले-पहल

प्रतिष्ठित मुद्राप्रणालों ने व्यापार तथा वाणिज्य के लिये विनिमय का नवीन माध्यम प्रस्तुत किया। अन्न के अतिरेक ने नगरों के विकास में योगदान किया। व्यापार-वाणिज्य, उद्योग-धन्धों, सुप्रतिष्ठित मुद्रा-प्रणाली एवं नगरों के विकास ने व्यापारियों, श्रेष्ठि, गहपतियों तथा महाजनों के समुदाय के उद्भव तथा विकास की आधारशिला निर्मित की जो कृषि और पशुपालन में संलग्न अपने वर्ग के सामान्य सदस्यों की तुलना में धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। विभिन्न पेशेवरों का श्रेणियों के रूप में संगठन इस युग की नवीन देन है। वर्ण-व्यवस्था और अधिक प्रतिष्ठित हुई। जाति का उदय एवं विकास हुआ। जातियों के उदय तथा विकास में आर्थिक कारणों के साथ-साथ राजनीतिक एवं धार्मिक कारण भी थे। इसके अतिरिक्त जन-जातियों का अन्तर्संकरण भी एक कारण के रूप में था। मौर्य-काल में राजनीतिक केन्द्रीकरण के फलस्वरूप बढ़ा हुआ नियमन (control) की शक्ति ने भी जाति-प्रथा के विकास में सहयोग किया होगा।

सामाजिक स्तरीकरण वर्ण-व्यवस्था पर आधारित होने लगा। अलग-अलग जीवन-विधियों तथा सामाजिक-धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित होकर वर्णों का पार्थक्य और स्पष्ट होने लगा। धर्मसूत्रों में वर्णों के कर्तव्यों के क्रमबद्ध वर्णन मिलते हैं। वर्णों को जन्म पर आधारित मानने की प्रवृत्ति भी दिखाई देने लगती है जो जाति-व्यवस्था के विकास के एक पक्ष की द्योतक है। विभिन्न व्यावहारिक तथा धार्मिक विशेषाधिकारों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का अनुक्रम अब अधिक स्पष्ट होने लगा। शूद्रों पर आरोपित निर्योग्यतायें (disabilities) अपेक्षाकृत अधिक बढ़ गयीं। दासों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख पालि-पाठ्य बौद्ध ग्रन्थों तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि दासों

का वर्ग अपेक्षाकृत बड़ा हो गया था । कृषि-कार्य में दासों की नियुक्ति की जाने लगी थी । पर यहाँ उत्पादन-कार्य में दासों की नियुक्ति उतनी नहीं मिलती जितनी यूनान में मिलती है । दासों पर कभी-कभी शारीरिक अत्याचार भी किये जाते थे । बौद्ध धर्म में दासों के प्रति उदार व्यवहार रखने का आदेश दिया गया है । अशोक ने अपने अभिलेख में दासों के प्रति उदार व्यवहार करने का निर्देश दिया है । बहुत सम्भव है कौटिल्य द्वारा अपनाये गये दासों के प्रति उदार दृष्टिकोण में बौद्ध-धर्म का प्रभाव भी एक कारण रहा हो । कुछ व्यावसायिक और जनजातीय समुदाय भी मिश्रित जातियों की अवधारणा के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत लाये गये, तथा अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों के माध्यम से इनकी उत्पत्ति की कल्पना धर्मसूत्रों में की गयी । वास्तव में इन मिश्रित जातियों का उद्भव श्रम-विभाजन के आनुवंशिक तकनीकी विशिष्टीकरण, विजय एवं जन-जातियों के उत्संस्करण के फलस्वरूप, तथा नन्द और मौर्य-काल में राजनीतिक केन्द्रीकरण के फलस्वरूप बढ़ी हुई नियमन की शक्ति से सम्भव हुआ होगा ।

उत्तर-वैदिक काल में मिलने वाले आर्य तथा शूद्र के आनुष्ठानिक द्विविभाजन के स्थान पर अब द्विज तथा शूद्र का द्विविभाजन अधिक मिलने लगता है । चारों वर्णों में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य उपनयन के अधिकारी होने के कारण द्विज कहे जाने लगे । उपनयन का अधिकार न होने के कारण शूद्र उनसे अलग थे । स्वतन्त्र स्वामियों तथा दासों के बढ़ते हुए वर्ग के मध्य का अन्तर गहरा हो चला तथा आर्थिक विकास के फलस्वरूप शासक तथा शासित वर्गों का स्वरूप भी पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होने लगा । शासक वर्ग में शासन तथा युद्ध से सम्बन्धित लोग, पुरोहित तथा सम्पन्न व्यापारी एवं कुछ सम्पन्न शूद्र

भी सम्मिलित रहे होंगे । शासित वर्ग में प्रमुख रूप से सामान्य वैश्य निर्धन तथा अधिकारहीन शूद्र, दास तथा अन्य हीन व्यवसायों द्वारा जीवन-यापन करने वालों के अतिरिक्त कुछ ऐसे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण भी थे जो आर्थिक विपन्नता के कारण स्वधर्मपालन से जीविका चलाने में असमर्थ हो हीन माने जाने वाले व्यवसायों में संलग्न हो गये थे ।

इस काल में सामाजिक गतिशीलता के आर्थिक घटक के कारण धनी सौदागरों, व्यापारियों, भूस्वामियों तथा सेट्ठियों के समुदाय का निर्माण होने लगा । इस समुदाय का निर्माण सम्पत्ति के आधार पर हुआ । इसमें समृद्ध ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, तथा कुछ समृद्ध शूद्र सम्मिलित थे । श्रेणियों का संघटन भी आर्थिक घटक की देन है । श्रेणियों के अध्यक्ष 'जेट्ठक' अथवा 'प्रमुख' की उपाधि से जाने जाते थे । इन्हें राज्य के उच्च पदों पर भी आसीन किया जाता था । आर्थिक विपन्नता के कारण कुछ क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों को हीन व्यवसाय करते हुए देखा जाता है, जो निम्नाभिमुखी सामाजिक गतिशीलता का द्योतक है ।

विवाह के माध्यम से कुछ क्षत्रिय कन्याओं के ब्राह्मण वर्ग में पहुंच जाने, आर्येतर कन्याओं के आर्य-समाज में पहुंच जाने तथा दासियों के वैयक्तिक उत्कर्ष के उदाहरण इस काल में भी उपलब्ध होते हैं । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अन्तर्वर्ण तथा अन्तर्जातीय विवाहों से उत्पन्न बतायी गयी मिश्रित जातियों की अवधारणा के माध्यम से विभिन्न जनजातीय तथा व्यावसायिक समुदाय सामाजिक व्यवस्था में सम्मिलित किये गये । विवाह के माध्यम से सात अथवा पांच पीढ़ियों में जात्युत्कर्ष तथा जात्यपकर्ष की सम्भावना भी धर्मसूत्रों में दिखायी पड़ती है ।

बौद्ध धर्म ने ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। हीनजातीय सदस्यों के उत्कर्ष का अवसर बौद्ध धर्म ने प्रदान किया। संघ में उच्च तथा निम्न सभी समान दृष्टि से देखे जाते थे। धर्माचरण करने से क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, चण्डाल तथा पुक्कुस को देवताओं के समान तथा धर्मोपदेश का अधिकारी बताया गया।

शिक्षा द्वारा व्यष्टिविषयक उत्कर्ष तथा अपकर्ष के उदाहरण धर्मसूत्रों में भी प्राप्त होते हैं। उपनयन शिक्षारम्भ का महत्वपूर्ण चरण था, अतः निर्धारित समय पर उपनयन न होने से पतन की बात कई स्थलों पर दोहराई गयी। वसिष्ठ, बौधायन तथा आपस्तम्ब के अनुसार अनुपनीत द्विज अनुष्ठानों का समुचित पालन न करने के कारण सावित्री-पतित होकर शूद्रवत् हो जाते थे। इनसे उत्पन्न सन्तानों को व्रात्य की संज्ञा दी गयी। उपनयन के कारण होने वाले पतन के लिये की गयी प्रायश्चित्तों की व्यवस्था उपर्युक्त प्रकार के सामाजिक अपकर्ष के अस्थायित्व की द्योतक है। स्थायी पतन उन्हीं लोगों का होता रहा होगा जो निर्धारित प्रायश्चित्त नहीं करते होंगे। इस प्रकार अपकर्षित व्यक्तियों को जातिबहिष्कृत तथा शूद्र के समान बताते हुए उनके साथ खान-पान तथा विवाह-सम्बन्ध का निषेध किया गया।

धर्म की दृष्टि से इस काल में स्त्रियां भी शैक्षिक तथा धार्मिक अधिकारों से वंचित की गयीं। उन्हें इन अधिकारों से वंचित करने की प्रवृत्ति में सामाजिक अपकर्ष का संकेत सन्निहित है। शिक्षा तथा धर्म के कारण यद्यपि स्त्रियों के वैयक्तिक उत्कर्ष के उदाहरण यदा-कदा प्राप्त

हो जाते हैं, परन्तु पूर्व-वैदिक काल की सी स्थिति इस समय नहीं दिखायी नहीं पड़ती । बौद्ध संघ में प्रवेश ही अधिकांश हीनवर्गीय स्त्रियों के उत्कर्ष का माध्यम बनता दिखायी देता है ।

धर्मसूत्रों में महापातकों तथा उपपातकों के अन्तर्गत ऐसे अपराधों का वर्णन मिलने लगता है जिनके कारण व्यक्ति जातिबहिष्कृत कर दिया जाता था अथवा उसका स्तर निम्न हो जाता था । इनमें सुरापान, ब्राह्मण के सुवर्ण का अपहरण, गुरुतल्प, भ्रूणहत्या तथा पतित-संसर्ग की गणना महापातकों में, तथा अग्नि का उपेक्षण, गुरु का अपमान, नास्तिकता, नास्तिकों से जीविकार्जन, सोमविक्रय, शुल्क लेकर किये गये कन्यादान की गणना उपपातकों में की गयी । इन अपराधों के फलस्वरूप होने वाला सामाजिक अपकर्ष भी स्थायी नहीं था । इनके लिये निर्धारित प्रायश्चित करने से व्यक्ति पुनः अपनी स्थिति को प्राप्त कर लेता था ।

कुछ ऐसे अभक्ष्य पदार्थों का उल्लेख भी मिलता है जिन्हें ग्रहण करने से व्यक्ति का सामाजिक अपकर्ष हो जाता था । गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन तथा वसिष्ठ ने निषिद्ध खाद्य पदार्थों के ऊपर पृथक-पृथक प्रकरण अपने-अपने धर्मसूत्रों में नियोजित किये हैं । शूद्र का अन्न ग्रहण करने से ब्राह्मण के अपकर्ष की बात कही गयी है ।

विशेष उल्लेखनीय है इस काल के ग्रन्थों में मिलने वाली स्वधर्मपालन तथा स्वधर्मप्रमाद की अवधारणा । स्वधर्मपालन से अगले जन्म में उत्कर्ष की बात आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्राप्त होती है । आपस्तम्ब के ही मतानुसार स्वधर्म का पालन न करने वालों का अगले जन्म में अपकर्ष

हो जाता था । स्वधर्म पालन अथवा स्वधर्मप्रमाद से इस जन्म में भी व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा पर प्रभाव पड़ता था । गौतम तथा वशिष्ठ के अनुसार यज्ञ की अवज्ञा करने वाले पुरोहित तथा आचार्य को जाति-बहिष्कृत कर दिये जाने का विधान था । वशिष्ठ धर्मसूत्र में यह विचार भी मिलता है कि द्विजाति व्यक्ति यदि वेदाध्ययन नहीं करता था तो वह जीवितावस्था में ही शूद्रत्व प्राप्त कर लेता था ।

स्थानान्तरण के माध्यम से होने वाली भौगोलिक गतिशीलता भी कभी-कभी सक्रिय हो जाती थी । कटाहक जातक में कटाहक नामक दास की कथा मिलती है जो प्रत्यन्त देश में जा कर सेठ की पुत्री से विवाह कर स्वयं भी सेठ बन सुख से रहने लगा था । परन्तु भौगोलिक गतिशीलता स्वय मे सामाजिक गतिशीलता नही थी ।

द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी के मध्य हुए राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक परिवर्तनों ने सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया । विदेशी शासकों के राज्यकाल में रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था को गहरा धक्का पहुंचा और उसकी आधार-शिला हिल गयी। सैद्धान्तिक दृष्टि से यद्यपि अभी भी चार वर्णों का अनुक्रम और उनके लिये विधि-नियमों की व्यवस्था निर्धारित की गयी थी, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनमें अनेक विपर्यय उत्पन्न हो गये थे ।

शूद्रों की स्थिति पहले से अच्छी हो गयी थी । द्विज-शुश्रूषा से जीवन-निर्वाह न होने पर मनु ने उनके लिये विविध शिल्पों द्वारा जीवन-यापन की व्यवस्था की है । याज्ञवल्क्य ने शूद्रों को व्यापार करने की अनुमति प्रदान की । बृहस्पति ने तो शूद्र के लिये विभिन्न वस्तुओं का व्यापार स्वाभाविक कर्म बताया है । इस प्रकार वैश्यों और

शूद्रों के मध्य का अन्तर पहले की अपेक्षा कम होने लगा ।

कलियुग-वर्णन के सन्दर्भ में वर्ण-व्यवस्था का विपर्यय विशेष स्पष्ट हो उठा है । शूद्रों के द्विजों के समान आचार-विचार, रहन-सहन अपना लेने की बात भी कही गयी है । शूद्रों की प्रगति के परिणामस्वरूप द्विज तथा शूद्र के मध्य का विभाजन उलझने अथवा कठिन होने लगा ।

आर्थिक प्रगति एवं मुद्रा-प्रणाली के अधिक प्रचलन के परिणामस्वरूप सम्पत्ति पर आधारित व्यापारियों एवं कारीगरों का समुदाय विशेष समृद्ध हो गया तथा उसने उच्च स्थान प्राप्त किया । अतएव सामाजिक स्तरीकरण का आनुष्ठानिक तथा विश्वासात्मक आधार और सम्पत्ति-सम्बन्धी आधार कुछ हद तक परस्पराच्छादी होने लगे । चूंकि समाज एक व्यामितिक आकार नहीं है, अत: उसमें एक से अधिक वर्गीकरण के आधार का होना आश्चर्य की बात नहीं है ।

प्रस्तुत काल में सामाजिक गतिशीलता पहले की अपेक्षा तीव्र हो जाती है । आर्थिक घटक ने कतिपय व्यक्तियों एवं समुदायों की स्थिति एवं वर्णों के स्वरूप को प्रभावित किया । लोहे के नवीन उपकरणों के माध्यम से अधिक भूमि कृषि-व्यवस्था के अन्तर्गत लायी गयी । अन्न के अतिरेक ने सम्पत्ति की अवधारणा को प्रभावित किया और अब भूमि का विभाजन भी विभिन्न पारिवारिक सदस्यों के मध्य होने लगा । इसके परिणामस्वरूप बड़े परिवार टूट कर छोटे परिवारों में विभाजित होने लगे जिससे बड़ी संख्या में दासों का रख पाना सम्भव नहीं हुआ । बड़ी

संख्या में दास मुक्त होने लगे। इस युग के अन्तिम चरण तक आते-आते उनकी मुक्ति के विशेष उपाय नारदस्मृति में बताये गये। मुक्त किये गये दासों का स्थान समाज में ऊपर उठा। साथ ही शूद्र आर्धिकों का उल्लेख व्यवसाय-विषयक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण चरण है। आर्धिकों के रूप में वे भूमि की आधी उपज के अधिकारी थे। बहुत सम्भव है कि मुक्त हुए दास भी इसी वर्ग में समाहित हो गये होंगे। इनका स्थान स्वयं अपने वर्ग में तथा सम्पूर्ण समाज के ढांचे में भी सम्मानपूर्ण हुआ होगा। इस प्रकार दासों और कर्मकरों के स्थान पर धीरे-धीरे आश्रित कृषकों के वर्ग का उदय होने लगा, जिसका सामाजिक स्तर दासों की अपेक्षा उच्च था। यह एक प्रकार की ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता थी। पर यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकार की सामाजिक गतिशीलता से केवल समाजार्थिक वर्गों का स्वरूप बदलता है, उनके बीच का वर्ग-भेद नहीं समाप्त होता।

वाणिज्यवृत्ति की व्यवस्था के फलस्वरूप कुछ शूद्र भी समृद्ध हो गये होंगे और सेवा-कार्य से विमुख होने लगे होंगे। इस काल के अभिलेखों में उल्लिखित शूद्र शिल्पकारों द्वारा किये गये धर्म-दान उनकी समृद्धि के द्योतक हैं। वृत्ति के माध्यम से सातवें तथा पांचवें जन्म में जात्युत्कर्ष की अवधारणा याज्ञवल्क्य स्मृति में प्राप्त होती है।

राजनीतिक घटक के कारण देशीय शासक वर्ग का कुछ हद तक अपकर्ष हो गया और विदेशी शासकों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। विदेशी शासकों के सहयोग से कुछ शूद्रों ने भी राज्य-व्यवस्था में उच्चपद प्राप्त किये होंगे। राजोपजीवी शूद्रों द्वारा ब्राह्मणों पर अत्याचार किये जाने की बात कूर्म पुराण के कलियुग-वर्णन में कही गयी है।

ब्राह्मणों के कुछ अधिकार छिन गये थे। याज्ञवल्क्य स्मृति में अपराध करने पर उनके लिये राज्य-निर्वासन तथा शरीर दागने का दण्ड निर्धारित किया गया है। इसके पीछे भी बौद्ध धर्म तथा उन विदेशी शासकों का हाथ अधिक रहा होगा जिन्हें ब्राह्मणों की रूढ़िवादी व्यवस्था में विशेष आस्था नहीं थी। राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेने के कारण व्यक्तियों और निम्न कुलों को ऊर्ध्वमुखी सामाजिक गतिशीलता प्राप्त होती है। हीनकुल का होने के बावजूद महापद्मनन्द महान् साम्राज्य का निर्माता बना। कुछ नवीन आर्थिक परिवर्तनों तथा विदेशी आक्रमणों से सामाजिक ढांचे के डगमगा जाने के कारण यह प्रवृत्ति इस काल में विशेष रूप से क्रियाशील हो गयी थी। पुराणों में कहा गया है कि जो हाथी-घोड़े प्राप्त कर लेगा वही राजा हो जायगा।

धर्म तथा शिक्षा ने भी इस युग में सामाजिक गतिशीलता का एक प्रशस्त माध्यम प्रस्तुत किया। बौद्ध धर्म, वैष्णव तथा शैव धर्म ने जहां एक ओर हीनवर्गीय व्यक्तियों के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त किया वहां इन धर्मों को अपना कर कुछ विदेशी भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रविष्ट हुए। शूद्र-याजकों तथा धर्म का उपदेश देने वाले शूद्रों के उल्लेख ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में पहले-पहल उन्हें वेद सुनने का अधिकार दिया गया। इस काल में दान देने तथा चूडाकर्म, कर्णवेधन आदि संस्कारों का अधिकार भी उन्हें प्राप्त हो गया।

पूर्ववर्ती काल के समान विवाह की अवधारणा भी गतिशीलता को सक्रिय बनाने में सहायक रही जिसके माध्यम से कुछ और व्यावसायिक समुदाय तथा जातियां सामाजिक व्यवस्था में समाहित हुईं।

स्वधर्मपालन तथा स्वधर्मप्रमाद की अवधारणा विशेष रूप से सक्रिय हुई जिसके माध्यम से हीन वर्ग को उत्कर्ष का प्रलोभन देकर वर्ग-संघर्ष अथवा वर्ग-टकराव को रोकने का उपाय ढूंढ निकाला गया ।

इस युग में सामाजिक गतिशीलता के कुछ नवीन महत्वपूर्ण पक्ष सामने आते हैं । इनमें से एक वर्गों के टकराव में सन्निहित गतिशीलता है । वर्ग-संघर्ष हीन वर्ग द्वारा अपनी स्थिति के सुधार एवं उत्थान के लिये किये गये प्रयासों का ही क्रियात्मक रूप होता है । अत: वर्ग-संघर्ष में गतिशीलता सदैव प्रच्छन्न रूप से सन्निहित रहती है । जाति-व्यवस्था पर आधारित प्राचीन भारतीय समाज में समाजार्थिक वर्गों का स्पष्ट विकास नहीं हो पाया । पर सामाजिक ढांचे में इस आयाम का अभाव नहीं था, यद्यपि इस प्रकार की वर्गत्व (*classness*) की स्थिति काफ़ी निम्न स्तर की थी । फलस्वरूप बड़े पैमाने पर वर्ग-संघर्ष की स्थिति नहीं मिलती ; जो स्थिति मिलती है उसे हम वर्गों का टकराव कह सकते हैं । वर्ग-टकराव की स्थिति महाभारत तथा पुराणों में वर्णित कलियुग-वर्णन के प्रसंग में विशेष रूप से अनुप्राणित हुई है, `युगान्त उपस्थित होने पर शूद्र द्विजातियों की सेवा नहीं करेंगे`; `शूद्र ब्राह्मणों का विरोध करेंगे` ; `शूद्रों के सताये हुए द्विज भय से पीड़ित होंगे`; आदि वाक्यों से शूद्रों की सशक्त तथा उच्च स्थिति का आभास मिलता है ।

दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष वर्ग-संघर्ष को रोकने के लिये

कल्पित गतिशीलता की अवधारणा है । वर्ग-संघर्ष अथवा वर्गों के टकराव की स्थिति उत्पन्न होने पर हीन वर्ग के लोग खुले रूप में प्राधिकृत वर्ग द्वारा आरोपित निर्योग्यताओं की अवहेलना करना प्रारम्भ कर देते हैं और उच्च वर्ग के अधिकारों को यथासम्भव अधिकृत करने में संलग्न हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में वे कुछ अधिकार संगठित शक्ति के रूप में स्वयं प्राप्त कर लेते हैं और कुछ अधिकार समझौते के रूप में प्राधिकृत वर्ग स्वयं उन्हें देने के लिये बाध्य हो जाता है । वर्गों के टकराव को रोकने के निमित्त ही कल्पित गतिशीलता की अवधारणा मिलती है । इसके अन्तर्गत हीन वर्ग को बिना किसी प्रकार का भौतिक अधिकार दिये ही स्वधर्मपालन तथा नैतिक आचरणों द्वारा अगले जन्म में उत्कर्ष का प्रलोभन दिया गया । इसके अतिरिक्त स्वधर्मप्रमाद के द्वारा अगले जन्म में उच्च वर्ग के अपकर्ष की सम्भावना दिखा कर भी उन्हें सान्त्वना भी प्रदान की गयी ।

तीसरा पक्ष प्रच्छन्न गतिशीलता का है । विभिन्न ग्रन्थकारों ने सामाजिक गतिशीलता का उल्लेख अपने ग्रन्थों में यथासम्भव नहीं किया, क्योंकि उनके सामने सामाजिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय उपस्थित था । परन्तु यत्र-तत्र कुछ ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो बढ़ी हुई सामाजिक गतिशीलता का आभास देते हैं, और जिसे प्रच्छन्न रखने का पूरा प्रयास व्यवस्थाकारों ने किया । आरण्यकपर्व में युधिष्ठिर ने नहुष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्पष्ट कहा है : 'शूद्र में यदि सत्य आदि लक्षण हैं तो वह शूद्र नहीं है और यदि ब्राह्मण में सत्य आदि लक्षण नहीं है तो वह ब्राह्मण नहीं है । जिसमें सत्य आदि लक्षण हों वही ब्राह्मण है और जिसमें इन लक्षणों का अभाव है वह शूद्र है । - - - मनुष्यों में जाति की परीक्षा करना

बहुत कठिन है, क्योंकि इस समय सभी वर्णों का परस्पर सम्मिश्रण हो रहा है। इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से कभी-कभी वर्ण तथा जाति भी बदल जाते रहे होंगे पर रूढ़िवादिता के कारण प्रायः सामाजिक गतिशीलता वर्ण तथा जाति के अन्तर्गत ही होती थी।

जनजातियों के सम्मिश्रण विषयक सामाजिक गतिशीलता की प्रवृत्ति भी उल्लेखनीय है। जनजातियों के कुछ समुदायों को जो चातुर्वर्ण्य की परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट हो गई थीं, 'ब्रह्मक्षत्रप्रसूता:' कहा गया, जो जनजातीय उत्संस्करण का द्योतक है। इसका भी अधिक स्पष्ट उल्लेख प्रायः नहीं मिलता।

विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप द्वितीय शताब्दी ईसा-पूर्व से तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ईसवी के मध्यवर्ती काल में जन्म पर आधारित सामाजिक व्यवस्था को गहरा धक्का पहुंचा, परन्तु वह नष्ट नहीं हुई। विभिन्न वर्णों तथा जातियों के लिये विशेष नियम बना कर तथा कल्पित गतिशीलता की अवधारणा प्रस्तुत कर सामाजिक गतिशीलता को रोकने तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने का पूरा प्रयास किया गया। यही कारण है कि सामाजिक गतिशीलता तथा जाति-प्रथा, दोनों साथ-साथ क्रियाशील दिखायी पड़ती हैं। किन्तु जाति-व्यवस्था के प्रभाव के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता का दायरा और उसकी निरन्तरता (frequency) प्राचीन विश्व के अन्य समाजों की अपेक्षा कम दृष्टिगोचर होती है।

आधार ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ सूची

चुने हुए मूलग्रन्थ और अनुवाद

अंगविज्जा : प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी, १९५७ ।

अंगुत्तरनिकाय : सम्पादक, मोरिस तथा ई० हार्डी, पाली टेक्स्ट सोसायटी, १८८५-१९०० ।

अथर्ववेद-संहिता (शौनकीय शाखा) : स्वाध्याय मण्डल, पार्डी, १९५७ ।

अष्टाध्यायी : सम्पादक, एस० सी० वसु, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२ ।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र : सम्पादक, एम० विन्टरनित्ज़, वियना, १८८७ ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : सम्पादक, बी० व्यूलर, बम्बई संस्कृत सीरीज़, बम्बई, १९३२ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, बी० व्यूलर, मोतीलाल बनारसीदास, १९६५ ।

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र : सम्पादक, आर० गार्बे, कलकत्ता, १८८२ ।

आश्वलायन गृह्यसूत्र : सम्पादक, ए० एफ० स्टेंज़लर, लिपज़िग, १८६४ ।

आश्वलायन श्रौतसूत्र : सम्पादक, आर० विद्यारत्न, कलकत्ता, १८६४-७४ ।

ईशोपनिषद् : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३० ।

उवासगदसाओ : सम्पादक, ए० एफ० रुडोल्फ हार्नले, कलकत्ता, १८९० ।

ऋग्वेद-संहिता : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफ़िस, १९६६ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, आर० टी० एच० ग्रिफ़िथ, बनारस, १९२६ ।

ऐतरेय आरण्यक : सम्पादक, ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९ ।

ऐतरेय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९३१ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरिएन्टल सीरीज़, वाल्यूम २५, रिप्रिन्ट, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ ।

कठोपनिषद् : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई, १९३० ।

काठक संहिता : स्वाध्याय मण्डल, औन्ध, मुम्बई, १९४३ ।

कात्यायन श्रौतसूत्र : सम्पादक, ए० वेबर, लन्दन, १८८५ ।

कूर्मपुराण : संस्कृत संस्थान, बरेली, १९७० ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र : सम्पादक, आर० पी० कांगले, बम्बई, १९६९ ।

कौषीतकि ब्राह्मण : अंग्रेज़ी अनुवाद, ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरिएन्टल सीरीज़, वाल्यूम २५, मोतीलाल बनारसीदास, १९७१ ।

गोपथ ब्राह्मण : सम्पादक, राजेन्द्रलाल मैत्र, इण्डोलौजिकल बुक हाउस, दिल्ली, १९७२ ।

गोभिल गृह्यसूत्र : सम्पादक, सी० के० तारकालंकार, कलकत्ता, १९०८ ।

गौतम धर्मसूत्र : सम्पादक, ए० एफ० स्टेंजलर, लन्दन, १८७६ ।

चुल्लवग्ग : सम्पादक, भिक्षु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, १९५८ ।

छान्दोग्य उपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, १९६४ ।

जातक : सम्पादक, वी० फ़ाउसबोल, वाल्यूम १-७, लन्दन १८७७-९७ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, सम्पादक० कावेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी, १८९५-१९०७ ।

जैमिनीय ब्राह्मण : सम्पादक, रघुवीर और लोकेशचन्द्र, नागपुर, १९५४ ।

तैत्तिरीय आरण्यक : सम्पादक, हरिनारायण आप्टे, पूना, १८९८ ।

तैत्तिरीय उपनिषद : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १९२९ ।

तैत्तिरीय ब्राह्मण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, पूना, १८९८ ।

तैत्तिरीय संहिता : अंग्रेज़ी अनुवाद, ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरिएण्टल सीरीज़, वाल्यूम १८, १९, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ ।

थेरगाथा : सम्पादक, एच० ओल्डेनबर्ग, लन्दन, १८८३ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, रीज़ डेविड्स,लन्दन, १९१३ ।

थेरीगाथा : सम्पादक, एच० ओल्डेनबर्ग, लन्दन, १८८३ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, रीज़ डेविड्स, १९०९ ।

दीघनिकाय : सम्पादक, भिक्षु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट,१९५८ ।

धम्मपद : सम्पादक, राहुल सांकृत्यायन, रंगून, १९३७ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट, वाल्यूम १०, आक्सफोर्ड, १९५० ।

नारद स्मृति : सम्पादक, के० जोली, कलकत्ता, १८८५ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, के० जोली०, सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट, ३३, आक्सफोर्ड, १८८९ ।

निदानकथा : सम्पादक, एन० के० भागवत, बम्बई, १९३५ ।

पंचविंश ब्राह्मण : अंग्रेज़ी अनुवाद, डब्ल्यू० कालेण्ड, एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, कलकत्ता, १९३१ ।

पद्मपुराण : भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८ ।

पारस्कर गृह्यसूत्र : चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस, १९२६ ।

पेतवत्थु : सम्पादक, मिनयेफ़, लन्दन, १८८९ ।

प्रिंसिपल उपनिषद्स : सं० राधाकृष्णन, लन्दन, १९५३ ।

बृहदारण्यकोपनिषद : गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०१२ ।

बृहस्पति स्मृति : सम्पादक, के० वी० रंगस्वामी आयंगर, गायकवाड ओरियण्टल सीरीज़, ८५, बड़ौदा, १९४१ ।

बोधायन गृह्यसूत्र : सम्पादक, आर० शामाशास्त्री, मैसूर, १९२० ।

बौधायन धर्मसूत्र : सम्पादक, ई० हुल्श, लिपज़िग, १८८४ ।

ब्रह्मपुराण : आनन्दाश्रम संस्करण, १८९५ ।

भागवतपुराण : कुम्भकोणम संस्करण, १९१६ ।

मज्झिमनिकाय : सम्पादक, भिक्षु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, १९५८ ।

मत्स्यपुराण : सम्पादक, हरिनारायण आप्टे, पूना, १९०७ ।

मनुस्मृति : सम्पादक, वी० एन० माण्डलिक, बम्बई, १८८६ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, जी० ब्यूलर, सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, २५, आक्सफोर्ड, १८८६ ।

महाभारत : भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १९४४ ।
हिन्दी अनुवाद, गीता प्रेस, गोरखपुर

महावग्ग : सम्पादक, भिक्षु जगदीश कश्यप, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, १९५६ ।

महावस्तु : सम्पादक, ई० सेनार्ट, पेरिस, १८८२-९७ ।

मिलिन्दपञ्हो : सम्पादक, वी० ट्रेंकनर, लन्दन, १९२८ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, रीज़ डेविड्स, सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, ३५-३६, आक्सफोर्ड, १८९०-४ ।

मैत्रायणी उपनिषद् : निर्णय सागर संस्करण, बम्बई ।

याज्ञवल्क्य स्मृति : चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस, संवत् १९८६ ।

रामायण : निर्णय सागर संस्करण, कलकत्ता, १८८१-८२ ।

ललितविस्तर : सम्पादक, पी० एल० वैद्य, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली १, मिथिला इन्स्टीट्यूट आफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ एण्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, दरभंगा, १९५८ ।

लाट्यायन श्रौतसूत्र : सम्पादक, आनन्द चन्द्र वेदान्त वागीश, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८७२ ।

वज्रसूची : सम्पादक तथा अनुवादक, सुजित कुमार मुखोपाध्याय, शान्तिनिकेतन, १९५० ।

वसिष्ठ धर्मसूत्र : सम्पादक, ए० ए० फुहरर, बम्बई, १९१६ ।

वाजसनेयि संहिता (शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता) : निर्णय सागर प्रेस, बम्बई ।

वायुपुराण : सम्पादक, राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८८० ।

वाराह श्रौतसूत्र : सम्पादक, कालैण्ड, लाहौर, १९३३ ।

विनयपिटक : सम्पादक, एच० ओल्डेनबर्ग, वाल्यूम १-५, लन्दन, १८८१-८३ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, आई० बी० हार्नर, लन्दन, १९३८-५२ ।

विष्णुपुराण : संस्कृत-संस्थान, बरेली, १९६७ ।

विष्णु-स्मृति : सम्पादक, जे० जोली, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८८१ ।
अनुवाद, जे० जोली, सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, ७, आक्सफोर्ड, १८८० ।

शतपथ ब्राह्मण : सम्पादक, ए० वेबर, लन्दन, १९२४ ।
अंग्रेज़ी अनुवाद, जे० एगलिंग, आक्सफोर्ड,

शांखायन आरण्यक : सम्पादक, ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड, १९०९ ।

शांखायन श्रौतसूत्र : सम्पादक, हिलेब्रान्ट, कलकत्ता, १८८२ ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् : निर्णय-सागर संस्करण, बम्बई, १९२९ ।

संयुत्तनिकाय : सम्पादक, एम० एल० फीर, वाल्यूम १-४, लन्दन, १८८४-९४। अंग्रेजी अनुवाद, रीज़ डेविड्स, वाल्यूम १-२, एफ० एल० वुडवर्ड, वाल्यूम ३-४, लन्दन, १९१७-१९ ।

सत्याषाढ श्रौतसूत्र : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज़, १९०७ ।

सद्धर्मपुण्डरीक : सम्पादक, एन० दत्त, कलकत्ता, १९५२ । अंग्रेजी अनुवाद, एच० कर्न, सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट, वाल्यूम २१, मोतीलाल बनारसीदास, १९६८ ।

समन्तपासादिका : सम्पादक, तकाकुसु तथा नगई, वाल्यूम १-६, लन्दन, १९२४-४७ ।

सामवेद-संहिता : स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, पार्डी, १९५६ ।

सुयगडम् : सम्पादक, पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९२८ ।

हरिवंश पुराण : भारतीय-ज्ञानपीठ, काशी, १९६२ ।

हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र : सम्पादक, जे० किर्स्टे, वियना, १८८९ ।

कोश

एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज़ ।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ।

वैदिक इंडेक्स आव नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स ।

इण्टरनेशनल एन्साइक्लोपीडिया आव द सोशल साइन्सेज़ ।

अभिलेख तथा सिक्के

कोनो, स्टेन : खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन्स, कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, वाल्यूम २, पार्ट १ ।

टामस, एफ० डब्ल्यू० : एपीग्राफिया इण्डिका, वाल्यूम ,१९०९-१० पृष्ठ लिस्ट ।

ब्राउन, सी० जे० : क्वायन्स आव इण्डिया, कलकत्ता, १६२२ ।
सरकार, डी० सी० : सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स बियरिंग आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, वाल्यूम १, कलकत्ता, १६४२ ।
स्मिथ, वी० ए० : कैटेलॉग आव क्वायन्स इन द इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता, वाल्यूम १, आक्सफोर्ड, १६०६ ।
रैप्सन, ई० जे० : कैटेलॉग आव द क्वायन्स आव द आन्ध्रज एण्ड द वेस्टर्न क्षत्रपज ।

सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अग्रवाल, डी० पी० : द कापर ब्रान्ज एज इन इण्डिया, नई दिल्ली, १६७१ ।
अग्रवाल, वासुदेव शरण : इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि, युनिवर्सिटी आफ लखनऊ, १६५३ ।

पाणिनिकालीन भारतवर्ष, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस,
इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मनु, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी-५, १६७० ।

अल्टेकर, ए० एस० : पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दु सिविलाइजेशन, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १६५६ ।
अल्टेकर, ए० एस० : रिपोर्ट आन कुम्हार एक्सकेवेशन्स, १६५१-५५, के० पी० जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, १६५६ ।
आल्चिन, ब्रिजेट एण्ड रेमण्ड: द बर्थ आव इण्डियन सिविलाइजेशन, पेंगुइन बुक्स, १६६८ ।

आप्टे, वी० एम० : सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन द गृह्यसूत्र,
पापुलर बुक डिपो, बम्बई ७, १९५४ ।

आयंगर,के०वी०रंगस्वामी : ऐस्पैक्ट्स आव द सोशल एण्ड पालिटिकल
सिस्टम आव मनुस्मृति, लखनऊ युनिवर्सिटी,
१९४९ ।

उपाध्याय, भगवतशरण : भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण,
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली -५५, १९४३।

एंगेल्स, फ्रेडरिक : द ओरिजिन आव द फैमिली प्रापर्टी एण्ड द स्टेट,
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई ४, १९४४ ।

ओस्सोस्की, स्टीनिस ला: क्लास स्ट्रक्चर इन द सोशल कान्शसनेस

कारसन,ए०पी० एम० तथा: सोशल मोबिलिटी,
बोन्स, सी० एल० पेंगुइन एजुकेशन, इंग्लैण्ड, १९७५ ।

कार्दोना, जार्ज : इण्डो-यूरोपियन एण्ड इण्डो यूरोपियन्स (पेपर्स
प्रेजेन्टेड एट द थर्ड इण्डो-यूरोपियन कान्फ्रेन्स एट
द युनिवर्सिटी आव पेन्सिलवानिया), युनिवर्सिटी
आव फिलाडेल्फिया, १९७४ ।

कापड़िया, के० एम० : भारतवर्ष में विवाह और परिवार,
अनु० हरिकृष्ण रावत,
मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६९ ।

कीथ, ए० बी० : रिलिजन एण्ड फिलासफी आव वेद एंड उपनिषद्स,
आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९२५ ।
वैदिक धर्म एवं दर्शन, अनु० सूर्यकान्त,
मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६३ ।

केतकर, एस० वी० : द हिस्ट्री आव कास्ट इन इण्डिया,
न्यूयार्क, १९०९ ।

कोन्ज़े, एडवर्ड : बुद्धिज्म, आक्सफोर्ड, १९५३ ।

केल्ले, वी तथा : हिस्टारिकल मटीरियलिज्म :
कोवाल्सन, एम० रेन आउटलाइन आव मार्क्सिस्ट थियरी
आव सोसायटी ; प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को,
१९७३ ।

कोसाम्बी, डी०डी० : ऐन इण्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आव इण्डियन हिस्ट्री,
बम्बई-७, १९५६ ।
द कल्चर एण्ड सिविलाइज़ेशन आव ऐंश्येण्ट इंडिया,
लन्दन, १९६५ ।

कुम्बेकर,बी० डब्ल्यू : द वैदिक सिविलाइज़ेशन, युनिवर्सिटी आव
नागपुर, १९५९ ।

गेरासिमो, आई० पी० : मैन, सोसायटी एण्ड एन्वायरन्मेण्ट,
तथा अन्य प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, १९७५ ।

गोपाल, राम : इण्डिया आव वैदिक कल्पसूत्रज़,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५९ ।

गोपाल,लल्लन जी : इकनामिक लाइफ आव नार्दर्न इण्डिया,
मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६५ ।
डी०डी० कोसम्बी कम्मेमोरेशन वाल्यूम, वाराणसी,
१९७७ ।

घुर्ये, जी० एस० : कास्ट, क्लास एण्ड ऑक्युपेशन,
पापुलर बुक डिपो, बम्बई-७, १९६१ ।

घोष, ए : द सिटी इन अर्ली हिस्टारिकल इण्डिया,
इण्डियन इन्स्टीट्यूट आव ऐडवान्स्ड स्टडी,
शिमला, १९७३ ।

घोषाल, यू० एन० : बिगिनिंग आव हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज़, ग्रेटर इण्डिया सोसायटी, कलकत्ता, १९४४ ।

ए हिस्ट्री आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, वाल्यूम १, कलकत्ता, १९४५ ।

ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन पब्लिक लाइफ, वाल्यूम २, लन्दन, १९६६ ।

स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, ओरियण्ट लांगमैन्स लिमिटेड, कलकत्ता ३, १९६५।

चकलादार, एच० सी० : सोसल लाइफ इन ऐंश्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९५४।

चक्रवर्ती, हरिपद : ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता ६, १९६६।

चट्टोपाध्याय, ए० के० : स्लेवरी इन इण्डिया, कलकत्ता १२ ।

चट्टोपाध्याय, भास्कर : द एज आव द कुषाणाज़ : ए न्युमिस्मैटिक स्टडी, कलकत्ता ४, १९६७ ।

चन्दा, आर० पी० : इण्डो-आर्यन रेसेज़, कलकत्ता, १९१६ ।

चन्द्र, अशोक : इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेशन, लन्दन, १९५८ ।

चाइल्ड, वी० गार्डन : द आर्यन्स : ए स्टडी आव इण्डो-यूरोपियन ओरिजिन्स, न्यूयार्क, १९२६ ।

चौधरी, अभयकान्त : अर्ली मिडीवल विलेज इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, भागलपुर, बिहार, १९७१ ।

चौधरी, आर० के० : व्रात्याज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९६४ ।

चनन, देवराज : स्लेवरी इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६० ।

जायसवाल, के०पी० : हिन्दू पालिटी, दो भाग, कलकत्ता, १९२४ ।

मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, १९३० ।

जायसवाल, सुवीरा : द ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आव वैष्णाविज़्म, ओरियण्टल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, दिल्ली ७, १९६७ ।

जैन, पी० सी० : लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १९७० ।

जैन, रामचन्द्र : द मोस्ट ऐंश्येण्ट आर्यन सोसायटी, राजस्थान, १९६४ ।

जैरज्भाय, आर० ए० : फारेन इन्फ्लुएन्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बम्बई १, १९६३ ।

जोशी, लालमणि : स्टडीज़ इन द बुद्धिस्टिक कल्चर आव इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ ।

झा, द्विजेन्द्रनारायण : रेवेन्यु सिस्टम इन पोस्ट-मौर्यन एण्ड गुप्ता एज, कलकत्ता, १९६७ ।

ऐंश्येण्ट इण्डिया, ऐन इण्ट्रोडक्टरी आउटलाइन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७७ ।

डांगे, एस० ए० : इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्युनिज़्म टु स्लेवरी, बम्बई, १९५९ ।

डेरेट, एम० : रिलिजन, ला एण्ड द स्टेट इन इण्डिया, फ्रेबर एण्ड फ्रेबर लिमिटेड, लन्दन, १९६८ ।

डेविड्स, टी०डब्ल्यू० रीज़ : बुद्धिस्ट इण्डिया, नई दिल्ली, ७, १९७१ ।

डोसेण्ट, डी०के० मिथ्रोपोलस्की तथा अन्य : ऐन आउटलाइन आफ़ सोशल डेवलपमेण्ट पार्ट १, प्रि-कैपिटलिस्ट सोसायटी ।

ड्रेकमेयर, चार्ल्स : किंगशिप एण्ड कम्युनिटी इन अर्ली इण्डिया, बम्बई, १९६२ ।

तिवारी, विमा : फूड्स इन मनु, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ६, १९६३ ।

त्रिपाठी, विमा : द पेंटेड ग्रे वेयर, ऐन आयरन एज कल्चर आव नार्दर्न इण्डिया ; कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, १९७६ ।

थापर, रोमिला : अशोक एण्ड द डिक्लाइन आव द मौर्याज़, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९७३ ।

ए हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम १, पेंगुइन बुक्स, १९७२ ।

दत्त, आर० सी० : अर्ली हिन्दू सिविलाइज़ेशन, कलकत्ता १९६३ ।

दत्त, एन० के० : ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम १,२, कलकत्ता १९६५ ।

दामोदरन, के० : मैन एण्ड सोसायटी इन इण्डियन फिलासफी, नई दिल्ली -५५, १९७० ।

दास, ए० सी० : ऋग्वैदिक इण्डिया, वाल्यूम १, युनिवर्सिटी आव कलकत्ता, १९२१ ।

दास, सन्तोषकुमार : द इकनामिक हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाल्यूम १, कलकत्ता, १९३७ ।

दीक्षितार, वी० आर० रामचन्द्र : वार इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९४८ ।

दुबे, एस० सी० : इण्डियन विलेज, अलायड पब्लिशर्स प्रा० लि०, बम्बई १, १९६७ ।

पार्जिटर, एफ० ई० : ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२ ।

द पुराण टेक्स्ट आव द डायनेस्टीज आव द कलियुग, लन्दन, १९१३ ।

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स आव बुद्धिज़्म, इलाहाबाद, १९५७ ।

बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ, १९६३ ।

पिगट, स्टुअर्ट : प्रि-हिस्टारिक इण्डिया, पेंगुइन बुक्स, १९६१ ।

पुरी, बी० एन० : इण्डिया ऐट द टाइम आव पातञ्जलि, भारतीय विद्या भवन, बम्बई-७, १९५७ ।

इण्डिया अण्डर द कुषाणाज़, १९६५ ।

बन्द्योपाध्याय, नारायणचन्द्र : इकनामिक लाइफ़ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐंश्येण्ट इण्डिया कलकत्ता, १९२५ ।

बनर्जी, ए० सी० : स्टडीज़ इन द ब्राह्मणाज़, मोतीलाल बनारसीदास, १९६३ ।

बनर्जी, एन० आर० : द आयरन एज इन इण्डिया, नई दिल्ली, १९६५ ।

बनर्जी, एस० सी० : धर्मसूत्राज़ : ए स्टडी इन देयर ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट, कलकत्ता-४, १९६५ ।

बनर्जी, जे० एन० : डेवलपमेण्ट आव हिन्दू आइकनोग्रैफी, युनिवर्सिटी आव कलकत्ता, १९५६ ।

बसु, जोगिराज : इण्डिया आव द एज आव द ब्राह्मणाज़, कलकत्ता-६, [illegible] ।

बाजपेयी, के० डी० : सागर थ्रू द ऐजेस, सागर, १९६४ ।

बसु, पी० सी० : इण्डो-आर्यन पालिटी, लन्दन, १९२५ ।

बाटमोर, टी० बी० : एलीट्स एण्ड सोसायटी, पेंगुइन बुक्स, १९७४ ।

बाशम, ए० एल० : द वण्डर दैट वाज़ इण्डिया, लन्दन, १९५४ ।

बुद्ध प्रकाश : स्टडीज़ इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइज़ेशन, आगरा, १९६२ ।

बेलवलकर, एस० के० : हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम २, 'द क्रियेटिव पीरियड', पूना, १९२७ ।

बोस, ए० एन० : सोशल एण्ड रूरल इकनामी आव नार्दर्न इण्डिया, १, २, कलकत्ता- १२, १९४२ ।

बोस, एन० के० : द स्ट्रक्चर आव हिन्दू सोसायटी, ओरियण्ट लांगमैन लिमिटेड, नई दिल्ली, १९७५ ।

बोस, डी० एम० : ए कन्साइज़ हिस्ट्री आव साइन्स इन इण्डिया, नई दिल्ली, १९७१ ।

भण्डारकर, आर० जी० : वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत, अनु० महेश्वरी प्रसाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।

भण्डारकर, डी०आर० : अशोक (हिन्दी), एस० चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, १९७४ ।

भार्गव, पी० एल० : इण्डिया इन द वैदिक एज, लखनऊ १, १९७१ ।

म्योर, जे० : ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, १, लन्दन, १८७२ ।

मजूमदार, आर०सी० : द वैदिक एज, लन्दन, १९५२ ।

क्लासिकल एकाउन्ट्स आव इण्डिया, कलकत्ता, १९६० ।

कारपोरेट लाइफ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता युनिवर्सिटी, १९२२ ।

मजूमदार, डी० एन० : रेसेज़ एण्ड कल्चर्स आव इण्डिया, न्यूयार्क, १९६१ ।

मार्क्स, कार्ल : द पावर्टी आव फिलासफी, मास्को, १९७३ ।
कैपिटल १, २, ३, मास्को, १९७४ ।

मार्शल, जान : तक्षशिला २, कैम्ब्रिज, १९५२ ।

मित्रा, वेद : इण्डिया आव कर्मसूत्र, आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली - ५ ।

मिश्र, जी०एस०पी० : द एज आव विनय, नई दिल्ली, १९७२ ।

मिश्र, योगेन्द्र : ऐन अर्ली हिस्ट्री आव वैशाली, मोतीलाल बनारसीदास, १९६२ ।

मिश्र, रामजन : अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्त्व, इलाहाबाद, १९६८ ।

मिश्र, सुदामा : जनपद स्टेट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९७३ ।

मैक्रिंडल : ऐन्श्येण्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन, लन्दन, १८७७ ।

मुकर्जी, आर० के० : इण्डियन शिपिंग, बम्बई, १९१२ ।

ऐंश्येण्ट इण्डियन एजूकेशन, मोतीलाल बनारसीदास, १९६० ।

लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १९५८ ।

हिन्दू सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५ ।

मुकर्जी, संध्या : सम ऐस्पेक्ट्स आव सोशल लाइफ इन ऐंश्येंट इण्डिया, इलाहाबाद, १९७६ ।

मेयो, हेनरी बी० : इण्ट्रोडक्शन टु मार्क्सिस्ट थ्योरी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९६० ।

मैटी, सचीन्द्रकुमार : इकनामिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया आफ द गुप्ता पीरियड, कलकत्ता, १९५७ ।

मोतीचन्द्र : सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३ ।

यादव, बी०एन०एस० : सोसायटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इण्डिया इन ट्वेल्फ्थ सेन्चुरी, इलाहाबाद, १९७३ ।

राय, बी० चन्द्र : सम ऐस्पेक्ट्स आव एजूकेशन इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, द बाकियार लाइब्रेरी, १९५० ।

राय, उदयनारायण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, इलाहाबाद, १९६५ ।

राय, एस० एन० : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, १९६८ ।

राय, कमल : द अर्बन इकानमी एण्ड प्लान्ड सिटीज इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, भारतीय विद्या प्रकाशन, १९७४ ।

राव, एम०वी० कृष्णा : स्टडीज इन कौटिल्य, दिल्ली ६, १९५८ ।

राव, विजय बहादुर : उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।

रेनो, लुइस : वैदिक इण्डिया, कलकत्ता २, १९५७ ।

रैगोज़िन, ज़ेड ए० : वैदिक इण्डिया, कलकत्ता ६, १९६१ ।

रैप्सन, ई० जे० : द कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम १, दिल्ली, १९६२ ।

कैटलॉग आव द क्वायन्स आव द आन्ध्र डाइनेस्टी, लन्दन, १९०८ ।

छबेड़ा, एम० पी० : गीत-विनियोग आव द मन्त्राज़ आव द ऋग्वेद संहिता, शोधप्रबन्ध, संस्कृत विभाग, युनिवर्सिटी आव इलाहाबाद, अगस्त, १९७२ ।

ला, एन० एन० : स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट हिन्दू पालिटी, वाल्यूम १, कलकत्ता, १९१४ ।

लेविन, बी०एम० बोंगार्ड : स्टडीज़ इन ऐंश्येण्ट एण्ड सेण्ट्रल एशिया, इन्स्टीट्यूट आव ओरियण्टल स्टडीज़, एकेडमी आव सोशल साइन्सेज़, यू० एस० एस० आर०, १९७१ ।

लैण्टीन, बी० : द ओरिजिन आव द इनइक्वैलिटी आव द सोशल क्लासेज़, लन्दन, १९३८ ।

लेपियर, रिचर्ड टी० : सोशल चेन्ज, मैग्रा हिल, कोगा कुशा टोकियो, १९६५ ।

व्हीलर, जे० टैलबायस : ऐंश्येण्ट हिन्दू इण्डिया, द ब्राह्मनिक पीरियड, कलकत्ता-४, १९६१ ।

व्हीलर, मार्टिमर : द इण्डस सिविलाइज़ेशन, कैम्ब्रिज, १९६८ ।

वाग्ले, नरेन्द्र : सोसायटी ऐट द टाइम आव बुद्ध, बम्बई, १९६६ ।

वारमिंग्टन, ई० एच० : द कामर्स बिट्वीन द रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, वाल्यूम १-२ ; कैम्ब्रिज, १९२८ ।

विटफ़ोगेल, कार्ल ए० : ओरियण्टल डेस्पोटिज़्म, आक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन १९५७ ।

विद्यार्थी, एल० पी०तथा राय, बी० के० : द ट्राइबल कल्चर आव इण्डिया, दिल्ली, १९७६ ।

विन्टरनित्ज़, एम० : ए हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, वाल्यूम १-२, युनिवर्सिटी आव कलकत्ता, १९०७ ।

वेदालंकार, हरिदत्त : हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास, लखनऊ, १९७० ।

वेस्टरमार्क, एडवर्ड : ए शार्ट हिस्ट्री आव ह्यूमन मैरेज, लन्दन, १९२६ ।

शर्मा, आर० एस० : शूद्राज़ इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, १९५८ ।
ऐस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, मोतीलाल बनारसीदास, १९५९ ।

लाइट आन अर्ली इण्डियन सोसायटी एण्ड इकानमी, बम्बई, १९६६ ।

इण्डियन फ्यूडेलिज़्म, यूनिवर्सिटी आव कलकत्ता, १९६५ ।

इण्डियन सोसायटी : हिस्टारिकल प्रोबिंग्स इन मेमरी आव डी० डी० कोसम्बी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७४ ।

शर्मा, जी० आर० : एक्सकेवेशन्स ऐट कौशाम्बी (१९५७-५९), इलाहाबाद, १९६० ।

कुषाण स्टडीज़ (सम्पादित)
यूनिवर्सिटी आव इलाहाबाद, १९६८ ।

शास्त्री, दक्षिणा रंजन : औरिजिन एण्ड डेवलपमेन्ट आव ऐन्सेस्टर वर्शिप इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता ६, १९६३ ।

शेरिंग, एम० ए० : हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, वाल्यूम १; कलकत्ता, १८७९ ।

श्रीवास्तव, बी० : ट्रेड एण्ड कामर्स इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, वाराणसी, १९६८ ।

सन्थाना, के० ई० : कास्ट एण्ड आउटकास्ट, बम्बई, १९४६ ।

समद्दार, जे० एन० : लैक्चर्स आन द इकनामिक कंडिशन्स आव इण्डिया, युनिवर्सिटी आव कलकत्ता, १९२२ ।

सरकार, एस० सी० : सम ऐस्पेक्ट्स आव अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, बम्बई, १९२७ ।

सरन, के० एम० : लेबर इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, बम्बई १, १९५७ ।

सिंह, एम० एम० : लाइफ इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया इन प्री-मौर्यन टाइम्स, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७ ।

सिंह, सर्वदमन : ऐंश्येण्ट इण्डियन वारफेयर विद स्पेशल रेफरेन्स टु द वैदिक पीरियड, लीडेन, १९६५ ।

सिन्हा, बिमलकुमार : सोशल स्ट्रक्चर आव इण्डिया, कलकत्ता, २६, १९७४ ।

सिन्हा, बी० पी० : पाटलीपुत्र इन ऐंश्येण्ट इण्डिया, पटना, १९६९ ।

सिन्हा, के० के० : एक्सकेवेशन्स एट श्रावस्ती १९५९, वाराणसी, १९६७ ।

सिल्वरबर्ग, जेम्स : सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया, माउटन, द हाग, १९६८ ।

सेन, मोहित तथा राव, एम० बी० : दास कैपिटल सेन्टीनरी वाल्युम : ए सिम्पोजियम, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

सोरोकिन, पी० ए० : सोशल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी, लन्दन, १९५९ ।

स्पेंगलर, जोसेफ जे० : इण्डियन इकनामिक थाट, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, एन० सी०, १९७१ ।

हटन, जे० : कास्ट इन इण्डिया, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई १, १९६१ ।

हाजरा, आर० सी० : पौराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, युनिवर्सिटी आव ढाका, १९४० ।

हापकिन्स, ई० डब्ल्यू० : सोशल एण्ड मिलिटरी पोजीशन आव रूलिंग कास्ट इन इण्डिया, ओरियण्टल पब्लिशर्स एण्ड बुकसेलर्स, वाराणसी, १९७२ ।

म्युचुअल रिलेशन्स आव द फोर कास्ट एकार्डिंग टु मानवधर्मशास्त्रम्, पब्लिशर्स पार्टनर, दिल्ली, १९७६ ।

हाब्सबाम, ई० जे० : कार्ल मार्क्स : प्री-कैपिटलिस्ट इकनामिक फार्मेशन्स, लारेन्स एण्ड विशार्ट, लन्दन, १९६४ ।

अनुसंधान पत्रिकाएं

इण्डियन आर्कियोलाजि - ए रिव्यु ।

इण्डियन ऐन्टिक्वेरि ।

इण्डियन कल्चर ।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली ।

एनल्स आव द भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।

एपीग्रैफिका इण्डिका ।

जर्नल आव द अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी ।

जर्नल आव इण्डियन हिस्ट्री ।

जर्नल आव आन्ध्र हिस्टारिकल सोसायटी ।

जर्नल आव द इकनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आव द ओरियण्ट ।

जर्नल आव द एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल ।

जर्नल आव द गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट ।

जर्नल आव द न्युमिस्मैटिक सोसायटी आव इण्डिया ।

जर्नल आव द बाम्बे ब्रान्च आव द रायल एशियाटिक सोसायटी ।

जर्नल आव द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी ।

प्रोसीडिंग्स आव द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस ।

मेमायर्स आव द आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया ।

संकेत- ग्रन्थसूची

अंगु० नि० : अंगुत्तरनिकाय

अथर्व० : अथर्ववेद-संहिता

अर्थ० : अर्थशास्त्र

आप० गृ० सू० : आपस्तम्ब गृह्यसूत्र

आप० ध० सू० : आपस्तम्ब धर्मसूत्र

आप० श्रौ० सू० : आपस्तम्ब श्रौतसूत्र

आश्व० गृ० सू० : आश्वलायन गृह्यसूत्र

आश्व० श्रौ० सू० : आश्वलायन श्रौतसूत्र

ऋ० : ऋग्वेद-संहिता

ऐत० आ० : ऐतरेय आरण्यक

ऐत० ब्रा० : ऐतरेय ब्राह्मण

का० सं० : काठक संहिता

कात्या० श्रौ० सू० : कात्यायन श्रौतसूत्र

कौषी० ब्रा० : कौषीतकि ब्राह्मण

गो० ब्रा० : गोपथ ब्राह्मण

गो० गृ० सू० : ब गोभिल गृह्यसूत्र

गौ० ध० सू० : गौतम धर्मसूत्र

छां० उप० : छान्दोग्य उपनिषद्

जा० : जातक

जै० उप० ब्रा० : जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण

जै० ब्रा० : जैमिनीय ब्राह्मण

तांड्य० महाब्रा० : तांड्य महाब्राह्मण

तै० आ० : तैत्तिरीय आरण्यक

तै० ब्रा० : तैत्तिरीय ब्राह्मण

तै० सं० : तैत्तिरीय संहिता

दी० नि० : दीघनिकाय

नारद० : नारद स्मृति

पंच० ब्रा० : पंचविंश ब्राह्मण

पद्म० पु० : पद्म पुराण

पा० गृ० सू० : पारस्कर गृह्यसूत्र

पु० : पुराण

पृ० : पृष्ठ

बृ० उप० : बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहस्पति० : बृहस्पति स्मृति

ब्र० पु० : ब्रह्माण्ड पुराण

बौ० : बौधायन धर्मसूत्र

भविष्य० पु० : भविष्य पुराण

म० नि० : मज्झिमनिकाय

मनु० : मनुस्मृति

मार्क० पु० : मार्कण्डेय पुराण

मिलिन्द० : मिलिन्दपञ्हो

मै० उप० : मैत्री उपनिषद्

मै० सं० : मैत्रायणी संहिता

यजु० : यजुर्वेद-संहिता

याज्ञ० : याज्ञवल्क्य स्मृति

युग पु० : युगपुराण

ला० श्रौ० सू० : लाट्यायन श्रौतसूत्र

वशि० ध० सू० : वशिष्ठ धर्मसूत्र

वा० श्रौ० सू० : वाराह श्रौतसूत्र

वाज० सं० : वाजसनेयि संहिता

वि० पु० : विष्णु पुराण

विष्णु : विष्णु-स्मृति

शत० ब्रा० : शतपथ ब्राह्मण

शां० आ० : शांखायन आरण्यक

शां० श्रौ० सू० : शांखायन श्रौतसूत्र

सं० : संख्या, सम्पादक

सं० नि० : संयुक्त निकाय

सत्या० श्रौ० सू० : सत्याषाढ श्रौतसूत्र

सै० बु० ई० : सैक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट

हरिवंश-पु० : हरिवंश पुराण